इकाई-१

जैन इतिहास और संस्कृति

संसार के विविध विषयों में इतिहास का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। विचारकों द्वारा इतिहास को धर्म, देश, जाति, संस्कृति और सभ्यता का प्राण माना गया है। जिस धर्म, देश, संस्कृति और सभ्यता का इतिहास जितना अधिक समुन्नत और समृद्ध होता है, उतना ही वह धर्म, समाज और देश उत्तरोत्तर प्रगति पथ पर अग्रसर होता है। इतिहास मानव की वह प्रेरणा है, जिससे अनुप्राणित होकर मानव प्रगति की दिशा में आगे बढ़ सकता है और अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है। इस प्रथम इकाई में जैन इतिहास और संस्कृति का विवेचन किया गया है।

१. जैन धर्म का स्वरूप

जैन शब्द का अर्थ

जैन शब्द का मूल उद्‌गम 'जिन' शब्द है। 'जिन' शब्द 'जिं-जये' धातु से निष्पन्न है, जिसका शाब्दिक अर्थ है – जीतने वाला। 'जिन' को परिभाषित करते हुए लिखा गया – **रागद्वेषादिदोषान् कर्मशत्रुंजयतीति जिनः। तस्यानुयायिनो जैनः** – राग-द्वेषादि दोषों और ज्ञानावरणीय आदि घातिकर्म-शत्रुओं को जो जीतता है, वह 'जिन' कहलाता है। 'जिन' भगवान द्वारा प्रतिपादित धर्म 'जैन धर्म' कहलाता है तथा उस धर्म के मार्ग पर चलने वाला उनका अनुयायी 'जैन' कहलाता है।

जैन धर्म के प्रवर्तक

जैन धर्म के प्रवर्तक 'जिन' होते हैं। 'जिन' शब्द के भी अनेक अर्थ हैं, यथा –अतीन्द्रिय ज्ञानी, राग-द्वेष विजेता आदि। जैन धर्म के अनुसार धर्म-प्रवर्तक की योग्यता के लिए दो कसौटियाँ हैं –वीतरागता और केवलज्ञान। जो वीतराग है, वह केवलज्ञानी हो, यह आवश्यक नहीं है। किन्तु जो केवलज्ञानी है, वह वीतराग होगा ही, यह आवश्यक है। सभी केवलज्ञानी धर्म के प्रवर्तक नहीं होते, जो केवलज्ञानी तीर्थंकर होते हैं, वे ही धर्म के प्रवर्तक होते हैं।

जैन धर्म विश्व के प्राचीनतम धर्मों में से एक है। चिन्तकों के मतानुसार सृष्टिक्रम की दृष्टि से इस धर्म को 'अनादि' माना जा सकता है, किन्तु व्यवहार में युग-परिवर्तन के साथ-साथ उसके प्रवर्तक भी बदलते रहते हैं। वर्तमान कालचक्र के अनुसार जैन धर्म के प्रवर्तकों की सूची में पहला नाम है – तीर्थंकर ऋषभ का और चौबीसवां नाम है – तीर्थंकर महावीर का।

तीर्थंकर वह कहलाता है, जो धर्म तीर्थ का प्रवर्तन करता है। इस परिभाषा के अनुसार प्रत्येक तीर्थंकर धर्म का प्रवर्तक है। कोई भी तीर्थंकर किसी दूसरे तीर्थंकर का शिष्य या उत्तराधिकारी नहीं होता है। वह स्वयं धर्म का आदिकर और प्रवर्तक होता है।

यह एक भ्रान्त धारणा है कि भगवान महावीर ने जैन धर्म का प्रवर्तन किया। सच तो यह है कि ऋषभ से लेकर महावीर तक प्रत्येक तीर्थंकर ने धर्म का प्रवर्तन किया है। हम यह कह सकते हैं कि वर्तमान में जो धर्मशासन चल रहा है, वह तीर्थंकर महावीर का है किन्तु इस आधार पर जैन धर्म के आदि बिन्दु को महावीर तक सीमित नहीं किया जा सकता, उससे पहले भी इसका अस्तित्व था।

जैन धर्म : सार्वभौम धर्म

जैन धर्म का मूल आधार है – जिन-प्रवचन। जिस प्रकार विष्णु को उपास्य मानने वाले वैष्णव, शिव के उपासक शैव, बुद्ध के उपासक बौद्ध और ईसा के उपासक ईसाई कहलाते हैं, उसी प्रकार 'जिन' के उपासक जैन कहलाते हैं। विष्णु, शिव, बुद्ध और ईसा की भांति 'जिन' किसी व्यक्ति-विशेष का नाम नहीं है। वे सभी महापुरुष, जिन्होंने राग-द्वेष को जीत लिया है, जिनके ज्ञान, दर्शन, चारित्र और शक्ति के आवारक तत्त्व नष्ट हो चुके हैं, चैतन्य का परम स्वरूप प्रकट हो चुका है, 'जिन' कहलाते हैं। इस प्रकार जैन दर्शन में 'जिन' बनने का अधिकार किसी व्यक्ति विशेष या धर्म-सम्प्रदाय तक सीमित नहीं, अपितु उन सभी को है, जो उपर्युक्त अर्हता को प्राप्त कर चुके हों।

जैन धर्म मूलतः आत्मवादी धर्म है, इसका सारा चिन्तन आत्मा को केन्द्र में रखकर ही होता है। इसमें आत्म-गुणों की पूजा की जाती है, किसी व्यक्ति की नहीं। जैन धर्म का मूल मंत्र नमस्कार महामंत्र है, जिसमें किसी व्यक्ति को नहीं अपितु उनके गुणों को नमस्कार किया गया है। यह महामंत्र इस प्रकार है –

१. णमो अरहंताणं – अरहन्तों को नमस्कार हो।
२. णमो सिद्धाणं – सिद्धों को नमस्कार हो।
३. णमो आयरियाणं – आचार्यों को नमस्कार हो।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

४. णमो उवज्झायाणं – उपाध्यायों को नमस्कार हो।

५. णमो लोए सव्व साहूणं – लोक के सब साधुओं को नमस्कार हो।

इस नमस्कार महामंत्र में अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पांचों को नमस्कार किया गया है। ये पांचों व्यक्ति विशेष नहीं अपितु गुणों से विशिष्ट पद हैं। चार घाति कर्मों का क्षय करने वाले अरहन्त कहलाते हैं। आठों कर्मों का नाश करने वाले सिद्ध कहलाते हैं। तीर्थंकर (अरहन्त) के प्रतिनिधि आचार्य कहलाते हैं। आगमों का अध्ययन करने और कराने वाले उपाध्याय कहलाते हैं तथा जो गृहस्थ जीवन त्यागकर पांच महाव्रतों का पालन करते हैं, वे साधु कहलाते हैं। साधना का उद्देश्य कर्म शत्रुओं का नाश कर आत्मगुणों को विकसित करना है। ये सभी आत्मगुणों को विकसित करने की साधना करते हैं। इससे यह सहज ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जैन धर्म में व्यक्ति को नमस्कार नहीं किया जाता, अपितु गुणों को नमस्कार किया जाता है।

महापुरुष अवतार नहीं लेते

कुछ लोगों की यह अवधारणा है कि महापुरुष ईश्वर के अवतार होते हैं। गीता में कहा गया –

यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारतः। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे॥

जब-जब पृथ्वी पर धर्म की हानि होती है तब-तब महापुरुष अवतार लेते हैं। जैन दर्शन अवतारवाद में विश्वास नहीं करता। उसके अनुसार तीर्थंकर एक सामान्य बालक के रूप में ही जन्म लेता है और अपने पुरुषार्थ से चार घाति कर्मों का क्षय कर, तीर्थ की स्थापना कर, तीर्थंकर पद को प्राप्त करता है और फिर शेष चार अघाति कर्मों का क्षय कर सिद्धत्व पद को प्राप्त करता है। सिद्ध बनने के बाद उसका संसार में आवागमन का चक्र समाप्त हो जाता है। वह अजर-अमर, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो जाता है। उसे शरीर धारण नहीं करना पड़ता। जैन दर्शन के अनुसार शरीर 'नामकर्म' के उदय से मिलता है। सिद्धों के आठों कर्मों का नाश हो जाता है, अतः शरीर धारण करने के लिए कोई अवकाश ही नहीं रहता। जैसा कि कहा भी है –

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवति नांकुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवांकुरः॥

जिस प्रकार पूर्णरूपेण जले हुए बीज से अंकुर उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार कर्म रूपी बीज के पूरी तरह दग्ध (नष्ट) हो जाने पर पुनः जन्म नहीं होता। अतः जैन दर्शन अवतारवाद में विश्वास नहीं करता।

जैन दर्शन के अनुसार कालचक्र के अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी दोनों भागों में २४-२४ तीर्थंकर होते हैं। यह कालचक्र अनादिकाल से चल रहा है। अतः तीर्थंकर की परम्परा भी अनादि है। वर्तमान अवसर्पिणी काल में ऋषभ से लेकर महावीर तक २४ तीर्थंकर हुए हैं।

जैन धर्म-दर्शन की मौलिक विशेषताएँ

जैन दर्शन की अनेक मौलिक विशेषताएँ हैं। उनमें से कुछ विशेषताएँ निम्नलिखित हैं –

१. अनेकान्त – अनेकान्त जैन दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है। अनेकान्त का अर्थ है – प्रत्येक वस्तु में अनेक विरोधी धर्मों का सह-अस्तित्व होता है अतः वस्तु के किसी एक पक्ष को देखकर उसे ही पूर्ण सत्य मत समझो अपितु अपेक्षाभेद से उन सभी धर्मों को समझने का प्रयास करो।

२. अहिंसा – अहिंसा का शाब्दिक अर्थ है – किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करना। सामान्यतः जान से मार देने को ही हिंसा माना जाता है। जैन दर्शन में अहिंसा का सूक्ष्म विवेचन करते हुए कहा गया – 'किसी प्राणी के प्राणों का हनन कर देना ही हिंसा नहीं अपितु किसी के विषय में मन से बुरा सोचना और वचन से बुरा बोलना भी हिंसा है। मन, वचन, काया की शुभ प्रवृत्ति अहिंसा है।

३. अपरिग्रह – सामान्यतः धन-धान्य, सोना-चांदी, पशु-पक्षी आदि पदार्थ परिग्रह और इनका त्याग करना अपरिग्रह कहलाता है। जैन दर्शन के अनुसार पदार्थ का होना परिग्रह और पदार्थ का न होना अपरिग्रह नहीं, अपितु पदार्थ के प्रति मूर्च्छा-आसक्ति का होना परिग्रह और आसक्ति का नहीं होना अपरिग्रह है।

४. आत्मकर्तृत्ववाद – जैन दर्शन आत्मकर्तृत्ववादी है। उसके अनुसार सुख-दुःख, बंधन-मोक्ष – ये सब आत्मकृत हैं, ईश्वरकृत नहीं। व्यक्ति जैसा कर्म-पुरुषार्थ करता है, वैसा ही फल प्राप्त करता है।

५. साम्यवाद – जैन दर्शन के अनुसार एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक जगत् के सभी प्राणी स्वाभाविक शक्तियों की अपेक्षा समान हैं। उनमें जो भिन्नता दिखलाई देती है, उसका कारण कर्म का आवरण है।

६. ज्ञान-क्रिया का समन्वय – जैन दर्शन के अनुसार रत्नत्रय – सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र – इन तीनों का समन्वय ही मोक्षमार्ग

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

है। कोरा ज्ञान या आचरण व्यक्ति को लक्ष्य तक नहीं पहुंचाता। ज्ञान के साथ क्रिया-आचरण का योग होने पर ही लक्ष्य-प्राप्ति संभव है।

७. परमात्म-पद – जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा में परमात्मा बनने की अर्हता-योग्यता है। परमात्मा कोई एक नियत व्यक्ति ही नहीं होता, प्रत्येक आत्मा अपने पुरुषार्थ से परमात्म-पद को प्राप्त कर सकता है।

८. मानव जाति की एकता – एक्का मणुस्स जाइ, मनुष्य जाति एक है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में जातिगत भेद नहीं है। कार्य के आधार पर मनुष्य ने अपनी सुविधा के लिए यह विभाजन किया था। इसके आधार पर किसी को ऊँच-नीच मानना उचित नहीं है।

इस प्रकार विचार में अनेकान्त, आचार में अहिंसा और व्यवहार में अपरिग्रह जहाँ जैन धर्म की मौलिक विशेषता है, वहीं आत्मकर्तृत्ववाद, साम्यवाद, रत्नत्रय, परमात्म-पद और मानव जाति की एकता में विश्वास आदि भी जैन दर्शन की मौलिक अवधारणाएँ हैं।

२. जैन धर्म की प्राचीनता

प्रवाह की दृष्टि से जैन धर्म अनादि है। समय का चक्र अनादिकाल से अबाधगति से चल रहा है। उसका प्रभुत्व सब पर है। चेतन और अचेतन – सब उससे प्रभावित हैं। धर्म भी इसका अपवाद नहीं है। धर्म शाश्वत होता है, पर उसकी व्याख्या समय के साथ बदलती रहती है। वर्तमान में जैन धर्म का उद्‌भव भगवान ऋषभ से माना जाता है। कुछ विद्वान इसे वैदिक धर्म की शाखा, तो कुछ इसे बौद्ध धर्म की शाखा मानते हैं। पर वर्तमान में हुए शोध-अनुसंधानों से ज्ञात होता है कि यह न वैदिक धर्म की शाखा है और न बौद्ध धर्म की शाखा है। यह एक स्वतंत्र धर्म है। जैन धर्म वैदिक धर्म की शाखा नहीं है, क्योंकि वैदिक मत में वेद सबसे प्राचीन माने जाते हैं। विद्वान वेदों को ५००० वर्ष प्राचीन मानते हैं। वेदों में ऋषभ, अरिष्टनेमि आदि श्रमणों का उल्लेख मिलता है। वेदों के पश्चात् उपनिषद, आरण्यक, पुराण आदि में भी इनका वर्णन आया है। यदि इन ग्रन्थों की रचना से पूर्व जैन धर्म न होता, भगवान ऋषभ न होते, तो उनका उल्लेख इन ग्रन्थों में कैसे होता? इससे ज्ञात होता है कि जैन धर्म वैदिक धर्म से अधिक प्राचीन है।

जैन धर्म बौद्ध धर्म की भी शाखा नहीं है अपितु उससे प्राचीन है। जैन धर्म के प्रवर्तक भगवान महावीर हैं, यह भ्रान्त दृष्टिकोण ही इसे बौद्ध धर्म की शाखा मानने का कारण रही है। पर अब इस विषय में हुए शोधों से यह स्पष्ट हो गया कि भगवान महावीर से पूर्व भी जैन धर्म का अस्तित्व था।

डॉ. हर्मन जेकोबी ने अपने ग्रन्थ 'जैन सूत्रों की प्रस्तावना' में इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। आज पार्श्वनाथ जब पूर्णत: ऐतिहासिक पुरुष सिद्ध हो चुके हैं तब भगवान महावीर से जैन धर्म का शुभारम्भ मानना निरर्थक ही है। जेकोबी लिखते हैं ''इस बात से अब सब सहमत हैं कि नातपुत्त जो वर्धमान अथवा महावीर नाम से प्रसिद्ध हुए, वे बुद्ध के समकालीन थे। बौद्ध ग्रन्थों में मिलने वाले उल्लेख हमारे इस विचार को और दृढ़ करते हैं कि नातपुत्त से पहले भी निर्ग्रन्थों का जो आज आर्हत या जैन नाम से प्रसिद्ध हैं –अस्तित्व था।''

यह सत्य है कि 'जैन धर्म' इस शब्द का प्रयोग वेदों में, त्रिपिटकों में और आगमों में देखने को नहीं मिलता, जिसके कारण भी कुछ लोग जैन धर्म को प्राचीन न मानकर अर्वाचीन मानते हैं। प्राचीन साहित्य में 'जैन धर्म' का नामोल्लेख न मिलने का कारण यह था कि उस समय तक इसे जैन धर्म के नाम से जाना ही नहीं जाता था। भगवान महावीर के पश्चात् 'जैन धर्म' इस नाम का प्रयोग सर्वप्रथम जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने अपने विशेषावश्यक भाष्य में किया। उसके बाद उत्तरवर्ती साहित्य में 'जैन' शब्द व्यापक रूप से प्रचलित हुआ। ऋषभ से लेकर महावीर तक इसके प्राचीनतम नाम जो हमें उपलब्ध होते हैं, वे हैं श्रमण, निर्ग्रन्थ, आर्हत, व्रात्य आदि।

जैन धर्म का मुख्य उद्देश्य है – सत्य का साक्षात्कार करना। सत्य की उपलब्धि में प्राचीन और नवीन का कोई महत्त्व नहीं होता। जिसके द्वारा आत्म-साक्षात्कार हो सके, उसी का महत्त्व होता है, फिर चाहे वह प्राचीन हो या अर्वाचीन। पर इतिहास की दृष्टि में प्राचीन और अर्वाचीन का महत्त्व होता है। प्राप्त प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जैन धर्म प्राग्‌वैदिक है। जैन धर्म के प्राचीन होने की संपुष्टि हम दो तथ्यों के आधार पर कर सकते हैं – १. साहित्य के आधार पर, २. पुरातत्त्व के आधार पर।

साहित्य के आधार पर

भारतीय साहित्य में वेद सबसे प्राचीन माने जाते हैं। वेदों में तथा उनके पार्श्ववर्ती ग्रन्थों में प्रयुक्त शब्द, यथा –श्रमण, केशी, व्रात्य, अर्हत, निर्ग्रन्थ आदि जैन धर्म की प्राचीनता को सिद्ध करते हैं।

*** श्रमण** – ऋग्वेद में 'वातरशन मुनि' शब्द का प्रयोग मिलता है। ये अर्हत् ऋषभ के ही शिष्य हैं। श्रीमद्‌भागवत् में ऋषभ को श्रमणों के धर्म का प्रवर्तक बताया गया है। उनके लिए श्रमण, ऋषि, ब्रह्मचारी आदि विशेषण प्रयुक्त किये गए हैं। वातरशन शब्द भी श्रमणों का सूचक है। **'वातरशना ह वा ऋषभ: श्रमणा उर्ध्वमन्थिनो बभूवु:'** तैत्तिरीयारण्यक और श्रीमद्‌भागवत द्वारा इस तथ्य की पुष्टि होती है। वहां वातरशना मुनियों को श्रमण और उर्ध्वमन्थी कहा गया है। श्रमण शब्द का उल्लेख वृहदारण्यक उपनिषद और रामायण आदि में भी होता रहा है।

*** केशी** – ऋग्वेद के जिस प्रकरण में वातरशन मुनि का उल्लेख है, उसी में केशी की स्तुति की गई है –

केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते ॥

अर्थात् केशी अग्नि, जल तथा स्वर्ग और पृथ्वी को धारण करता है। केशी समस्त विश्व के तत्त्वों का दर्शन कराता है। केशी ही प्रकाशमान ज्योति (केवलज्ञानी) कहलाता है। यह केशी भगवान ऋषभ का वाचक है। उनके केशी होने की परम्परा जैन साहित्य में आज भी उपलब्ध है। उल्लेख मिलता है, वे जब मुनि बने तब उन्होंने चार मुष्टि-लोच कर लिया। दोनों पार्श्व भागों का केश लोच करना बाकी था तब देवराज शक्रेन्द्र ने ऋषभ से कहा – इन सुन्दर केशों को इसी प्रकार रहने दें। ऋषभ ने उनकी बात मानी और उसे वैसे ही रहने दिया। इसलिए उनकी मूर्ति के कंधों पर आज भी केशों की वल्लरिका की जाती है। घुंघराले और कंधों पर लटकते बाल उनकी प्रतिमा के प्रतीक हैं।

✱ **व्रात्य** – वैदिक साहित्य में व्रात्य संस्कृति एवं उसके तपस्वियों के उल्लेख आए हैं, जिनका विशेष संबंध श्रमण संस्कृति से होना चाहिए। व्रतों का आचरण करने के कारण वे व्रात्य कहे जाते थे। संहिता काल में व्रात्यों को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। ऋग्वेद में व्रात्यों की प्रशंसा में अनेक मंत्रों की रचना की है। व्रात्यों की यह प्रशंसा ऋग्वेद से लेकर अथर्ववेद काल तक प्राप्त होती है। अथर्ववेद में तो स्वतंत्र **'व्रात्य सूक्त'** की रचना मिलती है। व्रात्य सूक्त के १५वें काण्ड में २२० मंत्रों द्वारा व्रात्यों की स्तुति की गई है।

ऋषभदेव की स्तुति करते हुए दो मंत्रों में उनके प्रजापति रूप और महादेव रूप की प्रशंसा इस प्रकार की गई है – ''व्रात्य राजा हुआ, उसने राज्य धर्म का प्रारम्भ किया। प्रजा, बंधु-बान्धव और प्रजातंत्र सभी का उसी से उदय हुआ। व्रात्य ने सभा, समिति, सेना आदि का निर्माण किया। व्रात्य ने फिर तप से आत्म-साक्षात्कार किया और महादेव बन गया।''

✱ **अर्हन्** – वातरशन, मुनि आदि के समान ऋग्वेद में जैनों के लिए अर्हत् शब्द का प्रयोग भी हुआ है। जो अर्हत् के उपासक थे वे आर्हत् कहलाते थे। अर्हन् शब्द श्रमण संस्कृति का बहुत प्रिय शब्द है। वे अपने तीर्थंकरों या वीतराग आत्माओं को अर्हन् कहते हैं। ऋग्वेद में अर्हन् शब्द का प्रयोग श्रमण नेता के लिए ही हुआ है –

अर्हन् विभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम्।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति ॥

ऋग्वेद में प्रयुक्त अर्हन् शब्द से यह प्रमाणित होता है कि श्रमण संस्कृति ऋग्वैदिक काल से पूर्ववर्ती है।

यजुर्वेद में तीन तीर्थंकरों ऋषभदेव, अजितनाथ एवं अरिष्टनेमि के नामों का उल्लेख है। भागवत्पुराण भी इस बात का समर्थन करता है कि ऋषभ जैन मत के संस्थापक थे। इस प्रकार साहित्य में उपलब्ध ये साक्ष्य जैन धर्म की प्राचीनता को सिद्ध करते हैं।

पुरातत्त्व के आधार पर

पुरातत्त्ववेत्ता भी अब इस बात को स्वीकार करने लगे हैं कि भारत में वैदिक सभ्यता का जब प्रचार-प्रसार हुआ, उससे पहले यहां जो सभ्यता थी, वह अत्यन्त समृद्ध एवं समुन्नत थी। प्राग्वैदिक काल का कोई साहित्य नहीं मिलता। किन्तु पुरातत्त्व की खोजों और उत्खनन के परिणामस्वरूप कुछ नये तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है। सन् १९२२ में और उसके बाद मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा की खुदाई भारत सरकार की ओर से की गई थी। इन स्थानों पर जो पुरातत्त्व उपलब्ध हुआ है, उससे तत्कालीन भारतवासियों के रहन-सहन, खान-पान, रीति-रिवाज और धार्मिक विश्वासों पर प्रकाश पड़ता है। इन स्थानों पर यद्यपि कोई देवालय-मंदिर नहीं मिले हैं, किन्तु वहां पाई गई मुहरों, ताम्रपत्रों तथा पत्थर की मूर्तियों से उनके धर्म का पता चलता है।

मोहन-जो-दड़ो में कुछ ऐसी मुहरें मिली हैं, जिन पर योगमुद्रा मे योगी-मूर्तियाँ अंकित हैं। एक ऐसी मुहर भी प्राप्त हुई, जिसमें एक योगी कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यानलीन है। उसके सिर के ऊपर त्रिशूल है। वृक्ष का एक पत्ता मुख के पास है। योगी के चरणों में एक भक्त करबद्ध नमस्कार कर रहा है। उस भक्त के पीछे वृषभ खड़ा है। वृषभ के ऊपर वृक्ष है। नीचे सामने की ओर सात योगी कायोत्सर्ग की मुद्रा में भुजा लटकाये ध्यान-मग्न हैं। प्रत्येक के मुख के पास वल्लरी के पत्र लटक रहे हैं।

विद्वान उक्त मुहर की व्याख्या इस प्रकार करते हैं – भगवान ऋषभदेव कायोत्सर्ग में ध्यानारूढ़ खड़े हैं। कल्पवृक्ष हवा में हिल रहा है और उसका एक पत्ता भगवान के मुख के पास डोल रहा है। उनके सिर पर सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र यह त्रिरत्न रूप त्रिशूल है। सम्राट भरत भगवान के चरणों में भक्ति से झुककर आनन्दाश्रुओं से उनके चरण-प्रक्षालन कर रहे हैं। उनके पीछे ऋषभ लांछन है। नीचे सात मुनि भगवान का अनुसरण करके कायोत्सर्ग की मुद्रा में ध्यानलीन हैं। जो चार हजार व्यक्ति ऋषभ के साथ मुनि बने थे, उन्हीं के प्रतीकस्वरूप ये सात मुनि हैं। ये भी कल्पवृक्ष के नीचे खड़े हुए हैं और उनके मुख के पास भी पत्ता हिल रहा है। इस मुहर की इससे ज्यादा तर्कसंगत व्याख्या कोई दूसरी नहीं हो सकती।

कायोत्सर्ग मुद्रा जैन परम्परा की ही विशेष देन है। मोहन-जो-दड़ो की खुदाई में प्राप्त मूर्तियों की यह विशेषता है कि वे प्राय: कायोत्सर्ग मुद्रा में हैं, ध्यानलीन हैं और नग्न हैं। खड़े रहकर कायोत्सर्ग करने की पद्धति जैन परम्परा में बहुत प्रचलित है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

धर्म परम्पराओं में योग-मुद्राओं में भी भेद होता है। पर्यङ्कासन या पद्मासन जैन मूर्तियों की विशेषता है। इसी सन्दर्भ में आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा – प्रभो! आपके पर्यङ्क आसन और नासाग्र दृष्टि वाली योगमुद्रा को भी परतीर्थिक नहीं सीख पाए हैं तो भला वे ओर क्या सीखेगें। प्रोफेसर प्राणनाथ ने मोहन-जो-दड़ो की एक मुद्रा पर **'जिनेश्वर'** शब्द भी पढ़ा है।

डेल्फी से प्राप्त प्राचीन आर्गिव मूर्ति, जो कायोत्सर्ग मुद्रा में है, ध्यानलीन है और उसके दोनों कंधो पर ऋषभ की भांति केश-राशि लटकी हुई है। डॉ. कालिदास नाग ने उसे जैन मूर्ति बतलाया है। वह लगभग दस हजार वर्ष पुरानी है।

मोहन-जो-दड़ो से प्राप्त मूर्तियाँ तथा उनके उपासक के सिर पर नाग-फण का अंकन है। वह नाग-वंश के सम्बंध का सूचक है। सातवें तीर्थंकर भगवान सुपार्श्व के सिर पर सर्प-मण्डल का छत्र था।

इस प्रकार मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा आदि में जो ध्यानस्थ प्रतिमायें मिली हैं, वे जैन तीर्थकरों की हैं। ध्यानमग्न वीतराग मुद्रा, त्रिशूल और धर्मचक्र, पशु, वृक्ष, नाग, ये सभी जैन कला की अपनी विशेषताएँ हैं। खुदाई में प्राप्त ये अवशेष निश्चित रूप से जैन धर्म की प्राचीनता को सिद्ध करते हैं।

साहित्य और पुरातत्त्व के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जैन धर्म विश्व का प्राचीनतम धर्म है।

३. कालचक्र

जैन दर्शन के अनुसार सृष्टि अनादि काल से गतिशील है। इसकी न ही आदि है और न ही अन्त। द्रव्य की अपेक्षा से यह नित्य और ध्रुव है, किन्तु पर्याय की अपेक्षा से यह प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। परिणमन प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है। सृष्टि में भी नित नये परिवर्तन होते रहते हैं। इसका न कभी सर्वथा विनाश होता है और न कभी सर्वथा उत्पाद। किन्तु उसका आंशिक विनाश होता है और उस विनाश में से ही आंशिक उत्पाद होता है। सृष्टि इस विनाश ओर उत्पाद के चक्र में अपने मूल तत्त्वों को संजोकर ज्यों का त्यों रखे हुए है। परिणमन का यह क्रम अनादि काल से चल रहा है।

कालचक्र के दो भाग – काल का चक्र भी अनादि काल से घूम रहा है। इस कालचक्र में भी न आदि है और न अन्त। निरन्तर घूमते रहने वाले कालचक्र में आदि और अन्त संभव भी नहीं हो सकते, अत: कालचक्र भी अविभाज्य और अखण्ड है। व्यवहार की सुविधा के लिए हम काल के विभाग कर लेते हैं। जैन दर्शन में काल को एक चक्र की उपमा दी गई है। जैसे चक्र में १२ आरे (लकड़ी के डण्डे) होते हैं, वैसे ही कालचक्र के भी १२ आरे माने गये हैं और इन्हें दो भागों में विभक्त किया गया है – १. अवसर्पिणी काल, २. उत्सर्पिणी काल।

अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल – कालचक्र के बारह आरे हैं। इन बारह आरों का एक पूरा चक्र बनता है। यह कालचक्र जागतिक ह्रास और विकास का प्रतीक है। काल का पहिया जब नीचे की ओर जाता है तब भौगोलिक परिस्थिति, मानवीय सभ्यता और संस्कृति ह्रासोन्मुखी बनती है। मनुष्यों की आयु, अवगाहना, रुचि, स्वास्थ्य, बुद्धि आदि में क्रमश: ह्रास होता है। वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, संहनन, संस्थान, आयुष्य, शरीर आदि पर्यायों में अवनति होने के कारण इसे अवसर्पिणी काल कहा जाता है। काल का पहिया जब ऊपर की ओर जाता है तब भौगोलिक परिस्थिति, मानवीय सभ्यता और संस्कृति विकासोन्मुखी बनती है। आयु, अवगाहना, रुचि, स्वास्थ्य, रूप, रस, गंध आदि पर्यायों में क्रमश: विकास होने के कारण इसे उत्सर्पिणी काल कहा जाता है। इसे सर्प के उदाहरण से समझा जा सकता है। जैसे सर्प मुंह से पूंछ तक क्रमश: पतला होता जाता है। यदि नीचे पूंछ से चालू करें तो मुंह तक वह क्रमश: मोटा होता जाता है। उसी प्रकार अवसर्पिणी काल ऊपर से नीचे की ओर चलता है अर्थात् इस काल में पहले खूब विकास और फिर धीरे-धीरे क्रमश: ह्रास होता जाता है तथा उत्सर्पिणी काल नीचे से ऊपर की ओर चलता है। इस काल में पहले खूब ह्रास और फिर धीरे-धीरे क्रमश: विकास होता जाता है। एक कालचक्र २० कोड़ाकोड़ सागर का होता है।

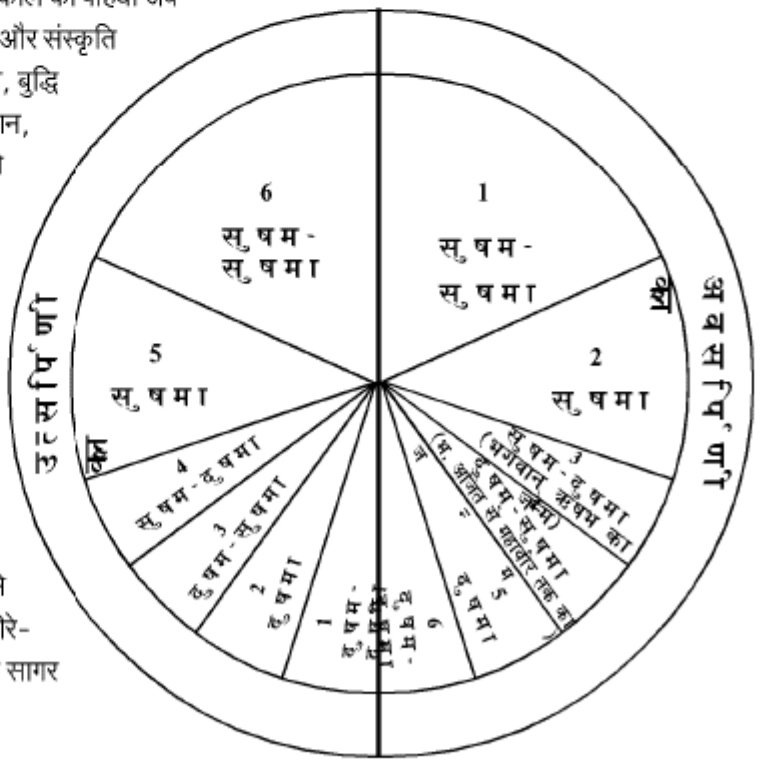

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अवसर्पिणी काल

अवसर्पिणी काल १० कोटि-कोटि सागर का होता है। इसके छह विभागों का विवेचन इस प्रकार है –

१. सुषम-सुषमा- अवसर्पिणी काल के प्रथम आरे का नाम है – सुषम-सुषमा। सुषम-सुषमा अर्थात् सुख ही सुख। प्रथम आरा चार कोटि-कोटि सागर का था। उस समय भूमि स्निग्ध थी। वर्ण, गन्ध, रस, और स्पर्श अत्यन्त मनोज्ञ थे। मिट्टी की मिठास आज की चीनी से अनन्त गुना अधिक थी। कर्मभूमि थी, किन्तु अभी कर्मयुग का प्रवर्तन नहीं हुआ था। मनुष्य असि-मसि-कृषि आदि कर्म नहीं करते थे। उस समय गांव, नगर, घर, दुकान आदि नहीं होते थे। न कोई राजा था न कोई सेवक और न कोई दण्ड-व्यवस्था। सब लोग स्वतन्त्र जीवन जीते थे। आवश्कताएँ बहुत सीमित थीं। न खेती होती थी न कपड़ा बनता था और न मकान बनते थे। रोटी, कपड़ा और मकान के साधन कल्पवृक्ष थे। कल्पवृक्ष अर्थात् ऐसे वृक्ष, जिनके पास जाकर जो इच्छा करते वह तत्काल पूरी हो जाती थी। दस प्रकार के कल्पवृक्षों का उल्लेख मिलता है।

इन दस प्रकार के वृक्षों से सारी आवश्यकताएँ पूरी हो जाती थीं। भोजन की मात्रा बहुत कम थी। तीन दिन के अन्तराल से अरहर की दाल जितनी सी वनस्पति खाते और तृप्त हो जाते थे। उनके कषाय शान्त थे। मन में विकार नहीं होता था। इसलिए उनका जीवनकाल बहुत लम्बा होता था। वे तीन पल्य तक जीते थे। अकाल मृत्यु कभी नहीं होती थी। व्याधि-आधि-उपाधि नहीं थी। वातावरण की अत्यन्त अनुकूलता थी। सभी मनुष्य बड़े ही भद्र और शांतिप्रिय होते थे, उनमें परस्पर लड़ाई-झगड़े कभी नहीं होते थे। सिंघ, बाघ, सांप, अजगर आदि हिंसक जंतु होते तो थे, पर उनका मनुष्यों पर कोई उपद्रव नहीं होता था।

यह युग यौगलिक युग था। मरने से छः मास पहले स्त्री पुत्र-पुत्री का एक युगल (जोड़ा) उत्पन करती थी और ४९ (उनचास) दिन पालन पोषण करती। फिर एक छींक या जम्हाई के साथ माता-पिता की मृत्यु हो जाती और वे पुत्र-पुत्री बड़े होकर पति-पत्नी के रूप में परिणत हो जाते थे। एक साथ युगल रूप में जन्म लेने के कारण ये मनुष्य यौगलिक कहे जाते थे। इनका शरीर तीन गाउ (कोश) ऊँचा था। शरीर का वज्रऋषभनाराच संहनन था। इस प्रकार चार कोटि-कोटि सागर (असंख्येय काल) का एकान्त सुखमय पर्व सुषम-सुषमा बीत गया।

२. सुषमा- अवसर्पिणी काल के द्वितीय आरे का नाम है – सुषमा। तीन कोटि-कोटि सागर का यह आरा शुरु हुआ। धीरे-धीरे ह्रास का क्रम प्रारम्भ हुआ। भोजन दो दिन के अन्तराल से होने लगा। भोजन की मात्रा भी बेर के फल जितनी हो गई। जीवनकाल दो पल्य का हो गया और शरीर की ऊँचाई दो गाउ की रह गई। सन्तान का पालन पोषण ६४ (चौसठ) दिन तक होने लगा। शेष वर्णन पहले आरे के समान ही है, लेकिन क्रमशः हानि होती जा रही थी। इस हानि का कारण था भूमि और पदार्थों की स्निग्धता में कमी।

३. सुषम-दुषमा- अवसर्पिणी काल के तृतीय आरे का नाम है – सुषम-दुषमा। सुषम-दुषमा अर्थात् सुख ज्यादा पर थोड़ा दुःख भी। दो कोटि-कोटि सागर का यह तीसरा आरा शुरू हुआ। इस सुख-दुखमय पर्व में ह्रास का क्रम और आगे बढ़ा। भोजन एक दिन के अन्तराल से होने लगा। उसकी मात्रा भी बढ़कर आंवले के फल के बराबर हो गई। जीवन का कालमान एक पल्य हो गया। शरीर की ऊँचाई एक गाउ की हो गई। पुत्र-पुत्री का पालन ७९ (उन्यासी) दिन तक होता था। क्रमशः हानि होते-होते तीसरे आरे के अन्तिम भाग में कल्पवृक्षों ने फल देने में काफी कमी कर दी, अतः यौगलिक आपस में लड़ने-झगड़ने लगे। सहज समृद्धि का क्रमिक ह्रास होने लगा। पदार्थों की स्निग्धता में बहुत कमी हुई। भूमि का रस जो चीनी से अनन्त गुना मीठा था, वह कम होने लगा। उसके वर्ण, गंध और स्पर्श की श्रेष्ठता भी कम हुई। सहज नियम टूटने लगे। तब कुलकर व्यवस्था आई। भगवान ऋषभ का जन्म भी इसी युग में हुआ। अवसर्पिणी का पहला, दूसरा और तीसरा आरा यौगलिक युग कहलाया। तीसरे आरे के अन्त में युगल व्यवस्था समाप्त होने लगी। सृष्टि में भारी परिवर्तन हुआ। यह यौगलिक व्यवस्था के अन्तिम दिनों की कहानी है।

४. दुषम-सुषमा- अवसर्पिणी काल के चतुर्थ आरे का नाम है – दुषम-सुषमा। यह ४२ हजार वर्ष कम एक कोटि-कोटि सागर का था। इसमें जैन धर्म के भगवान अजित से महावीर तक तेईस तीर्थंकर हुए। इस आरे के तीन वर्ष साढ़े आठ महीने शेष रहने पर भगवान महावीर का निर्वाण हुआ। इस आरे के आरम्भ में मनुष्यों की आयु एक करोड पूर्व की थी, अवगाहना पांच सौ धनुष की थी और भोजन एक दिन में एक बार होता था।

५. दुषमा- अवसर्पिणी काल के पंचम आरे का नाम दुषमा है। वर्तमान में अवसर्पिणी का पंचम आरा चल रहा है। यह आरा इक्कीस हजार वर्ष का है। इसमें जन्मे हुए मनुष्य के लिए बारह बातें विच्छिन्न हो गयीं, यथा – मनःपर्यव ज्ञान, परम अवधिज्ञान, पुलाकलब्धि, आहारक शरीर, क्षपकश्रेणी, उपशमश्रेणी, जिनकल्पित्व, परिहारविशुद्धि चारित्र, सूक्ष्मसंपराय चारित्र, यथाख्यात चारित्र, केवलज्ञान, सिद्धिगमन। इस काल के मनुष्यों में किसी प्रकार का विशिष्ट सामर्थ्य, ऋद्धि अथवा लब्धि प्रायः नहीं होगी – न विशिष्ट ज्ञान, न दृढ़ संकल्पशक्ति और न उत्कृष्ट चारित्र। अतः इस काल में जन्मा व्यक्ति मोक्ष नहीं जा सकेगा। इसके अलावा पुराने नगर गांव जैसे हो गये और गांव शमशान जैसे हो गये। उद्दण्डता, दुराचार, भ्रष्टाचार भी बढ़ा। बार-बार दुष्काल पड़ने लगा। प्रारम्भ में मनुष्य की आयु सौ वर्ष या उससे कुछ अधिक की थी। अवगाहना सात हाथ की थी, किन्तु क्रमशः घटती-घटती अन्त में आयु बीस वर्ष की एवं अवगाहना एक हाथ की रह जायेगी। उत्तम पदार्थ प्रायः नष्ट हो जायेंगे। अन्तिम दिन इन्द्र भगवान घोषणा करेंगे। करना हो सो कर लो, कल छठा आरा प्रारम्भ होगा और प्रलय हो जायेगा। इन्द्र की बात सुनकर दुप्पसह साधु, फाल्गुनी साध्वी, नागिल श्रावक और सत्यश्री श्राविका

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जो उस दिन विद्यमान होंगे, अनशन करके स्वर्ग में चले जायेंगे। श्रावण बदी एकम को छठा आरा शुरू हो जायेगा।

६. दुषम-दुषमा- दुषम-दुषमा नामक छठा आरा भी इक्कीस हजार वर्ष का होगा। उसके प्रारम्भ में जहर, अग्नि आदि की भीषण बरसात होगी। जिसमें अनेक प्राणी मर जायेंगे। शेष मनुष्य भयभीत होकर बिलों में जाकर निवास करेंगे। वे पशुओं की तरह नग्न ही रहेंगे। उनकी आयु उत्कृष्ट बीस वर्ष की होगी। परिवार बहुत ज्यादा होगा। पांच वर्ष की स्त्री गर्भ धारण कर लेगी। काम-वासना ज्यादा होगी। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि की अधिकता के कारण वे हर समय लड़ते-झगड़ते रहेंगे।

उस समय फल, शाक, अनाज आदि नहीं होंगे। खाने के लिए मात्र मच्छ-कच्छप आदि जल-जन्तु मिलेंगे। दिन में गर्मी अधिक होगी, रात को सर्दी अधिक होगी। इस काल के प्राणी घोर पापों का उपार्जन करने के कारण मरकर नरक या तिर्यञ्च गति में जायेंगे।

उत्सर्पिणी काल

अवसर्पिणी की भांति उत्सर्पिणी के भी छह विभाग हैं परन्तु वे अवसर्पिणी से सब प्रकार से उलटे हैं। अवसर्पिणी में जहां विकास से क्रमशः ह्रास की ओर जाते हैं, वहां उत्सर्पिणी में ह्रास से क्रमशः विकास की ओर जाते हैं। इसका कालमान भी १० कोटि-कोटि सागर है।

पहला आरा दुषम-दुषमा ठीक छठे आरे के समान इक्कीस हजार वर्ष का होगा लेकिन इसमें आयुष्य, बल, सुख आदि की क्रमशः वृद्धि होगी जबकि छठे आरे में क्रमशः हानि हो रही थी। इसके आरम्भ में मनुष्यों की आयु सोलह वर्ष की होगी और अवगाहना एक हाथ से कुछ कम होगी तथा अन्त में बढकर आयु बीस वर्ष और अवगाहना एक हाथ की हो जायेगी।

इस प्रकार उत्सर्पिणी काल के छहों आरों का विवेचन अवसर्पिणी काल के समान ही समझना चाहिए। अवसर्पिणी के बाद उत्सर्पिणी और उत्सर्पिणी के बाद अवसर्पिणी ऐसे अवसर्पिणी-उत्सर्पिणीरूप कालचक्र अनादि काल से चलता आ रहा है ओर सदा चलता रहेगा। यह काल की अपेक्षा से अनादि-अनन्त माना गया है।

४. भगवान ऋषभ

जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभ का जन्म यौगलिक संस्कृति के अन्त में हुआ था। वे मानव समाज के आदि व्यवस्थापक और प्रथम धर्मनायक रहे हैं। जब तीसरे आरे के चौरासी लाख पूर्व, तीन वर्ष, साढ़े आठ मास अवशेष रहे तब ऋषभ का जीव सर्वार्थसिद्ध देवलोक से च्यवकर नाभि कुलकर की जीवनसंगिनी मरुदेवा की पवित्र कुक्षि में अवतरित हुआ। उसी रात्रि में माता ने चौदह महास्वप्न देखे। वे इस प्रकार हैं– १. वृषभ २. हाथी ३. सिंह ४. लक्ष्मी ५. पुष्पमाला ६. चन्द्र ७. सूर्य ८. ध्वज ९. कुंभ १०. पद्म सरोवर ११. क्षीरसमुद्र १२. देवविमान १३. रत्नराशि १४. निर्धूम अग्नि। दिगम्बर परम्परा के अनुसार सोलह स्वप्न देखे। कुलकर नाभि ने स्वप्न-फलों का विश्लेषण करते हुए कहा-तुम्हारे गर्भ में जो सन्तान है, वह कोई असाधारण महापुरुष होगा, जिससे सारा विश्व आलोकित हो उठेगा।

ऋषभ का जन्म- गर्भकाल पूरा होने पर चैत्र कृष्णा अष्टमी की मध्य रात्रि में माता मरुदेवा ने एक पुत्र तथा एक पुत्री को युगल रूप में जन्म दिया। चौसठ इन्द्र व सहस्रों देवों ने पृथ्वी पर आकर ऋषभ के जन्म का उत्सव मनाया। इतनी बड़ी संख्या में देवों को देखकर यौगलिक भी इकट्ठे हो गये। उत्सव विधि से अपरिचित होने पर भी देखा-देखी सभी ने मिलकर जन्मोत्सव मनाया। इस प्रकार अवसर्पिणी काल में सबसे पहले ऋषभ का ही जन्मोत्सव मनाया गया, जन्मोत्सव मनाने की प्रथा यहीं से प्रारम्भ हुई। इससे पहले जन्मोत्सव मनाने की परम्परा नहीं थी।

नामकरण- जन्मोत्सव के बाद नामकरण का अवसर आया। बालक का क्या नाम रखा जाये। इस सम्बंध में कुलकर नाभि ने कहा जब बालक गर्भ में आया था तब माता ने पहला स्वप्न वृषभ (बैल) का देखा था और बालक के उरुस्थल पर भी वृषभ का शुभ चिह्न है, अतः मेरी दृष्टि से बालक का नाम वृषभकुमार रखा जाये। उपस्थित सभी युगलों को यह नाम उचित लगा। सभी ने बालक को इसी नाम से पुकारा। पुत्री का नाम सुनन्दा रखा गया। बाद में संभवतः उच्चारण सरसता के कारण वृषभ से ऋषभ नाम प्रचलित हो गया। कल्पसूत्र की टीका में उनके अन्य पांच गुण निष्पन्न नाम भी उपलब्ध होते हैं, यथा – वृषभ, प्रथम राजा, प्रथम भिक्षाचर, प्रथम जिन, प्रथम तीर्थंकर।

वंश – यौगलिक युग में मानव समाज किसी कुल, जाति या वंश के विभाग से विभक्त नहीं था अतः ऋषभ का भी कोई वंश (जाति) नहीं था। जब ऋषभ एक वर्ष के हो गये तो एक दिन वे अपने पिता की गोद मे बैठे थे। बाल-क्रीड़ा कर रहे थे। तभी इन्द्र एक थाल में विविध खाद्य वस्तुएँ सजाकर लाए। उन ढेर सारी वस्तुओं को देखकर नाभि ने अपने पुत्र से कहा – जो कुछ खाना हो उसे हाथ से उठाओ। ऋषभ ने सर्वप्रथम इक्षु (गन्ने) का टुकड़ा उठाकर चूसने का यत्न किया। बालक ऋषभ के इस प्रयत्न को ध्यान में रखकर इन्द्र ने कहा – बालक को इक्षु प्रिय है। अतः आगे इस वंश का नाम इक्ष्वाकु वंश होगा। इक्ष्वाकु वंश की स्थापना के साथ ही वंश परम्परा का प्रारम्भ हुआ।

विवाह – यौगलिक युग में विवाह पद्धति का प्रचलन नहीं था। जो भाई-बहिन के रूप में युगल पैदा होता, वे ही पति-पत्नी के रूप में सम्बन्ध

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

स्थापित करते। बहु-पत्नी प्रथा का प्रचलन नहीं था। सर्वप्रथम ऋषभ का विवाह दो कन्याओं के साथ किया गया। दो कन्याओं में एक उसके साथ जन्मी हुई सुनन्दा थी। दूसरी अनाथ कन्या सुमंगला थी। अब तक अकाल मृत्यु नहीं होती थी पर अब धीरे-धीरे काल का प्रभाव हुआ, एक दुर्घटना घटी। एक जोड़ा था, उसमें पुत्र मर गया, पुत्री बच गई। थोड़े समय बाद उसके माता-पिता मर गये। नाभि ने उस कन्या सुमंगला को ऋषभ की पत्नी के रूप में स्वीकार कर लिया। यहीं से विवाह पद्धति का प्रारम्भ हुआ। इसके बाद लोग अपनी सहोदरी के अतिरिक्त दूसरी कन्याओं से भी विवाह करने लगे।

संतान – यौगलिक युग में हर युगल के जीवन में एक बार ही संतानोत्पत्ति होती थी और वह भी युगल के रूप में। ऋषभ के समय से कई परिस्थितियों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। अब तक विशुद्ध यौगलिक युग था। हर युगल एक युगल को जन्म देता था। अब यह परम्परा भी टूट गई। उनके सौ पुत्र और दो पुत्रियां हुई। सुनन्दा के तो एक ही युगल पैदा हुआ – बाहुबली और सुन्दरी। सुमंगला के पचास युगल जन्मे। जिनमें प्रथम युगल में भरत और ब्राह्मी का जन्म हुआ, शेष उनपचास युगलों में पुत्र ही पुत्र पैदा हुए। इसके बाद अन्य युगल दम्पत्तियों के भी अनेक पुत्र और पुत्रियां होने लगे। तभी से जनसंख्या भी तेजी से बढ़ने लगी।

राज्याभिषेक – अन्तिम कुलकर नाभि के समय में अपराध-निरोध के लिए निर्धारित की गई धिक्कार-नीति का उल्लंघन होने लगा। दिन-प्रतिदिन यौगलिकों की समस्याएँ बढ़ने लगीं। नाभि के पास इनका कोई समुचित समाधान नहीं था। अपराध का कारण पूछने पर जवाब मिलता-भूखा था, अतः अपराध हो गया। आप पेट भरने का प्रबन्ध कर दीजिए फिर ऐसी गलती नहीं होगी। पेट भरने का उपाय नाभि के पास भी नहीं था। अब केवल दण्ड व्यवस्था से काम नहीं चल पा रहा था।

एक दिन कुछ यौगलिक ऋषभ के पास अपनी समस्याओं के सम्बंध में चर्चा कर रहे थे। ऋषभ ने कहा-ऐसे समस्या का समाधान नहीं होगा। समय के साथ व्यवस्था बदलनी होगी। अब कुलकर व्यवस्था से काम नही चलेगा। अब तो विधिवत् एक राजा होना चाहिए। उसके अनुशासन से ही समस्या सुलझ सकती है। यह सुनकर युगलियों ने कहा – आप ही हमारे राजा बन जाइये। ऋषभ ने कहा-आप जाओ और कुलकर नाभि से राजा की याचना करो, वे तुम्हे राजा देंगे। यौगलिकों ने नाभि के पास जाकर निवेदन किया। नाभि ने कहा – मैं तो अब वृद्ध हो चुका हूँ। अतः आज से तुम सब ऋषभ को अपना राजा मानो। अब वे ही तुम्हारी समस्याओं का समाधान देंगे।

नाभि की आज्ञा प्राप्त कर सभी युगलियों ने मिलकर अपनी कल्पना से ऋषभ का राज्याभिषेक किया। कई तरह के फूलों से ऋषभ के शरीर को अलंकृत किया। ऊँचे आसन पर बिठाकर चरणों में जलाभिषेक किया और उन्हें अपना राजा स्वीकार किया।

शासन-व्यवस्था का विकास- राज्याभिषेक के पश्चात् ऋषभदेव ने राज्य की सुव्यवस्था और विकास के लिए सर्वप्रथम आरक्षक दल की स्थापना की। उसके अधिकारी **'उग्र'** नाम से जाने गये। फिर राजकीय व्यवस्था में परामर्श के लिए एक मंत्रिमंडल का निर्माण किया गया। जिसके अधिकारी को **'भोग'** नाम से संबोधित किया गया। इसके अतिरिक्त एक परामर्श मंडल की भी स्थापना की गई जो सम्राट के निकट रहकर समय-समय पर उन्हें परामर्श देता रहे। परामर्श मंडल के सदस्यों को **'राजन्य'** और सामान्य कर्मचारियों को **'क्षत्रिय'** नाम से संबोधित किया जाने लगा।

विरोधी तत्त्वों से राज्य की रक्षा करने तथा दुष्टों, अपराधियों को दण्डित करने के लिए उन्होंने चार प्रकार की सेना और सेनापतियों की व्यवस्था की। अपराधी की खोज एवं अपराध निरोध के लिए साम, दाम, दण्ड और भेद नीति तथा निम्नलिखित चार प्रकार की दण्ड व्यवस्था भी की।

१. **परिभाषक** – थोड़े समय के लिए नजरबन्द करना – अपराधी को कुछ समय के लिए आक्रोश पूर्ण शब्दों में दण्डित करना। क्रोधपूर्ण शब्दों में अपराधी को 'यहीं बैठ जाओ' का आदेश देना।

२. **मण्डलिबन्ध** – नजरबन्द करना – नियमित क्षेत्र से बाहर न जाने देने का आदेश देना।

३. **बन्ध** – बंधन का प्रयोग – बन्दीगृह जैसे किसी एक स्थान में अपराधी को बन्द करके रखना।

४. **घात** – डंडे का प्रयोग – अपराधी के हाथ-पैर आदि शरीर के किसी अंग-उपांग का छेदन करना।

धर्मानुकुल लोक व्यवस्था

राष्ट्र की सुरक्षा और उत्तम व्यवस्था करने के पश्चात् ऋषभदेव ने लोक जीवन को स्वावलम्बी बनाना आवश्यक समझा। राष्ट्रवासी अपना जीवन स्वयं सरलता से बिता सकें ऐसी शिक्षा देने के विचार से उन्होंने असि, मसि और कृषिकर्म का प्रजा को उपदेश दिया।

✱ **असिकर्म शिक्षा** – ऋषभ ने एक ऐसा वर्ग तैयार किया जो लोगों की सुरक्षा का दायित्व संभालने में सक्षम हो। उसे तलवार, भाला, बरछी आदि शस्त्र चलाने सिखाए। साथ में कब, किस पर इन शस्त्रों का प्रयोग करना चाहिए, इसका भी निर्देश दिया। वे लोग देश की सुरक्षा के लिए सदा तत्पर रहते थे। इस वर्ग को 'क्षत्रिय' नाम से पुकारा गया।

✱ **मसिकर्म शिक्षा** – मसि कर्म का तात्पर्य लिखा-पढ़ी से है। ऋषभ ने एक ऐसा वर्ग तैयार किया जो उत्पादन की गई वस्तुओं का विनिमय कर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सकें। एक-दूसरे तक पहुंचा सकें। प्रारम्भ में मुद्रा नहीं थी। वस्तु से वस्तु का विनिमय होता था। उनका हिसाब रखना जरूरी था। कौनसी वस्तु का विनिमय किस मात्रा में होता है, जानना जरूरी था। इसके लिए कुछ लोगों को प्रशिक्षित किया गया। इस विनिमय प्रक्रिया को व्यापार तथा इसे करने वाले वर्ग को व्यापारी (वैश्य) कहकर पुकारा गया।

*** कृषिकर्म शिक्षा** – राजा बनते ही ऋषभ के पास सबसे पहला काम था – खाद्य समस्या का समाधान करना। इसके लिए उसने सबको एकत्रित किया और कहा – अब कल्पवृक्षों की क्षमता कम होने लगी है। समय के साथ उन्होंने फल देने बंद कर दिये हैं। अत: ऐसी स्थिति में श्रम करना होगा। खेती में अनाज बोना होगा। ऋषभ के इस आह्वान पर हजारों नवयुवक खडे होकर श्रम करने के लिए संकल्पबद्ध हो गए। ऋषभ ने उन्हें कृषि-खेती कैसे करनी चाहिए इसका प्रशिक्षण दिया। कृषि के साथ अन्य सभी आवश्यकताओं की पूर्ति के उपाय भी सिखाये।

कला प्रशिक्षण

ऋषभदेव ने लिपि और अंकविद्या का आविष्कार किया। बड़ी पुत्री ब्राह्मी को अठारह लिपियों का ज्ञान करवाया और छोटी पुत्री सुन्दरी को अंकविद्या अर्थात् गणित का अध्ययन करवाया। इस प्रकार उन्होंने अपनी पुत्रियों के माध्यम से सर्वप्रथम वाङ्मय का उपदेश दिया। इन विद्याओं का सर्वप्रथम शिक्षण ब्राह्मी और सुन्दरी के रूप में नारी जाति को प्राप्त हुआ। ब्राह्मी ने जिस लिपि का अध्ययन किया वह ब्राह्मी लिपि के नाम से जानी जाने लगी। आज भी विश्व में ब्राह्मी लिपि प्राचीनतम मानी जाती है।

पुत्रियों के समान पुत्रों को भी अनेक कलाओं का ज्ञान दिया। अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को ७२ कलाएँ सिखलाई। कनिष्ठ पुत्र बाहुबलि को प्राणी की लक्षण-विद्या का उपदेश दिया। इसके अतिरिक्त धनुर्वेद, अर्थशास्त्र, चिकित्सा शास्त्र, क्रीड़ा-विधि आदि विद्याओं का प्रवर्तन कर लोगों को सुव्यवस्थित और सुसंस्कृत बनाया।

इस प्रकार पुत्र-पुत्रियों को अनेक कलाओं और विद्याओं की शिक्षा देकर ऋषभदेव ने एक बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया और यौगलिक युग जो कि भोगयुग था उसे कर्मयुग में लाने के लिए बहुत श्रम और पुरुषार्थ किया।

वर्ण व्यवस्था का प्रारम्भ

भगवान ऋषभ से पूर्व भारतवर्ष में कोई वर्ण या जाति की व्यवस्था नहीं थी। भारतीय ग्रन्थों में उपलब्ध चार वर्णों में से तीन वर्णों की उत्पत्ति ऋषभ के समय हुई। जो लोग शारीरिक दृष्टि से शक्ति सम्पन्न थे उन्हें प्रजा की रक्षा के कार्य मे नियुक्त किया गया और उन्हें पहिचान के लिए 'क्षत्रिय' संज्ञा दी गई। जो लोग कृषि, पशुपालन एवं वस्तुओं के क्रय-विक्रय वितरण आदि का कार्य करते, उन लोगों के वर्ग को 'वैश्य' की संज्ञा दी गई। कृषि और मसि कर्म के अतिरिक्त अन्य कार्य करने वाले लोगों को शूद्र संज्ञा दी गई। उनके जिम्मे सेवा तथा सफाई का कार्य था।

ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति सम्राट भरत के शासनकाल में हुई। सम्राट भरत ने धर्म के सतत जागरण के लिए कुछ बुद्धिजीवी व्यक्तियों को चुना जो वक्तृत्व कला में निपुण थे। ब्रह्मचारी रहकर समय-समय पर राज्य-सभा में तथा अन्य स्थानों में जाकर प्रवचन देना, धार्मिक प्रेरणा देना उनका काम था। ब्रह्मचर्य का पालन करने से या ब्रह्म (आत्मा) की चर्चा में लीन रहने के कारण इन्हें ब्राह्मण कहा जाता था। इनकी संख्या सीमित थी और भरत द्वारा निर्धारित थी। इस प्रकार चारों वर्ण की उत्पत्ति ऋषभ और सम्राट भरत के समय में हो गई थी, किन्तु हीनता और उच्चता की भावना उस समय बिल्कुल नहीं थी। सभी अपने-अपने कार्य से संतुष्ट थे। वर्ण के नाम पर हीन-उच्च या स्पृश्य-अस्पृश्य आदि के भाव नहीं थे।

ग्राम व्यवस्था

ऋषभ ने सामूहिक जीवन का सूत्रपात करते हुए सबसे पहले ग्राम व्यवस्था की रूपरेखा लोगों को समझाई। उन्होंने बताया अब समय बदल चुका है अत: रहन-सहन में परिवर्तन करना होगा। घर बनाकर रहना होगा। घर की उपयोगिता समझाने के साथ-साथ सामूहिक जीवन की उपयोगिता समझाई। बात लोगों के समझ में आ गई। वे युगल जंगलों को छोड़कर गांवों में बस गये। सर्वप्रथम जो बस्ती बनी उसका नाम विनीता रखा गया। ऋषभ ने अपना निवास स्थान वहीं बनाया। भारत की प्रथम राजधानी होने का गौरव भी उसे प्राप्त हुआ। उसे ही आगे चलकर अयोध्या के नाम से पुकारा जाने लगा।

सामाजिक परम्पराओं का सूत्रपात

ऋषभदेव ने व्यावहारिक एवं धार्मिक शिक्षाएँ देकर समयानुसार परिवर्तन किया और अनेक सामाजिक परम्पराओं का सूत्रपात किया। यथा –

१. पहले कोई राजा नहीं होता था, किन्तु ऋषभ ने राजा-प्रजा का व्यवहार चलाया।

२. पहले एक पुरुष के एक ही स्त्री होती थी और वह जीवन भर में एक ही युगल उत्पन्न करती थी, किन्तु ऋषभ के सुनन्दा और सुमंगला दो रानियां हुई, उन्होंने सौ पुत्र और दो पुत्रियों को जन्म दिया। ज्येष्ठ पुत्र का नाम भरत था, जो इस भरत क्षेत्र में पहले चक्रवर्ती हुए।

३. पहले भोजन बनाने की प्रथा नहीं थी, क्योंकि कल्पवृक्षों के द्वारा सब कुछ मिल जाता था परन्तु उन वृक्षों की शक्ति में कमी आ जाने के कारण

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ऋषभ ने असि-मसि-कृषि का प्रवर्तन किया।

४. पहले कोई पढ़ना-लिखना नहीं जानता था। ऋषभ ने अपने पुत्रों को ७२ कलाएँ तथा पुत्रियों को ६४ कलाएँ सिखाईं।

५. पहले मृतकों की दाहक्रिया नहीं की जाती थी, अब लोग मृतकों को जलाने लगे।

६. पहले पारिवारिक ममत्व नहीं था, अब वह विकसित हो गया, इसलिए मृत्यु के बाद लोग रोने भी लगे।

७. पहले मृत्यु के बाद स्मृति में वेदी और स्तूप बनाने की प्रथा नहीं थी, अब वह प्रथा भी चल पड़ी।

८. नाग-पूजा और अन्य कई उत्सव भी मनाये जाने लगे।

इस प्रकार ऋषभ के समय से समाज में कुछ परम्पराओं ने जन्म ले लिया।

पुत्रों में राज्य-विभाजन एवं अभिनिष्क्रमण

भगवान ऋषभ का जीवन चौरासी लाख पूर्व का था। उसमें तिरासी लाख पूर्व का समय उन्होंने सामाजिक और राजनैतिक मूल्यों की स्थापना में बिताया। कर्त्तव्य बुद्धि से लोक-व्यवस्था का प्रवर्तन कर लम्बे समय तक वे राजा रहे। ऋषभ ने अब धर्म-नीति का प्रवर्तन करने का निश्चय किया। उस समय पाँचवे देव-लोक के नौ लोकान्तिक देव ऋषभ के पास में पहुँचे और वंदन कर निवेदन किया – भगवन्! लोक व्यवहार की संपूर्ण व्यवस्था आपने कर ली है, अब आप धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन कीजिए।

भगवान ने दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत का राज्याभिषेक किया और उन्हें अयोध्या का राज्य प्रदान किया। निन्यानवें पुत्रों को अन्य क्षेत्रों की सार-संभाल का दायित्व सौंपा। सब प्रकार से पूर्णत: निवृत्त हो वे वर्षीदान देने लगे। वर्षीदान से सब लोगों को पता लग गया कि अब ऋषभ घर छोड़कर दीक्षा ग्रहण कर रहे हैं। अनेक व्यक्ति उनका अनुगमन करने के लिए तैयार हो गए। चैत्र कृष्णा अष्टमी के दिन ऋषभ ने चार हजार व्यक्तियों के साथ अभिनिष्क्रमण किया। अभिनिष्क्रमण देखने हेतु दूर-दूर से लोग पहुँच रहे थे। चौसठ इन्द्रों के साथ हजारों देव भी उत्सव में सम्मिलित हुए। शहर से बाहर उपवन में पहुँचकर ऋषभ ने अपने वस्त्र और आभूषण उतार दिये।

अब ऋषभ ने केश लुंचन प्रारम्भ किया, पहले आगे के केशों का लुंचन किया फिर दायें-बायें भाग के केशों का लुंचन किया एवं उसके बाद पीछे के केशों का लुंचन किया। अन्त में मध्य भाग में रहे केशों का लुंचन प्रारम्भ किया तो इन्द्र ने प्रार्थना की – प्रभो! इन्हें रहने दीजिये, बहुत सुन्दर लगते हैं। इन्द्र की प्रार्थना पर भगवान ने उन केशों को वैसे ही छोड़ दिया। भगवान का अनुकरण अन्य लोगों ने भी किया और शायद चोटी की परम्परा वहीं से चल पड़ी। कुछ आचार्य ऋषभ का पंचमुष्टि लुंचन भी मानते हैं।

ऋषभ का निर्वाण

भगवान ऋषभ ने जब दीक्षा ली तो चार हजार शिष्य साथ थे किन्तु भगवान की मौन व कठोर साधना को देख निराश हो गए। साधुत्व को छोड़ वन में चले गए। भगवान ऋषभ ने एक हजार वर्ष तक कठोर साधना की। पुरिमताल के उद्यान में वटवृक्ष के नीचे तेले की तपस्या में फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया। केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद उनका धार्मिक परिवार पुन: बढ़ने लगा। उनके परिवार में ८४ हजार श्रमण थे। उनकी व्यवस्था के लिए भगवान ने ८४ गण बनाये। प्रत्येक गण का एक-एक मुखिया स्थापित किया, जिसे गणधर कहा जाने लगा। भगवान के प्रथम गणधर ऋषभसेन थे।

एक लाख पूर्व तक संयम की आराधना करते हुए हजारों ग्राम-नगरों में धर्म का प्रचार किया। फिर अपने जीवन का अवसान निकट समझकर वे दस हजार शिष्यों के साथ अष्टापद पर्वत (कैलाश) पर चढ़े। अवसर्पिणी के तीसरे आरे के साढ़े आठ माह शेष रहने पर छह दिन की तपस्या में अयोगी अवस्था को प्राप्त किया और शेष अघाति कर्मों का क्षय कर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। भगवान के निर्वाण का दिन माघ कृष्णा त्रयोदशी का था।

उनका समग्र जीवन ८४ लाख पूर्व का था। इस प्रकार भगवान ऋषभ का जीवन एक समग्र जीवन था। उन्होंने अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष – इन चारों पुरुषार्थों का प्रतिपादन किया। सामाजिक और धार्मिक – दोनों परम्पराओं का शुभारम्भ किया।

ऋषभ के पश्चात्

काल का चौथा चरण दुषम-सुषमा प्रारम्भ हुआ। वह ४२ हजार वर्ष कम एक कोटि-कोटि सागर का था। इस अवधि में कर्मक्षेत्र का पूर्ण विकास हुआ। धर्म बहुत फला-फूला। इस युग में जैन धर्म के २३ तीर्थंकर हुए। २४ तीर्थंकरों में २१ तीर्थंकरों की गणना प्रागैतिहासिक काल में मानी जाती है। कुछ विद्वान २२वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि को ऐतिहासिक महापुरुष के रूप में स्वीकार करते हैं। २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ और २४वें तीर्थंकर महावीर ऐतिहासिक पुरुष के रूप में ही जाने जाते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

५. भगवान महावीर

जन्म

कालचक्र का चौथा आरा दुषम-सुषमा चल रहा था। पंचम आरा शुरूहोने में ७४ वर्ष, ११ महीने बाकी थे। ग्रीष्म ऋतु थी। चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को मध्यरात्रि की बेला में क्षत्रियकुण्ड ग्राम में माता त्रिशला की कुक्षि से महावीर का जन्म हुआ। बालक का जन्मोत्सव मनाने के लिए सर्वप्रथम सौधर्म देवलोक के इन्द्र आये और बालक को मेरूपर्वत के पुंडरीक वन में ले गये। वहां सब इन्द्र-इन्द्रानियों एवं देवों ने मिलकर बालक का जन्माभिषेक किया।

बालक के पिता राजा सिद्धार्थ ने पुत्र प्राप्ति की खुशी में मुक्त हृदय से नगर में उत्सव मनाया। कैदियों को बंधन मुक्त कर दिया। नागरिकों का कर माफ कर दिया गया।

नामकरण

व्यक्ति की पहचान के दो माध्यम बनते हैं – नाम और रूप। रूप बालक अव्यक्त जगत से लेकर आता है और नाम उसे इस व्यक्त जगत में मिलता है। जन्म के बारह दिन पश्चात् बालक के नामकरण का आयोजन किया गया पारिवारिक जनों को महाराज सिद्धार्थ ने आमन्त्रित किया। बालक के नामकरण का संस्कार किसी पंडित के द्वारा सम्पन्न न होकर महारानी तथा महाराज के विमर्श से संपन्न हुआ। दोनों ने आगन्तुक अतिथियों और सम्बंधियों को संबोधित कर कहा – जिस दिन यह शिशु गर्भ में आया था, उसी दिन हमारे राज्य-भण्डार में धन-धान्य, सोना-चांदी, मणि-मुक्ता आदि की अपार अभिवृद्धि हुई थी। इसलिए हम चाहते हैं कि इस शिशु का नाम 'वर्धमान' रखा जाए। उपस्थित सभी लोगों ने सिद्धार्थ और त्रिशला के प्रस्ताव का समर्थन किया और 'वर्धमान' के जयघोष के साथ नामकरण-संस्कार संपन्न हुआ। महावीर के और भी अनेक नाम उपलब्ध होते हैं, यथा – वर्धमान, महावीर, ज्ञातपुत्र, सन्मति, काश्यप, देवार्य, विदेह पुत्र, श्रमण आदि।

भगवान महावीर का गृहस्थ जीवन

भगवान महावीर बचपन से ही संसार से विरक्त थे। वे अहिंसा, करुणा, अनेकान्त, अपरिग्रह, ध्यान और अतीन्द्रिय ज्ञान के धारक थे। राजमहल में सभी सुविधाएँ उपलब्ध होने पर भी वे संयम का जीवन जीते थे।

बालक्रीड़ा

महावीर ने आठवें वर्ष में प्रवेश किया। एक बार वे अपने साथियों के साथ 'आमलकी' नामक खेल खेल रहे थे। इस खेल मे सभी बच्चे वृक्ष की ओर दौड़ते और जो बच्चा सबसे पहले वृक्ष पर चढकर उतर आता वह विजेता माना जाता। वर्धमान सबसे आगे दौड़कर पेड़ पर चढ़ गए। उनके साथ-साथ एक सांप भी चढ़ा और पेड़ के तने से लिपट गया। बच्चे डरकर भाग गए। वर्धमान डरे नहीं। वे नीचे उतरे और सांप को पकड़कर एक ओर डाल दिया। बचपन से ही वे साहसी थे।

पाठशाला में

महावीर प्रारम्भ से ही प्रतिभा-सम्पन्न थे। उन्हें अतीन्द्रिय ज्ञान प्राप्त था, पर वे दूसरों के सामने उसका प्रदर्शन नहीं करते थे। पिता सिद्धार्थ ने बालक को पढ़ने के लिए पाठशाला भेजा। अध्यापक उन्हे पढ़ाने लगे और वे विनयपूर्वक सुनते रहे। इन्द्र ने यह सब देखा और सोचा यह बालक तो अतीन्द्रिय ज्ञान से संपन्न है, अध्यापक इसे क्या पढ़ायेगा ? वे एक ब्राह्मण का रूप बनाकर अध्यापक के पास पहुंचे। व्याकरण सम्बंधी अनेक जिज्ञासाएँ प्रस्तुत की, अध्यापक उनका समाधान नहीं दे सके। तब बालक वर्धमान ने सहज भाव से सारे प्रश्नों के उत्तर दे दिये। अध्यापक को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे सोचने लगे – यह तो स्वयं दक्ष है, इसे मैं क्या पढ़ाऊँगा। इन्द्र ने अपना रूप बदलकर महावीर का परिचय दिया। अध्यापक ने पहले दिन ही उसे स्कूल से मुक्त कर दिया।

विवाह

महावीर अब युवा हो गए। वे शादी के बंधन में बंधना नहीं चाहते थे ब्रह्मचर्य उनका प्रिय विषय था। भोगों में उनकी रुचि नहीं थी। माता-पिता ने महावीर के समक्ष शादी करने का प्रस्ताव रखा। उन्होंने इसे अस्वीकार कर दिया। वे बचपन से ही अनासक्त थे। माता-पिता ने विवाह करने के लिए बहुत आग्रह किया। महावीर को यह ज्ञात था कि माता-पिता का उसके प्रति प्रगाढ़ स्नेह है। इसी आधार पर उन्होंने गर्भ में यह संकल्प किया था कि जब तक माता-पिता रहेगें, मैं मुनि नहीं बनूंगा। माता-पिता के इस आग्रह को भी वे टाल नहीं सके और यशोदा नामक कन्या के साथ उनका विवाह हो गया। कालान्तर में यशोदा से एक पुत्री भी उत्पन्न हुई। जिसका नाम प्रियदर्शना रखा गया। युवा होने पर उसका विवाह राजकुमार जमाली से हुआ। इस प्रकार महावीर विवाह बंधन में बंध गये, परन्तु यह बंधन केवल बाहरी था, भीतर से उन्हें नहीं बांध सका। उन्होंने संकल्प किये –

- ✲ गृहस्थ जीवन में यथासंभव ब्रह्मचर्य का पालन करना।
- ✲ छह काय के जीवों की विराधना नहीं करना।
- ✲ रात्रि-भोजन नहीं करना।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार महावीर अविवाहित ही रहे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

महाभिनिष्क्रमण

महावीर के माता-पिता भगवान पार्श्व की परम्परा के उपासक थे। महावीर जब अट्ठाईस वर्ष के हुए तब उनका स्वर्गवास हो गया। माता-पिता की उपस्थिति में दीक्षा न लेने की प्रतिज्ञा पूरी हो गई , वे श्रमण बनने के लिए उत्सुक हो गये। अनुमति प्राप्त करने के लिए बड़े भाई नन्दीवर्धन के पास पहुंचे। भाई ने खिन्न मन से कहा – इधर माता-पिता का निधन और इधर तुम्हारा अभिनिष्क्रमण। मैं इन दो आघातों को एक साथ कैसे सहन करूंगा ? महावीर! मैं चाहता हूँ अब तुम पिताश्री के आसन पर बैठकर शासन करो। महावीर बोले – मुझे शासन में आकर्षण नहीं। मैं आत्मा पर शासन करना चाहता हूँ। भाई के आग्रह पर उन्हें दो वर्ष ओर घर में रुकना पड़ा और तीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने अभिनिष्क्रमण किया। वे अमरत्व की साधना के लिए निकल पड़े। 'णमो सिद्धाणं' सिद्धों को नमस्कार कर, संकल्प की भाषा में वे बोले – **''सव्वं मे अकरणिज्जं पावं कम्मं''**, अर्थात् आज से मेरे लिए सभी पापकर्म अकरणीय हैं। केवलज्ञान होने तक देव, मनुष्य, तिर्यञ्च (पशुजगत) जीवों की ओर से जो भी उपसर्ग उत्पन्न होंगे। उनको समता भाव से सहन करूंगा। पारिवारिक व अन्य सभी जनों से विदा लेकर भगवान ने वहां से विहार कर दिया।

महावीर की साधना

भगवान महावीर ने साढे बारह वर्ष तक कठोर साधना की। साधना के दौरान आने वाले अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों को समभाव से सहन किया। उनके जीवन में अनुकूल उपसर्ग भी आये और प्रतिकूल उपसर्ग भी आये।

ग्वाले का उपसर्ग

कुमारग्राम में भगवान ध्यान में लीन थे, तभी कुछ ग्वाले वहां आये और अपने बैलों को उन्हें संभलाकर गांव में चले गये। थोड़ी देर बाद पुन: लौटकर आये तो देखा उनके बैल वहां नहीं हैं। पूछा-बाबा! हमारे बैल यहाँ चर रहे थे। हम आपको संभलाकर गये थे, वे कहाँ हैं। भगवान मौन रहे। ग्वाले बैलों को ढूंढने के लिए चल पड़े। सारी रात ढूंढते रहे पर बैल नहीं मिले। संयोगवश वे बैल रात्रि में महावीर के पास आकर बैठ गए। ग्वालों ने जब प्रात: वहां पर बैलों को बैठे हुए देखा तो क्रुद्ध हो उठे और उन पर कोड़े बरसाने लगे, तभी इन्द्र ने अवधिज्ञान से देखा और वहां आकर मूर्ख ग्वालों को समझाया – जिन्हें तुम मार रहे हो, वे हमारे तीर्थंकर भगवान हैं। भगवान से इन्द्र ने प्रार्थना की आपकी उम्र बहुत बाकी है, अत: उपसर्ग आयेंगे। आप मुझे अपनी सेवा में रहने की आज्ञा दें। महावीर ने कहा – **'न भूतं न भविष्यति'** ऐसा न कभी हुआ है और न होगा। अर्हत् कभी दूसरों के बल पर साधना नहीं करते। वे अपने सामर्थ्य से ही कर्मों का क्षय करते हैं। अत: मुझे किसी की सहायता नहीं चाहिए।

पैरों पर भात पकाए

भगवान प्राय: ध्यान में लीन रहते थे। एक बार जंगल में वे ध्यान कर रहे थे। वहां एक थका और भूखा पथिक आया। खाना बनाने के लिए इधर-उधर चूल्हा ढूंढ रहा था, पर एक भी पत्थर नहीं मिला। तभी उसे भगवान दिखाई दिये। जिनके कुछ आंगुल की दूरी पर फैले पैर चूल्हे के आकार में प्रतीत हो रहे थे। पथिक ने चरणों के बीच आग प्रज्वलित की और भात (चावल) पकाये। भगवान के पैर झुलस गए, किन्तु उनकी समाधि में कोई फर्क नहीं पड़ा, वे ज्यों के त्यों खड़े रहे।

संगम द्वारा परीक्षा

एक बार इन्द्र ने अपनी देव परिषद में भगवान महावीर के साधना की प्रशंसा की। इन्द्र ने कहा-उन्हें सम्पूर्ण तीन लोक की देवशक्ति मिलकर भी विचलित नहीं कर सकती। सभी देवों ने इस बात का समर्थन किया। प्रथम देवलोक के एक सामानिक देव संगम ने भी यह बात सुनी। उसे इस बात पर विश्वास नहीं हुआ। वह बोला-मैं उसे विचलित कर सकता हूँ और वह भगवान को विचलित करने हेतु वहां से चल पड़ा। भगवान अपनी ध्यान-साधना में लीन थे। संगम देव ने उन्हें विचलित करने हेतु एक रात्रि में बीस मारणान्तिक कष्ट दिये। कभी प्रलयकारी धूलिपात किया तो कभी वज्रमुखी चीटियां बनाकर शरीर को काटा। कभी बिच्छू बनकर डंक मारा तो कभी भीमकाय सर्प बनकर। कभी पैरों एवं दांतों से भगवान को कुचला तो कभी राजा सिद्धार्थ और माता त्रिशला का रूप बनाकर रुदन किया।

महावीर हर कष्ट को समता से सहन कर रहे थे। संगम देव के प्रति आक्रोश के भाव उनके मन में नहीं आये। वे यह सोच रहे थे कि जहां सारी दुनियां मुझे निमित्त बनाकर कर्मों को तोड़ रही है वहां यह मुझे निमित्त बनाकर कर्मों से भारी हो रहा है। संगम भगवान को कष्ट देते-देते थक गया, किन्तु विचलित नहीं कर सका। वह अपने मूल रूप में प्रकट हुआ और भगवान से क्षमा मांगी।

आदिवासियों के बीच

भगवान ने अपना नौवां चातुर्मास अनार्य देश में आदिवासियों के बीच किया। लोगों ने बहुत समझाया – वहां के लोग हिंसक, क्रूर और मांसाहारी होते हैं। वे नर-मांस खाते हैं। परिचय न बताने पर पिटाई करते हैं, शिकारी कुत्ते पीछे छोड़ देते हैं, अत: आप वहां न जायें। भगवान रुके नहीं, विहार कर आदिवासियों के बीच पहुंच गये। एक बार वे एक गांव में जा रहे थे। ग्रामवासी लोगों ने कहा-नग्न! तुम किसलिए हमारे गांव में जा रहे हो, वापस चले जाओ। ठहरने को किसी ने स्थान नहीं दिया, वे वहां से वापस चले आये और सघन वृक्षों के नीचे विश्राम किया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

एक बार वे पूर्व दिशा की ओर मुंह कर खड़े-खड़े सूर्य का आतप ले रहे थे। कुछ लोग सामने आकर खड़े हो गए, पर भगवान ने उनकी ओर नहीं देखा तो वे चिढ़ गये और उन पर थूककर आगे चले गये। भगवान शांत रहे बच्चे उनकी आंखों में धूल फेंक जाते, उन पर पत्थर फेंकते, गाली देते पर महावीर के मन में उनके प्रति भी प्रेम प्रवाहित रहता।

भगवान महावीर ने साढे बारह वर्ष तक साधना की और उन आत्म-शत्रुओं पर विजय प्राप्त की जो साधना में बाधक हैं। वे शत्रु कोई व्यक्ति नहीं, हमारा अहंकार और ममकार है। महावीर विजय प्राप्त कर रहे थे नींद पर, भूख पर तथा मन और शरीर की चंचलता पर।

निद्रा विजय – नींद जीवन का अनिवार्य अंग है। शरीर-शास्त्रीय नियम के अनुसार छह घंटा नींद लेना आवश्यक है। पर महावीर ने इस नियम का अतिक्रमण कर दिया। वे महीनों, वर्षों तक सतत जागते रहे। उनके सामने एक ही काम था। ध्यान, ध्यान और निरन्तर ध्यान। कहा जाता है कि उन्होंने साढ़े बारह वर्ष के साधना काल में कुल एक मुहूर्त्त (४८ मिनिट) नींद ली। प्रश्न हो सकता है कि क्या महावीर को अनिद्रा की बीमारी थी या नींद आती नहीं थी। उन्हें अनिद्रा की बीमारी नहीं थी, नींद आती थी पर वे उसे उड़ाने का प्रयास करते। जब नींद सताती तो वे चंक्रमण करते, खड़े-खड़े ध्यान करते, कायोत्सर्ग बहुत करते थे। इसलिए उन्हें सहज ही नींद कम आती थी।

भूख विजय – महावीर दीर्घ तपस्वी थे। पूरे साधनाकाल में सिर्फ तीन सौ पचास दिन भोजन किया और निरन्तर भोजन कभी नहीं किया। उपवास काल में जल कभी नहीं पिया। उनकी कोई भी तपस्या दो उपवास से कम नहीं थी और उत्कृष्ट में उन्होंने निरन्तर छह मास का उपवास किया। स्वाद विजय के अनेक प्रयोग किये। अरस-सरस, ठंडा-गर्म जैसा भी आहार उन्हें मिलता, वे अनासक्ति के साथ उसे खाते। वे उतना ही खाते जितना शरीर धारण के लिए जरूरी होता।

आसन विजय – शरीर और मन की चंचलता साधना में बाधक है। अत: महावीर घंटों-घंटों ध्यान में प्रतिमा की तरह स्थिर रहते। प्रहर-प्रहर तक अनिमेष प्रेक्षा करते। इस अनिमेष प्रेक्षा से मन की चंचलता दूर होती। सोलह दिन-रात तक निरंतर ध्यान-प्रतिमा की साधना की, जिससे उन्होंने शरीर और मन की चंचलता पर विजय प्राप्त की।

साधना के विविध प्रयोग

भगवान प्राय: मौन रहते। पूछने पर संक्षिप्त-सा हां या ना में उत्तर देते। उनका दृष्टि-संयम अनुत्तर था। वे चलते समय इधर-उधर नहीं देखते। सिर्फ मार्ग को देखते हुए चलते। वे प्रकृति विजेता थे। सर्दी में नंगे बदन घूमते। तिनकों के आसन पर नंगे बदन बैठते। सूर्य के सम्मुख होकर आतापना लेते। अनुकूल-प्रतिकूल हर परिस्थिति को समभाव से सहन करते। साधना करते-करते साढ़े बारह वर्ष बीत गये। ग्रीष्म ऋतु का बैशाख महीना था। शुक्ला दशमी का दिन था। भगवान जंभियग्राम नगर के बाहर ऋजुबालिका नदी के किनारे गोदोहिका आसन में बैठे थे। ध्यान की श्रेणी का आरोहण करते-करते उनकी चेतना अनावरण हो गई। चार घाति कर्मों के बंधन पूर्णत: टूट गये। वे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बन गये। उनका साधना काल सम्पन्न हो गया। अब वे सिद्धि के निकट पहुंच गए।

महावीर का निर्वाण

केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद तीस वर्ष तक वे ग्रामानुग्राम विचरण करते रहे। अनेक भव्य जीवों को उद्बोधित किया। उद्बोधन से प्रभावित हो अनेक लोगों ने संयम स्वीकार किया। जो संयम जीवन स्वीकार करने में अपने आपको असमर्थ पा रहे थे उन्होंने श्रावक धर्म स्वीकार किया।

भगवान महावीर का अंतिम प्रवास पावा में था। कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी की रात्रि में भगवान ने अनशन स्वीकार कर लिया। कार्तिक कृष्णा अमावस्या को विशाल जनमेदिनी को अंतिम देशना दी। देशना (उपदेश) देते-देते ही उन्होंने चार अघाति कर्मों का नाश कर निर्वाण को प्राप्त कर लिया। देवों ने मोड़-मोड़ कर रत्नों से प्रकाश किया, दीपक जलाये। अमावस्या की रात्रि में चारों तरफ प्रकाश ही प्रकाश फैल गया। इस दिन को दीपावली के रूप में मनाया जाता है। वहीं जैनों के लिए यह दिन ऐतिहासिक पर्व का दिन बन गया। इस दिन को वे भगवान महावीर के निर्वाण दिवस के रूप में मनाते हैं।

६. जैन धर्म के मुख्य सम्प्रदाय

वर्तमान जैन शासन की परम्परा भगवान महावीर से संबंधित है। भगवान महावीर इस अवसर्पिणी काल के अन्तिम तीर्थंकर थे। महावीर के प्रथम उत्तराधिकारी बने – गणधर सुधर्मा। उसके बाद आचार्य जम्बू, आचार्य प्रभव आदि के नाम आते हैं। यद्यपि विचार का इतिहास जितना पुराना है, विचार-भेद का इतिहास भी उतना ही पुराना है। भगवान महावीर की उपस्थिति में विचारभेद नहीं था – यह नहीं कहा जा सकता किन्तु विचार भेद होने पर भी उनका तत्त्व निरूपण सबको मान्य था क्योंकि उनकी वाणी में कहीं विसंवाद नहीं था। उनके युग में भी कुछ साधु वस्त्र पहनते थे, कुछ नहीं पहनते थे, पर इस भेद का कोई महत्त्व नहीं था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उसके बाद भी जैन शासन में जब तक एक नेतृत्व करने वाले सक्षम और महान आचार्य थे, तब तक जैन शासन में एकत्व बना रहा। आगे चलकर वस्त्र पहनने और न पहनने के आधार पर जैन शासन का विभाजन हो गया। सबसे पहले वह दो सम्प्रदायों में विभक्त हुआ – श्वेताम्बर और दिगम्बर। जो साधु सफेद वस्त्र धारण करते थे उनका सम्प्रदाय श्वेताम्बर कहलाया और जो साधु वस्त्र नहीं पहनते थे, उनका सम्प्रदाय दिगम्बर कहलाया।

श्वेताम्बर से दिगम्बर शाखा निकली है या दिगम्बर से श्वेताम्बर शाखा निकली है, कहा नहीं जा सकता। प्रत्येक सम्प्रदाय अपने को मूल और दूसरे को अपनी शाखा बताता है। किन्तु किंवदन्ती के अनुसार वीर-निर्वाण ६०९ वर्ष के पश्चात् दिगम्बर सम्प्रदाय का जन्म हुआ, यह श्वेताम्बर मानते हैं और दिगम्बर मान्यता के अनुसार वीर-निर्वाण ६०६ में श्वेताम्बर सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ।

श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायों में मौलिक भेद

दोनों सम्प्रदायों में दार्शनिक सिद्धान्त सम्बन्धी मतभेद इतना नहीं है, जितना नैतिक सिद्धान्त सम्बन्धी मतभेद है। उनमें प्रधानत: कुछ बातों में मतभेद पाया जाता है –

१. श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यता है कि जिस प्रकार पुरुष को मोक्ष का अधिकार है, उसी प्रकार स्त्री भी मोक्ष की अधिकारी है। १९वें तीर्थंकर मल्लिनाथ स्वयं स्त्री थीं। दिगम्बर सम्प्रदाय में स्त्री की मुक्ति को स्वीकार नहीं किया गया। स्त्री को मोक्ष की अधिकारिणी नहीं माना गया।

२. श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार केवली भगवान भी कवल आहार करते हैं। क्षुधा, पिपासा आदि ग्यारह परीषह केवली के भी होते हैं। दिगम्बर परम्परा के अनुसार केवली के भूख-प्यासादि की वेदना नहीं होती। वे बिना भोजन के जीवन निर्वाह करते हैं।

३. श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार यदि साधु संयम में सहयोगी आवश्यक उपकरणों (वस्त्र, पात्र आदि) को रखता है तो भी वह मोक्ष का अधिकारी हो सकता है पर दिगम्बर परम्परा के अनुसार वस्त्र, पात्र आदि धारण करने वाला साधु मोक्ष का अधिकारी नहीं हो सकता।

४. श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार महावीर का विवाह हुआ था। वे सहज विरक्त थे। विवाह करने की इच्छा नहीं थी। पर माता-पिता के आग्रह से उन्होंने विवाह किया। दिगम्बर परम्परा के अनुसार महावीर अविवाहित ही रहे।

५. श्वेताम्बर आचारांग, सूत्रकृतांग आदि मूल द्वादशांगी को स्वीकार करते हैं और यह मानते हैं कि बारह अंगों में से अंतिम अंग दृष्टिवाद आज उपलब्ध नहीं है, पर शेष आगम आज भी उपलब्ध हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार काल के दुष्प्रभाव में सारे ही आगम लुप्त हो गए। वे वर्तमान में उपलब्ध आगमों की प्रामाणिकता को नहीं स्वीकार करते।

इस प्रकार प्रारम्भ में जैन शासन कई शताब्दियों तक अखण्ड रहा और फिर वह श्वेताम्बर और दिगम्बर –इन दो शाखाओं में विभक्त हुआ। शताब्दियों तक यह क्रम चलता रहा। फिर धीरे-धीरे समय के साथ ये दोनों शाखाएँ अनेक उपशाखाओं में विभक्त हो गईं।

श्वेताम्बर के मुख्य सम्प्रदाय

श्वेताम्बर-परम्परा में मुख्य तीन धाराएँ प्रवाहित हुईं – १. मूर्तिपूजक, २. स्थानकवासी, ३. तेरापंथ

१. मूर्तिपूजक - जो मूर्ति-पूजा में विश्वास करते हैं, वे मूर्तिपूजक कहलाते हैं। आध्यात्मिक विकास के लिए वे मूर्तिपूजा को आवश्यक मानते हैं अत: वे प्रतिदिन मंदिर जाकर चैत्य वंदन करते हैं तथा अष्ट प्रकार की पूजा, आरती इत्यादि क्रियाएँ करते हैं।

२. स्थानकवासी - इस सम्प्रदाय का उद्‌भव मूर्ति-पूजा के अस्वीकार पक्ष में हुआ। विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में लोंकाशाह ने मूर्ति-पूजा का विरोध किया और आचार की कठोरता का पक्ष प्रबल किया। ये गृहस्थ थे। इनकी परम्परा में ऋषि लवजी, आचार्य धर्मसिंहजी और आचार्य धर्मदासजी प्रतिभाशाली आचार्य हुए। आचार्य धर्मदासजी के निन्यानवे शिष्य थे। उन्होंने अपने विद्वान शिष्यों को बाईस भागों में बाँटा और विभिन्न प्रान्तों में उन्हें धर्म-प्रचार करने के लिए भेजा। बाईस भागों में बाँटने के कारण इसे बाईस-सम्प्रदाय या बाईस टोला के नाम से जाना जाने लगा। आगे चलकर स्थानकों की मुख्यता के कारण यही 'स्थानकवासी' सम्प्रदाय के नाम से पहचाना जाने लगा। वर्तमान में इसका नाम 'श्रमण-संघ' कर दिया है और यह भी अनेक विभागों में विभक्त दिखाई देता है।

३. तेरापंथ - तेरापंथ का उद्‌भव स्थानकवासी सम्प्रदाय से हुआ। इसके अलग होने का मुख्य कारण बना – आचार-विचार की भिन्नता। स्थानकवासी सम्प्रदाय के तत्कालीन सम्प्रदायों में एक सम्प्रदाय के प्रमुख थे – आचार्य रघुनाथजी। आचार्य भिक्षु वि.सं. १८०८ में उनके पास दीक्षित हुए। आचार-विचार संबंधी भेद को लेकर वि.सं. १८१७ चैत्र शुक्ला नवमी को उन्होंने उस सम्प्रदाय से अपना संबंध-विच्छेद कर लिया। वह दिन आचार्य भिक्षु का महा-अभिनिष्क्रमण दिवस कहलाया।

आचार्य भिक्षु का उद्देश्य किसी सम्प्रदाय को जन्म देना नहीं था। वे शुद्ध आचार और विचार के पक्षपाती थे। उन्होंने आगम का दोहन कर आगमसम्मत राह पर अपने कदम बढ़ाए। **'महाजनो येन गत: स पन्था:'** इस सूक्त के अनुसार वे जिस मार्ग पर चले वह राजमार्ग बन गया। लोगों ने उसका अनुसरण किया। वह मार्ग तेरापंथ के रूप में प्रसिद्ध हुआ। हालांकि यह नाम जिसके द्वारा रखा गया, उनके सामने संख्या की ही प्रधानता थी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

एक स्थान पर तेरह श्रावकों को धर्मोपासना करते देख उसने तेरापंथी नाम दे दिया। पर आचार्य भिक्षु ने अपनी प्रत्युत्पन्न मेधा से इस नाम की सार्थक अभिव्यक्ति देते हुए कहा – 'हे प्रभो! यह तेरापंथ' अर्थात् प्रभो! यह आपका पंथ है। हम इस पथ के पथिक हैं। इसका दूसरा अर्थ उन्होंने यह भी किया कि पाँच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति – इन तेरह नियमों का जो पालन करता है, वह तेरापंथी है। तेरापंथ की स्थापना का प्रथम दिन है, वि.सं. १८१७, आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा, केलवा (मेवाड़)।

तेरापंथ की एकसूत्रता के लिए आचार्य भिक्षु ने मर्यादाओं का निर्माण किया। शिष्य प्रथा को समाप्त किया। थोड़े ही समय में तेरापंथ एक आचार्य, एक आचार और एक विचार के लिए प्रसिद्ध हो गया। वर्तमान में आचार्य महाप्रज्ञ इस संघ का नेतृत्व कर रहे हैं।

दिगम्बर के मुख्य सम्प्रदाय

दिगम्बर-परम्परा के मुख्य सम्प्रदाय निम्नलिखित हैं – १. भट्टारक सम्प्रदाय, २. तेरहपंथ और बीसपंथ, ३. तारणपंथ।

१. भट्टारक सम्प्रदाय – चौथी, पाँचवीं शताब्दी में जैन साधुओं में चैत्यवास (मंदिर निवास) की प्रवृत्ति में वृद्धि हुई और एक वर्ग विशेष ने इसको अपने जीवन का स्थायी आधार बना लिया। ये ही मध्यकाल में आते-आते भट्टारक सम्प्रदाय के जनक बने। इनके कारण अनेक मन्दिर, भट्टारकों की गद्दियां एवं मठ आदि स्थापित हो गए तथा इनमें चैत्यवासी साधु मठाधीश बनकर स्थायी रूप से रहने लगे। इनका झुकाव परिग्रह और उपभोग के साधनों की ओर दिखाई देने लगा। धीरे-धीरे यह वर्ग वस्त्र की ओर आकर्षित होने लगा। इसका प्रारंभ वसन्तकीर्ति (१३वीं सदी) द्वारा मांडव दुर्ग (मांडलगढ़ – राजस्थान) में किया गया। भट्टारक प्रथा भी लगभग यहीं से प्रारम्भ हुई।

दिगम्बर भट्टारक नग्न रूप को पूज्य मानते थे और दिगम्बर मूर्तियों का ही निर्माण कराते थे, साथ ही यथा अवसर दिगम्बर मुद्रा भी धारण करते थे। ये मठाधीश बनकर रहते थे तथा वहीं से तीर्थों एवं मठों की समस्त गतिविधियों का संचालन करते थे। पीठाधीश भट्टारकों के उत्तराधिकारी ही इन मठों के स्वामी होते थे। इस प्रकार भट्टारकों के आचार में कुछ शैथिल्य आया किन्तु दूसरी ओर उससे एक बड़ा लाभ यह हुआ कि इन भट्टारक गद्दियों और मठों में विशाल शास्त्र भण्डारों से युक्त अनेक विद्या-केन्द्र स्थापित हो गये। मध्यकालीन साहित्य का सृजन प्राय: इसी प्रकार के केन्द्रों में हुआ। इसकी उपयोगिता के कारण भट्टारक गद्दियां प्राय: सभी प्रमुख नगरों में स्थापित हो गयीं और मन्दिरों में अच्छा शास्त्र भण्डार रहने लगा। यहीं से प्राचीन शास्त्रों की लिपि-प्रतिलिपि कराकर विभिन्न केन्द्रों में आदान-प्रदान किया जाने लगा। आज भी भट्टारक युग में प्रतिलिपि कराए गये अनेक प्राचीन ग्रंथ जयपुर, जैसलमेर, ईडर, कारंजा,मूडबिही, कोल्हापुर आदि के बड़े-बड़े शास्त्र भण्डारों में सुरक्षित हैं। जैन संघ और सम्प्रदाय को भट्टारकों की यह देन अविस्मरणीय है।

२. तेरहपंथ और बीसपंथ – भट्टारक परम्परा के विरोध में विक्रम की सत्रहवीं शदी में पं. बनारसीदास ने एक नए पंथ को जन्म दिया जो तेरहपंथ कहलाया। इन्हें अपने आपको तेरहपंथ कहने पर भट्टारकों के अनुयायियों ने अपने आपको बीसपंथी कहना प्रारंभ कर दिया। तेरहपंथ और बीसपंथ के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की उपपत्तियाँ हैं। इस सम्बन्ध में पं. जुगमोहनलाल के अनुसार – ''उस समय देश में भट्टारकों की बीस प्रमुख गद्दियाँ थीं। उन्हें अपना गुरु मानने वाले बीसपंथी कहलाये तथा जो तेरह प्रकार के चारित्र का पालन करने वाले शुद्धाचारी मुनियों के उपासक थे वे तेरापंथी कहलाये। वस्तुत: तेरहपंथ और बीसपंथ में कोई खास भेद नहीं है, मात्र पूजा पद्धति में ही अन्तर है। बीसपंथी भगवान की पूजा में फल, फूल आदि चढ़ाते हैं जबकि तेरहपंथी फल, फूल आदि सचित्त पदार्थ नहीं चढ़ाते। वे चावल आदि सूखे पदार्थ ही चढ़ाते हैं।

३. तारणपंथ – पंद्रहवीं शताब्दी में जिस समय मुस्लिम आक्रांताओं ने जैन मूर्तिकला और स्थापत्य पर काफी आघात पहुंचा दिया था उसी समय एक तरण नामक व्यक्ति ने इस पंथ को जन्म दिया। जो आगे चलकर संत तारण के नाम से विख्यात हुआ। यह पंथ मूर्ति-पूजा के विरोध में उत्पन्न हुआ। संत तरण के द्वारा प्रकृपित होने के कारण यह पंथ तारणपंथ के नाम से ख्यात हुआ। संत तारण ने १४ ग्रंथों की रचना की। इनके अनुयायी मूर्तिपूजा नहीं करते। वे अपने चैत्यालयों में विराजमान शास्त्रों की पूजा करते हैं। इनके यहां संत तारण द्वारा रचित ग्रंथों के अतिरिक्त दिगम्बर जैनाचार्यों के ग्रंथों की भी मान्यता है। संत तारण का प्रभाव मध्य प्रांतों के ही कुछ क्षेत्रों तक सीमित रहा, जहां इनके अनुयायी आज भी हैं।

७. जैन साहित्य

धार्मिक आस्था एवं धर्म के प्रचार-प्रसार में उसके मौलिक एवं आधारभूत वाङ्मय का विशिष्ट महत्त्व होता है। यही कारण है कि विश्व के प्रत्येक धर्म में उनके पवित्र ग्रन्थ हैं, जिनमें उस धर्म के मूल सिद्धान्त, आदेश और उपदेश सन्निहित हैं। वैदिक परम्परा में 'वेद', बौद्धों में 'त्रिपिटक', ईसाइयों में 'बाइबिल', पारसियों में 'अवेस्ता' और मुस्लिमों में 'कुरान शरीफ' ऐसे ही पवित्र ग्रंथ हैं। इसी क्रम में जैन धर्मावलम्बियों के धर्मग्रंथों को 'आगम' कहा जाता है। जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर की वाणी इन्हीं आगम ग्रंथों में आज भी सुरक्षित है।

आगम का अर्थ – आगम का अर्थ है – आप्त पुरुषों का उपदेश। **'आप्तोपदेश: आगम:'**, जो यथार्थ को जानता है तथा यथार्थ का उपदेश देता है, वह आप्त होता है, उसकी वाणी आगम है। आगम शब्द 'आ' उपसर्ग एवं 'गम्' धातु से निर्मित हुआ है। जिसमें 'आ' का अर्थ पूर्ण और 'गम' का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अर्थ गति या प्राप्ति है। गति अर्थ वाली धातुओं का ज्ञान अर्थ भी होता है अत: वह ग्रन्थ या शास्त्र, जिससे पदार्थों का परिपूर्णता के साथ मर्यादित ज्ञान प्राप्त हो, वह आगम है।

आगमों की भाषा - जैन आगमों की भाषा अर्धमागधी है। आगम साहित्य के अनुसार तीर्थंकर अर्धमागधी भाषा में उपदेश देते थे। यह उस समय की जनभाषा थी। अर्धमागधी प्राकृत भाषा का ही एक रूप है। मगध के आधे भाग में बोली जाने के कारण यह भाषा अर्धमागधी कहलाती है। इसमें मागधी के साथ अन्य अठारह देशी भाषाओं के लक्षण मिश्रित हैं, इसलिए भी इसे अर्धमागधी कहते हैं।

आगम विभाग - जैन आगमों को प्रणेता की दृष्टि से दो भागों में बांटा जा सकता है – अंग-प्रविष्ट और अंगबाह्य। इन्हें अंग और उपांग भी कहा जाता है। गौतम आदि गणधरों द्वारा रचित श्रुत को द्वादशांग या अंगप्रविष्ट कहा जाता है तथा भद्रबाहु आदि स्थविर – वृद्ध आचार्यों द्वारा रचित आगमों को अंगबाह्य कहा जाता है। आगमों की सम्पूर्ण संख्या के विषय में मतभेद पाया जाता है। कुछ आचार्य आगमों की संख्या ८४, कुछ ४५ तो कुछ ३२ मानते हैं। श्वेताम्बर स्थानकवासी और तेरापंथी ३२ आगम मानते हैं। जो पाँच भागों में विभक्त हैं –

१. अंगप्रविष्ट – ११ २. अंगबाह्य – १२ ३. छेदसूत्र – ४ ४. मूलसूत्र – ४ ५. आवश्यकसूत्र – १

अंगप्रविष्ट (द्वादशांग)

भगवान महावीर के ग्यारह गणधरों ने जो साहित्य रचा, वह अंगप्रविष्ट कहलाता है। इसका मुख्य आधार है त्रिपदी – उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य। गणधर प्रश्न करते हैं और तीर्थंकर त्रिपदी के उपदेश से उन्हें समाधान प्रदान करते हैं। इस प्रकार रचित इस द्वादशांगी का स्वरूप सभी तीर्थंकरों के समक्ष नियत होता है।

बारह अंगों के नाम इस प्रकार हैं – १. आचारांग, २. सूत्रकृतांग, ३. स्थानांग, ४. समवायांग, ५. व्याख्या प्रज्ञप्ति (भगवती), ६. ज्ञाताधर्मकथा, ७. उपासकदशा, ८. अन्तकृतदशा, ९. अनुत्तरोपपातिक दशा, १०. प्रश्नव्याकरण, ११. विपाकसूत्र, १२. दृष्टिवाद

अंगबाह्य (उपांग)- भगवान के मुक्त व्याकरण (खुले प्रश्नोत्तर, उपदेश) के आधार पर जिन ग्रन्थों की रचना स्थविर करते हैं, वे अंगबाह्य या उपांग कहलाते हैं। उनका स्वरूप सदैव नियत नहीं होता। उपांग बारह हैं – १. औपपातिक, २. राजप्रश्नीय, ३. जीवाजीवाभिगम, ४. प्रज्ञापना, ५. सूर्यप्रज्ञप्ति, ६. चन्द्रप्रज्ञप्ति, ७. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, ८. कल्पिका, ९. कल्पवतंसिका, १०. पुष्पिका, ११. पुष्पचूलिका, १२. वृष्णिदशा

मूलसूत्र- जिन शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन सम्यक्त्व-मूल को दृढ़ करने में हेतुभूत होता है, वे मूलसूत्र कहलाते हैं। इनमें मुख्य रूप से साधु जीवन के मूलभूत नियमों, महाव्रत, समिति आदि का उपदेश है, इसलिए भी इन्हें मूलसूत्र कहा जाता है। मूलसूत्र चार हैं – १. उत्तराध्ययन, २. दशवैकालिक, ३. नन्दीसूत्र, ४. अनुयोगद्वार।

छेदसूत्र- जिस प्रकार फटे हुए वस्त्र को थिगल आदि लगाकर जोड़ दिया जाता है, उसी प्रकार खण्डित संयम को प्रायश्चित्त आदि के द्वारा शुद्ध किया जाता है। उस शुद्धि की व्याख्या – व्यवस्था करने वाले सूत्र छेदसूत्र कहलाते हैं। इन सूत्रों में साधु-साध्वियों के जीवन से सम्बद्ध आचार-विषयक नियमों का विश्लेषण है। इन्हें एकान्त में केवल कुछ विशिष्ट शिष्यों को ही पढ़ाया जाता है। नियम भंग हो जाने पर साधु-साध्वियों द्वारा अनुसरणीय अनेक प्रायश्चित्त विधियों का इनमें विश्लेषण है। छेदसूत्र चार हैं – १. निशीथ, २. व्यवहार, ३. वृहत्कल्प, ४. दशा श्रुतस्कन्ध।

आवश्यक सूत्र- अवश्य से आवश्यक शब्द बना है। श्रमण और श्रावक के लिए जो अवश्य करणीय है, वह आवश्यक कहलाता है। यह छ: भागों में विभक्त है -

१. **सामायिक** – सावद्य योग का प्रत्याख्यान और समता का अभ्यास करना।

२. **चतुर्विंशति स्तव** – ऋषभ आदि चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करना।

३. **वन्दन** – गुरु चरणों में वन्दन करना, सुखपृच्छा करना।

४. **प्रतिक्रमण** – प्रमादवश हुई भूलों का मिच्छामि दुक्कडं (प्रायश्चित्त) करना।

५. **कायोत्सर्ग** – देहभाव का विसर्जन और आत्मभाव का सर्जन करना।

६. **प्रत्याख्यान** – भविष्य में सावद्य योग (पापकारी प्रवृत्ति) न करने का संकल्प करना।

आगमों का व्याख्या साहित्य

जैन आगम सूत्रात्मक शैली में गणधरों के द्वारा लिखे गये। सूत्रात्मक शैली संक्षिप्त होने के कारण उससे सूत्रों का अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अत: बाद में अर्थ की स्पष्टता के लिए आचार्यों ने आगमों पर व्याख्या साहित्य लिखा। वह व्याख्या साहित्य आज अनेक रूपों में उपलब्ध होता है, जिनमें मुख्य हैं – १. निर्युक्ति, २. भाष्य, ३. चूर्णि, ४. टीका।

निर्युक्ति और निर्युक्तिकार- व्याख्यात्मक ग्रंथों में निर्युक्ति का स्थान सर्वोपरि है। निर्युक्ति को परिभाषित करते हुए लिखा गया – **''णिज्जुत्ता ते अत्था, जं बद्धा तेण होइ णिज्जुत्ती''** – अर्थात् सूत्र में निश्चित किया हुआ अर्थ जिसमें निबद्ध हो, उसे निर्युक्ति कहा जाता है। निर्युक्ति आगमों पर आर्या छंद में प्राकृत गाथाओं में लिखा हुआ संक्षिप्त विवेचन है। इसमें विषय का प्रतिपादन करने के लिए अनेक कथानक, उदाहरण आदि का उपयोग किया गया है। आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) ने दस निर्युक्तियाँ लिखीं।

भाष्य और भाष्यकार- आगमों और निर्युक्तियों के आशय को स्पष्ट करने के लिए भाष्य लिखे गये। निर्युक्तियों की भाँति भाष्य भी प्राकृत गाथाओं में संक्षिप्त शैली में लिखे गये हैं।

आचार्य जिनभद्रगणी और संघदासगणी – ये दोनों प्रसिद्ध भाष्यकार हुए हैं। भाष्य साहित्य में अनेक प्राचीन अनुश्रुतियाँ, लौकिक कथाएँ, निर्ग्रन्थों के आचार-विचार की विधियों का प्रतिपादन है।

चूर्णि और चूर्णिकार- आगमों के ऊपर लिखे गए व्याख्या साहित्य में चूर्णियों का स्थान बहुत महत्त्व का है। चूर्णियाँ गद्य में लिखी गई हैं। इसकी भाषा प्राकृत और संस्कृत मिश्रित है। संभवत: पद्य में लिखे गये निर्युक्ति और भाष्य साहित्य में जैन धर्म के सिद्धान्तों का विस्तार से प्रतिपादन करने के लिए अधिक अवकाश नहीं था। किन्तु चूर्णियाँ गद्य में लिखी गई अत: इसका क्षेत्र निर्युक्ति और भाष्य से विस्तृत है।

चूर्णियाँ किसी एक आचार्य द्वारा नहीं लिखी गई। अलग-अलग आचार्यों के द्वारा लिखी गई, जिनमें जिनदासमहत्तर, सिद्धसेनसूरि, प्रलम्बसूरि, अगस्त्यमुनि आदि का नाम प्रसिद्ध है।

टीका और टीकाकार - निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि की भाँति आगमों पर विस्तृत टीकाएँ भी लिखी गई, जो आगम सिद्धान्त को समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। ये टीकाएँ संस्कृत में हैं। आगमों के प्रथम संस्कृत टीकाकार हरिभद्रसूरि हैं। आचार्य अभयदेवसूरि ने नौ अंगों पर टीकाएं लिखीं।

स्तबक और जोड़ - आगम के व्याख्याकारों की परम्परा आगे भी चली। विक्रम की अठारहवीं शताब्दी में पार्श्वचन्द्रसूरि तथा स्थानकवासी परम्परा के धर्मसी मुनि ने गुजराती-राजस्थानी मिश्रित भाषा में आगमों पर स्तबक लिखे।

विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी में श्रीमद्भिक्षुस्वामी और जयाचार्य आगम के यशस्वी व्याख्याता हुए। भिक्षुस्वामी ने आगम के सैकड़ों दुरुह स्थलों पर प्रकीर्ण व्याख्याएँ (जोड) लिखी हैं। जयाचार्य ने आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध, ज्ञाता, प्रज्ञापना, भगवती सूत्र आदि पर पद्यात्मक व्याख्या जोड की रचना की। इस प्रकार जैन आगमों का व्याख्या-साहित्य बहुत-ही समृद्ध है। इनके आधार पर हम जैन-दर्शन के सूक्ष्म सिद्धान्तों को आसानी से समझ सकते हैं।

परवर्ती प्राकृत साहित्य- दिगम्बर परम्परा के अनुसार द्वादशांग आगम का उच्छेद हो गया है, केवल दृष्टिवाद का कुछ अंश शेष बचा है, जो षट्खण्डागम के रूप में मौजूद है।

षट्खण्डागम- आगम लोप के पश्चात् दिगम्बर परम्परा में जो साहित्य रचा गया, उनमें षट्खण्डागम और कषाय-प्राभृत का सर्वोपरि महत्त्व है। ऐसा उल्लेख मिलता है कि दृष्टिवाद अंग के पूर्वगत-ग्रंथ का कुछ अंश ईस्वी की प्रारम्भिक शताब्दी में श्रीधर सेनाचार्य को ज्ञात था। उन्होंने देखा कि यदि इस शेषांश को भी लिपिबद्ध नहीं किया जायेगा तो जिनवाणी का सर्वथा अभाव हो जायेगा। फलत: उन्होंने श्रीपुष्पदंत और श्रीभूतबलि सदृश मेधावी ऋषियों को बुलाकर गिरनार की चन्द्रगुफा में उसे लिपिबद्ध करा दिया। उन दोनों ऋषिवरों ने उस लिपिबद्ध श्रुतज्ञान को ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन सर्व संघ के समक्ष उपस्थित किया था। वह पवित्र दिन 'श्रुतपंचमी' के नाम से प्रसिद्ध है।

षट्खण्डागम के छ: खण्ड हैं – जीवट्ठाण, खुद्दाबंध, बंधस्वामित्व विचय, वेदना, वर्गणा और महाबंध।

वीरसेन आचार्य ने इन छहों खण्डों पर ७२ हजार श्लोक प्रमाण धवला टीका की रचना की। आगे चलकर नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने षट्खण्डागम के इन खण्डों के आधार पर गोम्मटसार लिखा, जिसे जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड – नाम से दो भागों में विभाजित किया गया।

रचना की दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। पहले पुष्पदन्त आचार्य के सूत्र, फिर वीरसेन आचार्य की धवला टीका और फिर इस टीका में उद्धृत गद्य और पद्यमय प्राचीन उद्धरण।

कषायपाहुड - आचार्य धरसेन के समय के आस-पास ही गुणधर नाम के एक और आचार्य हुए, उन्हें भी द्वादशांग श्रुत का कुछ ज्ञान था। इन्होंने कषायपाहुड नाम के सिद्धान्त ग्रन्थ की रचना की। कषायपाहुड के ऊपर भी वीरसेन ने टीका लिखी, किन्तु वे २० हजार श्लोक प्रमाण लिखकर ही बीच में स्वर्गवासी हो गये। इस महान् कार्य को उनके सुयोग्य शिष्य आचार्य जिनसेन ने ईस्वी सन् ८३७ में पूर्ण किया। यह टीका जयधवला के नाम से जानी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जाती है। यह ६० हजार श्लोक प्रमाण है। धवला और जयधवला संक्रान्तिकाल की रचनाएँ हैं अतः इनमें संस्कृत और प्राकृत का मिश्रण है।

पंचास्तिकाय-समयसार-प्रवचनसार- दिगम्बर सम्प्रदाय में भगवान महावीर और गौतम गणधर के बाद आचार्य कुंदकुंद का नाम लिया जाता है। कुंदकुंद के इन तीनों ग्रंथों को नाटकत्रय अथवा प्राभृतत्रय के नाम से भी जाना जाता है।

पंचास्तिकाय - पंचास्तिकाय आचार्य कुन्दकुन्द की प्रथम कृति मानी जाती है। यह दो खण्डों में विभक्त है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में अस्तिकाय द्रव्यों का विशद वर्णन किया गया है। अस्तिकाय पांच हैं – धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय।

समयसार- आचार्य कुन्दकुन्द का समयसार ग्रन्थ अध्यात्म विषय का सर्वोत्तम ग्रन्थ है। समयसार में समय का अर्थ है – आत्मा और सार का अर्थ है – शुद्ध स्वरूप। इसलिए समयसार का अर्थ है – आत्मा के शुद्ध स्वरूप का कथन। समयसार ग्रन्थ में दस अधिकार हैं, जिसमें जीव और अजीव के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है।

प्रवचनसार - प्रवचनसार आचार्य कुन्दकुन्द की महत्त्वपूर्ण कृति नानी जाती है। यह समयसार के बाद की रचना है तथा सीमंधर स्वामी के समवसरण से लौटने के पश्चात् उनके प्रवचनों का सार के रूप में लिखी गई कृति है, इसीलिए इसका नाम भी प्रवचनसार रखा गया है। यह ग्रंथ तीन भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में ज्ञान की चर्चा है इसलिए उनका नाम ज्ञानाधिकार है। दूसरे में ज्ञेय तत्त्व की चर्चा है इसलिए उसका नाम ज्ञेयाधिकार है। तीसरे भाग में चारित्र का वर्णन मिलता है, इसलिए उसका नाम चारित्राधिकार है

संस्कृत साहित्य - जैन आचार्यों ने व्याकरण, छन्दशास्त्र, अलंकारशास्त्र, गणित, नीतिशास्त्र तथा न्याय विषयक अनेक ग्रन्थों की संरचना कर संस्कृत साहित्य का भण्डार भरा। उन्होंने गद्य, पद्य एवं चम्पू – तीनों विधाओं में अनेक काव्य ग्रन्थ लिखे। सिद्धहेम शब्दानुशासन, छन्दानुशासन, काव्यानुशासन, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, तिलकमंजरी, सप्तसंधान काव्य, भरतबाहुबलि महाकाव्य, षड्दर्शनसमुच्चय, तत्त्वार्थवार्तिक, अष्टसहस्री आदि सैकड़ों ग्रन्थ जैन आचार्यों की देन है। वर्तमान युग में आचार्यश्री तुलसी एवं आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने मनोनुशासनम्, जैन सिद्धान्त दीपिका, भिक्षुन्याय कर्णिका, आचारांग भाष्यम् आदि अनेक ग्रन्थरत्नों से संस्कृत साहित्य की अभिवृद्धि की है। इसके साथ-साथ तमिल, कन्नड, गुजराती, मराठी, हिन्दी, राजस्थानी आदि अनेक भाषाओं में भी जैन साहित्य उपलब्ध होता है।

८. जैनकला

जैन परम्परा में कला शब्द बहुत ही व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। भगवान ऋषभ ने अपने राज्यकाल में पुरुषों के लिए बहत्तर और स्त्रियों के लिए चौंसठ कलाओं का निरूपण किया। टीकाकारों ने कला का अर्थ वस्तु-परिज्ञान किया है। इसमें लेख, गणित, चित्र, नृत्य, गायन, युद्ध, काव्य, वेशभूषा, स्थापत्य, पाक, मनोरंजन आदि अनेक परिज्ञानों का समावेश किया गया है।

धर्म भी एक कला है। यह जीवन की सबसे बड़ी कला है। कहा गया है जो व्यक्ति सब कलाओं में श्रेष्ठ धर्मकला को नहीं जानता, वह बहत्तर कलाओं में कुशल होते हुए भी अकुशल है।

जैन चित्रकला - भारतवर्ष में चित्रकला का भी बड़ा प्राचीन इतिहास है। प्राचीन उपलब्ध चित्रों में सौन्दर्यानुभूति के साथ आत्मिकरस, साम्प्रदायिक मान्यताएँ एवं नव-जागरण के सन्देश देने वाले धार्मिक चित्रों की ही अधिकता है। यद्यपि कलाशास्त्री जैन चित्रकला को पृथक् स्थान नहीं देते, पर जैनचित्रों की भावव्यंजना और प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति साधारण चित्रकला की अपेक्षा भिन्न है। जैनाचार्यों ने अपने हाथों से जैन धर्म के सिद्धान्त और आख्यानों को स्पष्ट करने के लिए चित्रों का निर्माण किया है तथा जैन राजाओं ने अपनी कलाप्रियता का परिचय देने के लिए मन्दिरों, गुफाओं और ग्रंथों में कुशल चित्रकारों द्वारा चित्रों का निर्माण कराया है। इस प्रकार धर्माश्रय और राज्याश्रय पाकर जैन चित्रकला में आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक और प्राकृतिक रहस्यों की अभिव्यंजना की गयी है।

चित्रकला के आकार - जैन चित्रकला हमें विभिन्न रूपों में प्राप्त होती है, जिनमें मुख्य हैं – १. भित्तिचित्र, २. ताड़पत्रीय चित्र, ३. कागज पर चित्र, ४. काष्ठचित्र, ५. पटचित्र (वस्त्र पर चित्र)।

जैन चित्रकला का प्रारम्भ तत्त्व के स्वरूप को समझाने की दृष्टि से हुआ था। गुरु अपने शिष्यों को विश्व-व्यवस्था के तत्त्व चित्रमय स्थापना करके समझाते थे। स्थापना तदाकार और अतदाकार – दोनों प्रकार की होती है। तदाकार से तात्पर्य यह है कि जिस तत्त्व को समझाना है उसी तत्त्व का आकार स्थापित कर उसे समझाना। अतदाकार से तात्पर्य यह है कि जिस तत्त्व को समझाना है उस आकार की स्थापना न करके अपितु किसी अन्य वस्तु के आकार की स्थापना करके उसमें उस तत्त्व को समझाना अतदाकार स्थापना है। तदाकार स्थापना के दो प्रयोजन हैं –तत्त्व का प्रकाशन करना और उस तत्त्व की स्मृति को बनाये रखना। तत्त्व प्रकाशन स्थापना के आधार पर चित्रकला और स्मृति हेतुक स्थापना के आधार पर मूर्तिकला का विकास हुआ।

जैन मूर्तिकला- कालक्रम से जैन परम्परा में मूर्तिपूजन का कार्य प्रारम्भ हुआ। सिद्धान्त की दृष्टि से इसमें दो धाराएँ हैं – कुछ सम्प्रदाय मूर्ति

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

की पूजा करते हैं तथा कुछ सम्प्रदाय नहीं करते। परन्तु कला की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण विषय है। जैन धर्म में मूर्तिपूजा संबंधित उल्लेख प्राचीनतम काल से पाये जाते हैं। जैनागमों में जैन तीर्थंकरों एवं यक्षों की मूर्तियों से सम्बन्धी उल्लेख तो पाये ही जाते हैं किन्तु इसके अतिरिक्त कलिंग नरेश खारवेल के ई.पू. द्वितीय शती के हाथीगुम्फा वाले शिलालेख से यह प्रमाणित होता है, कि नंदवंश के राज्यकाल अर्थात् ई.पू. चौथी-पांचवी शती में जिन भगवान की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित की जाती थी।

वर्तमान में सबसे प्राचीन जैन मूर्ति पटना के लोहनीपुर स्थान से प्राप्त हुई है। यह मूर्ति मौर्यकाल की मानी जाती है और पटना म्यूजियम में रखी हुई है। इसकी चमकदार पॉलिश अभी तक भी ज्यों की त्यों बनी हुई है।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा से जो मूर्तियां प्राप्त हुई हैं, उनसे भारतीय मूर्तिकला का इतिहास ही बदल गया है। उसकी परम्परा सहस्रों वर्ष पूर्व की प्रमाणित हो चुकी है। लोहनीपुर से प्राप्त मस्तकहीन नग्न मूर्ति और हड़प्पा से प्राप्त मस्तकहीन नग्न मूर्ति में बड़ा साम्य पाया जाता है। पूर्वोत्तर परम्परा के आधार पर हड़प्पा की मूर्ति वैदिक और बौद्ध मूर्ति प्रणाली से सर्वथा विसदृश और जैन प्रणाली से पूर्णतया अनुकूल सिद्ध होती है। लाहौर, मथुरा, लखनऊ, प्रयाग आदि के म्यूजियमों में भी अनेक जैन मूर्तियाँ मौजूद हैं। इनमें से कुछ गुप्तकालीन हैं। श्री वासुदेव उपाध्याय ने लिखा है कि मथुरा में चौबीसवें तीर्थंकर महावीर की एक मूर्ति मिली है, जो कुमारगुप्त के समय तैयार की गई थी। वास्तव में मथुरा में जैन-मूर्तिकला की दृष्टि से भी बहुत काम हुआ है। श्री रायकृष्णदास ने लिखा है कि मथुरा की शुंगकालीन कला मुख्यत: जैन सम्प्रदाय की है। श्रवणबेलगोला की प्रसिद्ध जैन-मूर्ति तो संसार की अद्भुत वस्तुओं में से है। यह गोमटेश्वर बाहुबलि की ५७ (सतावन) फुट ऊँची मूर्ति एक ही पत्थर में उत्कीर्ण है। इसकी स्थापना राजमल्ल नरेश के प्रधानमंत्री तथा सेनापति चामुण्डराय ने ई. सन् ९७३ में की थी। यह अपने अनुपम सौन्दर्य और अद्भुत कान्ति से प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। यह विश्व को जैन-मूर्तिकला की अनुपम देन है। मध्य भारत (वडवानी) में भगवान ऋषभदेव की ८४ फुट ऊँची मूर्ति एशिया की सबसे बड़ी मूर्ति मानी जाती है।

जैन स्थापत्य कला- जैन स्थापत्य कला के सर्वाधिक प्राचीन अवशेष उदयगिरि, खण्डगिरि एवं जूनागढ़ की गुफाओं में मिलते हैं। स्थापत्य की दृष्टि से चित्तौड़ का 'कीर्ति-स्तम्भ', आबू के मन्दिर एवं रणकपुर के जैन मन्दिरों के स्तम्भ भारतीय शैली के रक्षक रहे हैं।

लिपिकला- चित्रकला, मूर्तिकला की भांति लिपिकला भी एक सुकुमार कला है। जैन साधुओं ने इसे बहुत ही विकसित किया। वे सौन्दर्य और सूक्ष्मता – दोनों दृष्टियों से इसे उन्नति के शिखर तक ले गए।

पन्द्रह सौ वर्ष पहले लिखने का कार्य प्रारम्भ हुआ और वह अब तक विकास पाता रहा है। लेखन-कला में यतियों का कौशल विशेष रूप से प्रस्फुटित हुआ है।

तेरापंथ के साधुओं ने भी इस कला में चमत्कार प्रदर्शित किया है। सूक्ष्मलिपि में ये अग्रणी हैं। कई मुनियों ने ग्यारह इंच लंबे और पांच इंच चौड़े पन्ने में लगभग ८० हजार अक्षर लिखे हैं। ऐसे पत्र आज तक अपूर्व माने जाते रहे हैं। इस प्रकार विविध रूपों में जैनकला का विकास दिखाई देता है।

९. जैन संस्कृति की विशेषताएँ

संस्कृति का अर्थ- संस्कृति शब्द का संबंध संस्कार से है, जिसका अर्थ है – संशोधन करना, उत्तम बनाना, परिष्कार करना। संस्कार व्यक्ति के भी होते हैं, जाति के भी। जातीय संस्कारों को ही संस्कृति कहते हैं। जो संस्कार निरन्तर अभ्यास द्वारा विकसित किये जायें, वह संस्कृति है। संस्कृति आदर्श जीवन जीने की एक कला है। एक विद्वान् के मत में, संस्कृति के स्वरूप की जिज्ञासा वास्तव में अर्थ तथा मूल्य के स्वरूप की जिज्ञासा है। संस्कृति हमारी जीवनविधा में, प्रतिदिन के परस्पर आदान-प्रदान में, कला, साहित्य, धर्म, विज्ञान तथा मनोरंजन की विशिष्ट विधाओं में व्यक्त हमारी प्रकृति ही है। संस्कृति के संबंध में एक विषय पर सभी विद्वानों में मतैक्य है। सभी विचारक यह मानते हैं कि मानवेतर प्राणियों में संस्कृति नहीं होती। संस्कृति मानव की अपनी विशिष्टता है। मानव के पास अपनी संस्कृति को व्यक्त करने के साधन हैं, जो मानवेतर प्राणियों के पास नहीं है।

संस्कृति और सभ्यता- संस्कृति और सभ्यता दो अलग-अलग विषय हैं। संस्कृति मनुष्य की उन क्रियाओं, व्यापारों और विचारों का नाम है, जिन्हें वह साध्य के रूप में देखता है। संस्कृति का संबंध चिंतन, मनन तथा आचरण की उदात्तता से है। आध्यात्मिक स्तर विकसित होने पर ही मनुष्य संस्कृति के परिवेश में प्रविष्ट होता है। सभ्यता से तात्पर्य मनुष्य के भौतिक उपकरण, साधन, आविष्कार, सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थान तथा उपयोगी सभाओं से है। किसी समाज या राष्ट्र की आन्तरिक प्रकृति की पहचान उसकी संस्कृति से होती है, सभ्यता तो उस समाज या राष्ट्र को प्राप्त, बाह्य उपकरणों से जानी-पहचानी जाती है। संस्कृति का लक्ष्य मानव जाति के लिए शाश्वत मूल्यों की खोज है। वहां सभ्यता का ध्येय मानव समाज के लिए भौतिक सुख-सुविधा के साधन जुटाने से है।

जैन संस्कृति- 'जिन' भगवान द्वारा प्रतिपादित धर्म जैन धर्म कहलाता है। जैन धर्म के वे विचार जो आत्मशुद्धि में निमित्त बनते हैं, जैन संस्कृति

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कहलाते हैं। जैन धर्म अनादि है, अत: प्रवाह की दृष्टि से जैन संस्कृति भी अनादि है। उसके प्रथम-प्रवर्तक कौन थे? यह ज्ञात करना इतिहास की सीमा के बाहर है। जैन संस्कृति का प्रमुख लक्ष्य व्यक्ति और समाज को अहिंसक, शांतिप्रिय, निर्भीक, प्रीतिपूर्ण, सौहार्दपूर्ण, सृजनोन्मुख जीवनशैली प्रदान करना है। त्याग, तप, संयम, बलिदान, सेवा, समर्पण, विसर्जन, करुणा, मैत्री आदि-आदि जैन संस्कृति की मौलिक विशेषताएँ हैं।

जैन संस्कृति के दो रूप- जैन संस्कृति के दो रूप हैं। एक बाह्य और दूसरा आभ्यन्तर। बाह्य रूप वह है जिसे उस संस्कृति के अलावा दूसरे लोग भी आंख, कान आदि बाह्य इन्द्रियों से जान सकते हैं। जैसे – शास्त्र, उसकी भाषा, मन्दिर, उसका स्थापत्य, समाज के खान-पान के नियम, उत्सव, त्यौंहार आदि जैन संस्कृति के बाह्य स्वरूप हैं। आभ्यन्तर रूप हैं – निवर्तक तत्त्व, इच्छा मात्र की निवृत्ति, जन्म-चक्र का उच्छेद, आत्मोपलब्धि। इस प्रकार निवर्तक धर्म ही जैन संस्कृति की आत्मा है। वर्तमान में जितने भी धर्म दुनियां में हैं, उन्हें तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है –

१. पहला वह है, जो केवल वर्तमान जन्म का ही विचार करता है।

२. दूसरा वह है, जो वर्तमान जन्म के अलावा जन्मान्तर (अगले जन्मों) पर भी विचार करता है।

३. तीसरा वह है, जो जन्म-जन्मान्तर के बाद उसके नाश का या उच्छेद का भी विचार करता है।

जैन धर्म तीसरी विचारधारा का समर्थक है। जन्म-जन्मान्तर का उच्छेद करने के लिए ही उसने 'निवृत्ति धर्म' पर ज्यादा बल दिया है।

जैन संस्कृति की विशेषताएँ- जैन संस्कृति का विश्व की संस्कृतियों में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। मानव-जीवन का परम लक्ष्य है – मोक्ष की प्राप्ति। उस लक्ष्य की प्राप्ति में जैन संस्कृति बहुत सहायक सिद्ध होती है। मानवोचित श्रेष्ठ संस्कारों को स्थापित करने वाली जैन संस्कृति को श्रमण संस्कृति कहना सार्थक और उपयुक्त है। श्रमण संस्कृति का तात्पर्य श्रमण शब्द की व्याख्या से ही स्पष्ट हो जाता है। प्राकृत भाषा में श्रमण के लिए 'समण' शब्द का प्रयोग होता है। समण शब्द के संस्कृत में तीन रूपान्तरण होते हैं – १. श्रमण, २. समन और ३. शमन।

१. श्रमण शब्द श्रम् धातु से बना है, जिसका अर्थ है – परिश्रम या प्रयत्न करना अर्थात् जो व्यक्ति अपने आत्म-विकास के लिए परिश्रम करता है, वह श्रमण है।

२. समन शब्द के मूल में सम् है, जिसका अर्थ है – समत्वभाव। समता जैन आचारशास्त्र का मूल तत्त्व है, जो व्यक्ति सभी प्राणियों को अपने समान समझता है और अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में समभाव रखता है, वह समन कहलाता है।

३. शमन शब्द का अर्थ है – अपनी वृत्तियों को शांत रखना अथवा इन्द्रिय और मन पर संयम रखना। जो व्यक्ति अपनी वृत्तियों को संयमित रखता है, वह शमन है।

इस प्रकार श्रम – परिश्रम, सम-समता और शम – कषायों का उपशमन – ये जैन संस्कृति की विशेषताएँ हैं।

जैन संस्कृति का मूल आधार आचार में अहिंसा और अपरिग्रह तथा विचार में अनेकान्त है। अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त – ये तीन जैन संस्कृति की ऐसी विशेषताएँ हैं, जो वर्तमान में व्याप्त हिंसा, संग्रह की मनोवृत्ति और अपने मत का दुराग्रह रूप जो समस्याएँ हैं, उनका समाधान भी करती हैं।

१. अहिंसा - अहिंसा जैन संस्कृति का प्राण है। मन, वचन और शरीर से किसी भी जीव का घात न करना अहिंसा है। प्राय: समस्त धर्मों की शिक्षाएँ वर्जनात्मक होती हैं। अहिंसा भी ऐसा ही एक निषेधात्मक शब्द है, किन्तु जैन-अहिंसा निषेध के द्वारा अकर्मण्यता को प्रोत्साहित नहीं करती। उसका क्रियात्मक रूप भी है। वह है –

सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थभाव विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव॥

सब प्राणियों के प्रति मैत्री, गुणीजनों के प्रति प्रमोदभाव (गुणानुराग), दु:खी जीवों के प्रति दयाभाव और विपरीत आचरण या विचार वालों के प्रति माध्यस्थ भाव रखना। अहिंसक व्यक्ति सब जीवों को आत्मवत् (अपनी आत्मा के समान) समझता है। उसकी दृष्टि में जैसे मैं जीना चाहता हूँ, वैसे ही सारे प्राणी जीना चाहते हैं। कोई भी मरना नहीं चाहता। इसलिए वह किसी भी प्रकार की हिंसा में प्रवृत्त नहीं होता।

२. अपरिग्रह - अपरिग्रह का उपदेश जैन संस्कृति की विरल विशेषता है। भगवान महावीर ने अर्थ (धन) के संग्रह को अनर्थ का मूल बताया। धार्मिक प्रगति में अर्थ को बाधक बताते हुए मुनिचर्या में उसका सर्वथा त्याग अनिवार्य बताया और श्रावक धर्म में उस पर नियंत्रण करना आवश्यक बतलाया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सूत्रकृतांग में बंधन का मूल कारण परिग्रह को बताया गया। व्यक्ति हिंसा, असत्य, चौर्य आदि का आचरण परिग्रह प्राप्ति के लिए ही करता है। इसलिए आचार्य महाप्रज्ञ ने **'अहिंसा परमोधर्मः'** के स्थान पर **'अपरिग्रह परमोधर्मः'** का घोष दिया। प्रश्न हो सकता है कि यदि जैन संस्कृति में अहिंसा परमोधर्मः की प्रधानता नहीं है तो आचार्यों ने पांच व्रतों में अहिंसा को प्रथम स्थान क्यों दिया ? समाधान यही हो सकता है कि जैसे नीचे की सीढ़ियों को चढ़कर ही ऊपर तक पहुंचा जा सकता है, वैसे ही अहिंसा, सत्य, अचौर्य और ब्रह्मचर्य – इन चारों के अभ्यासों से गुजरकर ही पूर्ण अपरिग्रही अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है। महाव्रतों की श्रेणी में अपरिग्रह की श्रेणी अन्तिम और उत्कृष्ट है। अहिंसा आदि पहली सीढ़ियां अन्तिम सीढ़ी आने पर छूट जाती हैं। अतः अपरिग्रह परमोधर्म कहना सार्थक प्रतीत होता है।

जैन संस्कृति में मूर्च्छा को परिग्रह कहा गया है। वस्तु के प्रति हमारी जो आसक्ति है, वही परिग्रह है। जो व्यक्ति जितना अनासक्त जीवन जीता है, वह उतना ही अपरिग्रही जीवन जीता है और अध्यात्म की ओर प्रगति करता है।

३. अनेकान्त – अनेकान्त दृष्टि भी जैन संस्कृति की अत्यन्त उपयोगी देन है। इस दृष्टि के अनुसार कोई भी विचार या मतवाद एकान्ततः सही या गलत नहीं होता। वस्तु एक दृष्टिकोण से जैसी दिखाई देती है, दूसरे दृष्टिकोण से वैसी दिखाई नहीं देती। सत्य के अनेक पहलू होते हैं। किसी एक पहलू को देखते हुए उसके अन्य पहलुओं का भी ध्यान रखना अनेकान्त दृष्टि है। यही समन्वय दृष्टि है।

अनेकान्त हमें सिखाता है कि अपने आग्रह को सत्य मानने के साथ-साथ अन्य जनों के आग्रह में भी सत्य को स्वीकार करना चाहिए। किसी एक दृष्टिकोण से हमारी धारणा यदि सत्य है तो किन्हीं अन्य दृष्टिकोणों से अन्य जनों की धारणा भी सत्य होगी और इन सभी विरोधी धारणाओं के समन्वय से ही पूर्ण सत्य का कोई स्वरूप प्रकट हो सकेगा। यह समन्वयशीलता की प्रवृत्ति जैन संस्कृति की ऐसी विशेषता है, जिसमें पारस्परिक विरोध और संघर्ष की स्थिति को समाप्त कर देने की अचूक शक्ति है।

४. व्रत – जैन संस्कृति व्रात्यों की संस्कृति है। व्रात्य शब्द का मूल व्रत है। व्रत का अर्थ है – संयम और संवर। व्रत आत्मा की सन्निधि और बाह्य जगत् से अनासक्ति का सूचक है। जैन संस्कृति में साधु और श्रावक के लिए अलग-अलग व्रतों का विधान किया गया है। साधु के व्रत महाव्रत और श्रावक के व्रत अणुव्रत कहलाते हैं। व्रत का उपजीवी तत्त्व तप है। जैन परम्परा में तप को अहिंसा, समन्वय, मैत्री और क्षमा के रूप में मान्य किया गया है। व्रत या तप की आराधना के पीछे मूल लक्ष्य आत्मशुद्धि और कर्ममुक्ति का ही रहता है।

५. संयम – जैन संस्कृति की बहुमूल्य देन संयम है। संयम ही जीवन है। दुःख और सुख को ही जीवन का ह्रास और विकास मत समझो। संयम जीवन का विकास है और असंयम ह्रास है। असंयमी थोड़ों को व्यावहारिक लाभ पहुंचा सकता है, किन्तु वह छलना, क्रूरता और शोषण को नहीं त्याग सकता। हो सकता है संयमी थोड़ों का भी व्यावहारिक हित नहीं साध सके पर वह सबके प्रति निश्छल, दयालु और शोषणमुक्त रहता है। मनुष्य-जीवन उच्च संस्कारी बने, इसके लिए आर्जव, मार्दव, लाघव, क्षमा आदि उच्च वृत्तियाँ चाहिए। इन सबकी प्राप्ति का मूल आधार संयम है। **'एक ही साधै सब सधै'** एक संयम की साधना हो जाये तो सब अपने आप सध जाते हैं। षड्जीवकाय का संयम आत्मशुद्धि का मार्ग तो है ही, वहीं पर्यावरण प्रदूषण जैसी अनेक समस्याओं का भी समाधान है।

६. नैतिक आदर्श– जैन संस्कृति के नैतिक आदर्श जैन धर्म की विशुद्ध आचार-प्रक्रिया पर आधारित है। आचार की शुद्धि के लिए साधु एवं गृहस्थ – दोनों के लिए कुछ नित्य कृत्यों का विधान किया गया है, जिन्हें षः आवश्यक कहा जाता है। सामायिक द्वारा व्यक्ति समभाव की साधना करता है। तीर्थंकरों के स्तवन से अपने भावों को पवित्र रखता है। वन्दना से विनय अर्जित करता है। प्रतिक्रमण के द्वारा प्रमादवश हुई भूलों का पश्चात्ताप एवं प्रमार्जन करता है। कायोत्सर्ग द्वारा शरीर के प्रति ममत्व को कम करता है तथा प्रत्याख्यान के द्वारा अपनी समस्त इच्छाओं के निरोध का प्रयास करता है। इस तरह का दैनिक अभ्यास एक दिन व्यक्ति को साधना की उस भूमि पर ला खड़ा करता है, जहाँ नैतिकता के सारे आदर्श पूरे हो जाते हैं। जैन संस्कृति की इस आचार-प्रक्रिया को यदि प्रत्येक व्यक्ति अपना ले तो अनैतिकता की समस्या समाप्त हो सकती है।

७. कर्मवाद – कर्मवाद का सिद्धान्त जैन संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अवदान है। जैन दर्शन में कहा गया – **'कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि'** किये गये कर्मों का फल भोगे बिना मोक्ष नहीं हो सकता। व्यक्ति जैसा कर्म करता है, उसे उसका वैसा फल भोगना पड़ता है। कर्मों का फल किसी ईश्वर के द्वारा नहीं मिलता अपितु समय आने पर पूर्वबद्ध कर्मों का प्रतिफल स्वयं मिल जाता है। कर्म सिद्धान्त हमें यह बताता है कि अपने भाग्य के निर्माता हम स्वयं हैं। हमारा आज का पुरुषार्थ ही, कल हमारा भाग्य बन जाता है। अतः सदैव सही दिशा में पुरुषार्थ करते रहना चाहिए। इस प्रकार कर्मवाद के सिद्धान्त ने व्यक्ति स्वातन्त्र्य का जो आदर्श उपस्थित किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

आचार-विचार के साथ-साथ साहित्य, कला, पर्व, व्रत आदि भी संस्कृति के महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं। इनके आधार पर ही उनकी संस्कृति को सही तरीके से जाना जा सकता है।

८. साहित्य– साहित्य के क्षेत्र में जैन साहित्य का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। जैनों का सबसे प्राचीनतम साहित्य आगम है। भगवान महावीर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

ने देखा कि समाज का मार्गदर्शन करने वाले पढ़े-लिखे लोग जिस भाषा में विचारों का आदान-प्रदान करते हैं, वह संस्कृत भाषा जन-समुदाय की भाषा नहीं है। इसलिए उन्होंने अपने उपदेशों में जनभाषा प्राकृत (अर्धमागधी) का प्रयोग किया। उनके गणधरों ने भी उसी भाषा में इसे सूत्र रूप में गुम्फित किया। इस प्रकार जन-भाषा में एक विशाल धार्मिक साहित्य भण्डार सांस्कृतिक धरोहर के रूप में आगामी पीढ़ियों को मिला। इस साहित्य का संवर्धन टीकाओं या व्याख्याओं के द्वारा मध्यकाल तक होता रहा। इस प्रकार आज जैन साहित्य संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, गुजराती, राजस्थानी, हिन्दी आदि अनेक भाषाओं में उपलब्ध होता है।

जैन साहित्य सांस्कृतिक दृष्टि से पर्याप्त समृद्ध हैं। जैनाचार्य देश के एक कोने से दूसरे कोने तक निरन्तर भ्रमण करते रहते थे। अत: जब वे साहित्य सृजन करते थे, तब उनकी लेखनी में सारे देश का प्रतिबिम्ब उतर आता था। आज आधुनिक लोक-भाषाओं एवं उनकी साहित्यिक विधाओं के विकास को समझने के लिए जैन साहित्य का अध्ययन अपरिहार्य है।

९. कला- साहित्य के साथ कला भी संस्कृति का अभिन्न अंग है। जैन संस्कृति के अन्तर्गत कला के जितने भी रूप उपलब्ध है, सबकी अपनी-अपनी दार्शनिक पृष्ठभूमि है। गुफाओं, स्तूपों, मन्दिरों, मूर्तियों एवं चित्रों के द्वारा जैन धर्म ने न केवल लोक का आध्यात्मिक एवं नैतिक स्तर उठाने का प्रयत्न किया है, अपितु देश के विभिन्न भागों को सौन्दर्य से भी सजाया है।

जैन मूर्तिकला की अपनी विशिष्टता है। भारत की प्राचीनतम मूर्तियां जो आज उपलब्ध हैं, जैन संस्कृति से ही अधिक घनिष्ठ हैं। जैन मूर्तियों की ध्यानस्थ मुद्रा बहुत प्रभावशाली होती है ।

जैन चित्रकला आध्यात्मिकता के प्रचार-प्रसार के लिए जितने महत्त्व की है, उतनी ही प्राचीन भारतीय चित्रकला के इतिहास को जानने के लिए भी आवश्यक है। अजन्ता की गुप्तकालीन बौद्ध-गुफाओं में चित्रकला का जो विकसित रूप दिखायी पड़ता है, उससे यह स्पष्ट होता है कि इससे पूर्व इसकी कोई आधुनिक चित्रकला अवश्य रही होगी। 'नायाधम्मकहाओ' (ज्ञाताधर्मकथा) जैसे प्राचीनतम जैन साहित्य में चित्रकला का जो स्वरूप उल्लिखित है, वह प्राचीन भारतीय चित्रकला की ओर ही संकेत करता है। अत: जिस प्रकार आधुनिक भाषाओं के अध्ययन के लिए प्राकृत एवं अपभ्रंश का अध्ययन करना आवश्यक है, वैसे ही भारतीय चित्रकला का क्रमिक इतिहास जानने के लिए जैन चित्रकला की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

१०. पर्व और त्यौंहार - पर्व और त्यौहार समाज के अन्तर्मानस की सामूहिक अभिव्यक्ति है। व्यष्टि और समष्टि के जीवन क्रम में जिस विश्वास, प्रेरणा एवं उत्साह की आवश्यकता पड़ती है, उसकी पूर्ति पर्वों से होती है। पर्व एवं त्यौंहार किसी-न-किसी धार्मिक एवं सामाजिक दायित्व के प्रति व्यक्ति को जगाने का कार्य करते हैं। जैन संस्कृति के भी अपने कुछ पर्व हैं। यथा – दीपावली, अक्षयतृतीया, महावीर जयंती, पर्युषण आदि। इन पर्वों की यह विशेषता है कि ये व्यक्ति में त्याग, तप, स्वाध्याय, अहिंसा, सत्य, प्रेम तथा विश्वमैत्री की भावना को जागृत करने वाले होते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन संस्कृति एक महान् संस्कृति है। उसका रूप सदा व्यापक रहा है। उसका द्वार सबके लिए खुला रहा है। उस व्यापक दृष्टिकोण का मूल असांप्रदायिकता और जातीयता का अभाव है। व्यवहार दृष्टि से जैनों के सम्प्रदाय हैं, पर उन्होंने धर्म को सम्प्रदाय के साथ नहीं बांधा। वे जैन सम्प्रदायों को नहीं, जैनत्व को महत्त्व देते हैं। जैनत्व का अर्थ है – सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र की आराधना। इनकी आराधना करने वाला अन्य सम्प्रदाय के वेश में भी मुक्त हो सकता है और गृहस्थ के वेश में भी मुक्त हो सकता है।

निबन्धात्मक प्रश्न

१. जैन धर्म के स्वरूप को बताते हुए उसकी प्राचीनता को सिद्ध करें ?

२. सिद्ध करें कि भगवान ऋषभ का जीवन एक समग्र जीवन था ?

३. भगवान् महावीर के जीवन दर्शन को बताते हुए उनकी साधना पद्धति पर प्रकाश डालें ?

४. जैन धर्म के मुख्य सम्प्रदायों का विवेचन करें।

५. आगम को परिभाषित करते हुए जैन साहित्य पर प्रकाश डालें ?

६. जैन कला का विवेचन करें ?

७. जैन संस्कृति की विशेषताएँ पर प्रकाश डालें ?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई-२

जैन आचार मीमांसा : तत्त्व मीमांसा

व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के अभ्युदय का मूल आधार है–आचार। आचार के आधार पर विकसित विचार ही जीवन का आदर्श बनता है। आचार व्यक्ति का क्रियात्मक पक्ष है और विचार उसका ज्ञानात्मक पक्ष है। ज्ञान का प्रकटीकरण जब क्रिया में होता है तब वह आचार बन जाता है। व्यक्ति के अच्छे या बुरे होने का मापन ज्ञान से नहीं, उसके आचरण से होता है। व्यावहारिक मनोविज्ञान का मूल आधार व्यक्ति का आचार ही है।

जैन आचार-मीमांसा का मूल आधार है–आत्मा। आत्मा ही कर्मों की कर्त्ता और भोक्ता है। आत्मा में ही कर्म से मुक्त हो परमात्मा बनने की क्षमता है। सम्यक् आचरण करने वाली आत्मा परमात्मा बन जाती है तथा असम्यक् आचरण करने वाली आत्मा जन्म-मरण की परम्परा में परिभ्रमण करती रहती है। आत्मा के उत्थान के लिए जो भी आचरण निर्दिष्ट है, वह आचार है। इस इकाई में जैन आचार के आधार और स्वरूप, श्रमणाचार और श्रावकाचार, त्रिरत्न, नव तत्त्व, जैन जीवनशैली का विवेचन किया गया है, वहाँ जैन तत्त्व मीमांसा को समझने के लिए षड् द्रव्य और लोकवाद का विवेचन भी किया गया है।

१. जैन आचार : आधार और स्वरूप

आचार का अर्थ

आचार का शाब्दिक अर्थ है–आचरण। **आचर्यते इति आचारः**, जिसका आचरण किया जाए, वही आचार है। आचार शब्द आङ् उपसर्ग पूर्वक चर् धातु से घञ् प्रत्यय लगाने पर बना है। 'चर' धातु का प्रयोग मुख्य रूप से गति–चलना अर्थ में किया जाता है। हमारे मन में शुभ विचारों का चलना विचार है; शुभ वाणी का प्रयोग उच्चार है और शुभ विचारों को जीवन में उतारना आचार है। अच्छे आचार से ही अच्छे विचार की उत्पत्ति होती है और अच्छे विचार से ही आचार अच्छा बनता है। अतः आचार और विचार परस्पर सापेक्ष हैं।

आचार का स्वरूप

शब्दार्थ की दृष्टि से देखें तो आचार शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, जैसे–नीति, धर्म, कर्त्तव्य, नैतिकता आदि। जीवन-निर्वाह के लिए जिन बातों, नियमों की पालना की जाती है, वह आचार है। इसी से जीवनशैली परिष्कृत और परिशुद्ध होती है। जैनदर्शन के अनुसार आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि है। यह संबंध कब तक बना रहेगा, निश्चित नहीं है। कर्म के कारण ही आत्मा को विविध योनियों में परिभ्रमण करना पड़ता है। कर्म से ही पुनर्जन्म होता है। जन्म-मरण और कर्म-परम्परा को रोकने के लिए संवर और निर्जरा की साधना आवश्यक है। संवर और निर्जरा ही जैन आचार का मूल स्वरूप है। संवर की साधना के लिए पांच चारित्र, पांच समिति, तीन गुप्ति, दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षा का अभ्यास और बाईस परीषहों पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। निर्जरा में अनशन, ऊनोदरी आदि बारह प्रकार से तप की साधना कर कर्म-क्षय किये जाते हैं, जिससे आत्मा का शुद्ध स्वरूप जो ज्ञानमय, दर्शनमय, आनन्दमय और शक्तिमय है, प्रकट होता है। इस प्रकार सम्पूर्ण आचार-शास्त्र का उद्देश्य कर्मों को नष्ट कर आत्मा के शुद्ध स्वरूप को उजागर करना है।

जैन आचार का महत्त्व

जैन परम्परा में आचार को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। आचार के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहा गया–विश्व में जितने भी प्राणी हैं, उन सभी प्राणियों में मानव श्रेष्ठ प्राणी है। सभी मानवों में ज्ञानी श्रेष्ठ है और सभी ज्ञानियों में आचारवान श्रेष्ठ है। आचार की महिमा बताते हुए वैदिक महर्षियों ने कहा–आचार से विद्या प्राप्त होती है, मनुष्य की आयु बढ़ती है, कान्ति और कीर्ति उपलब्ध होती है। ऐसा कौन-सा सद्गुण है, जो आचार से प्राप्त नहीं होता। आचार की शुद्धि होने से सत्त्व की शुद्धि होती है सत्त्व की शुद्धि होने से चित्त एकाग्र बनता है और चित्त एकाग्र होने से साक्षात् मुक्ति प्राप्त होती है।

आचार की महत्ता बताते हुए आचार्य तुलसी ने लिखा–

है रुपया निन्यानवे, विमल विनय आचार।
शेष एक रुपया रहा, विद्या कला प्रचार॥

अर्थात् सौ रुपये में निन्यानवे रुपये का मूल्य निर्मल और विनम्र आचार को है और विद्या (ज्ञान) को एक रुपया ही मूल्य दिया गया है। इससे भी आचार के महत्त्व का मूल्यांकन किया जा सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आचार की पृष्ठभूमि ज्ञान

जैन दर्शन के अनुसार आचार की पृष्ठभूमि है – ज्ञान। दशवैकालिक सूत्र में कहा गया – **'पढमं नाणं तओ दया'** पहले जानो फिर उसका आचरण करो। भगवान महावीर के आचार-शास्त्र का सूत्र है **'ज्ञानं प्रथमो धर्मः'**। ज्ञान के बिना आचार का निर्धारण नहीं हो सकता। ज्ञानी मनुष्य ही आचार और अनाचार का विवेक कर सकता है। अनाचार को छोड़कर आचार का पालन कर सकता है। सूत्रकृतांग सूत्र में भी **बुज्झेज्ज तिउट्टेज्जा** के माध्यम से यही तथ्य प्रतिपादित किया गया है – पहले बंधन को जानो। बंधन क्या है? उसके हेतु क्या हैं? उसे तोड़ने के उपाय क्या हैं? इन सबको जानने के बाद ही बंधन को तोड़ने की दिशा में पुरुषार्थ किया जा सकता है।

अज्ञानी व्यक्ति हेय-उपादेय को जानता ही नहीं, बंधन-मोक्ष को जानता ही नहीं तो वह उसे छोड़ने और तोड़ने की दिशा में पुरुषार्थ नहीं कर सकता। धर्म-अधर्म, नैतिक-अनैतिक, श्रेय-अश्रेय के बीच भेदरेखा खींचने वाला तत्त्व है – ज्ञान।

भगवान महावीर ने ज्ञान पर ही बल नहीं दिया। अपितु ज्ञान के सार की खोज की। 'णाणस्स सारमायारो' ज्ञान का सार आचार है। आचार के अभाव में ज्ञान अधूरा है। जैसा कि कहा भी गया है – ज्ञान के बिना आचरण पंगु है और आचरण के बिना ज्ञान अंधा है। व्यक्ति चाहे कितना ही ज्ञानी क्यों न हो किन्तु जब तक वह ज्ञान उसके आचरण में नहीं उतरता तब तक ज्ञान की उज्ज्वलता प्रकट नहीं हो सकती। इसलिए जैन शास्त्रों का यह उद्घोष है – ज्ञान का सार आचार है।

जैन आचार का आधार

कोई भी क्रिया की जाती है तो एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यह क्रिया क्यों की जा रही है? इसका हेतु क्या है? आधार क्या है? आधार का निश्चय हुए बिना कोई भी आचार-संहिता नहीं बन सकती। जैन आचार के आधारभूत तत्त्व ये चार वाद हैं – १. आत्मवाद, २. लोकवाद, ३. कर्मवाद, ४. क्रियावाद।

१. आत्मवाद – जैन दर्शन की आचार-मीमांसा का प्रथम आधार है – आत्मा। आत्मा का त्रैकालिक अस्तित्व है। उसका अस्तित्व अतीत में था, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा। जिसे आत्मा का ज्ञान नहीं होता वह जैन आचार को भी समझ नहीं सकता। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा एक अमूर्त तत्त्व है। हर व्यक्ति उसे देख नहीं पाता। इसीलिए बहुत सारे व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिन्हें यह ज्ञान नहीं होता कि मैं कौन हूँ, इस जन्म से पूर्व मैं कहाँ था और यहाँ से मरकर मैं कहाँ जाऊँगा? अनात्मवादियों के अनुसार हमारा अस्तित्व वर्तमान तक ही सीमित है। अतः उनका आचार केवल वर्तमानिक होता है। वर्तमान जीवन, सामाजिक जीवन, सुख-सुविधा से चल सके, उसी को लक्ष्य में रखकर उनकी आचार संहिता का निर्माण होता है। जहाँ आत्मा का त्रैकालिक अस्तित्व मान्य होता है, वहाँ आचार की शुद्धि पर विशेष बल दिया जाता है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति के लिए उन्नत आचार का पालन किया जाता है, अतः आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व की स्वीकृति उन्नत आचार की पृष्ठभूमि है, आधारशिला है।

२. लोकवाद – जैन दर्शन द्वैतवादी दर्शन है। वह आत्मा और पुद्गल इन दो तत्त्वों के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करता है। लोक का अर्थ है – पुद्गल। **लोक्यते इति लोकः** के अनुसार जो दिखाई देता है, वह लोक है। पुद्गल दिखाई देता है इसलिए उसे लोक कहा गया है। जो आत्मा को जान लेता है वह लोक (पुद्गल) को जान लेता है। निष्कर्ष की भाषा में आत्मा और पुद्गल – दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व है। यदि केवल आत्मा होती तो उसके संसार-परिभ्रमण का कोई कारण नहीं रहता और केवल पुद्गल होता तो भी परिभ्रमण का कोई कारण नहीं रहता, अतः दोनों का अस्तित्व है।

३. कर्मवाद – जैनदर्शन की आचार-मीमांसा का तीसरा आधार है – कर्मवाद। संसारी अवस्था में आत्मा कर्म से बद्ध है। इसी कर्म के कारण अनादि काल से बार-बार उसका संसार में परिभ्रमण हो रहा है, जन्म-मरण हो रहा है। जन्म-मरण की परम्परा से मुक्त होने के लिए कर्म से मुक्त होना आवश्यक है।

४. क्रियावाद – आत्मा और कर्म का संबंध क्रिया (आश्रव) के द्वारा होता है। जब तक आत्मा में राग-द्वेषजनित प्रकम्पन विद्यमान हैं, जब तक उसका कर्म-परमाणुओं के साथ संबंध होता रहता है।

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार ये चारों वाद सम्पूर्ण जैन आचारशास्त्र के आधार हैं। संसारी अवस्था में आत्मा और कर्म का संबंध रहता है। संबंध का कारण है – क्रिया। अक्रिय अवस्था में कोई संबंध स्थापित नहीं होता। जैसे-जैसे कषाय क्षीण होता है, अक्रिया की स्थिति आने लगती है, आत्मा और कर्म का संबंध क्षीण होने लगता है। पूर्ण अक्रिया की स्थिति आने पर सारे संबंध नष्ट हो जाते हैं। आचारशास्त्र के निरूपण और पालन के पीछे मूल उद्देश्य कर्म-बंधन से मुक्त हो आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करना है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जैन आचार-शास्त्र की विशेषताएँ

जैन आचार-शास्त्र के पुरस्कर्त्ता तीर्थंकर, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी थे। उन्होंने जिस आचार का प्रतिपादन किया, वह जितना पारमार्थिक था, उतना ही व्यावहारिक भी था। उनके आचारशास्त्र की निम्न विशेषताएँ जानने और आचरण करने योग्य हैं–

१. आचार-साधना का क्रमिक प्रतिपादन–जैन आचार साधना की पहली विशेषता यह है कि इसमें साधना की क्रमिक अवस्थाओं का प्रतिपादन है। साधना करने वाले हर साधक का शरीरबल, मनोबल, आत्मबल, श्रद्धाबल समान नहीं होता। हर साधक प्रारम्भ में ही साधना के शिखर पर नहीं पहुँच सकता। इसलिए भगवान् महावीर ने दो प्रकार के आचार का प्रतिपादन किया–श्रावकाचार और श्रमणाचार। साधक अणुव्रतों के आचरण से अपनी साधना प्रारम्भ करें और धीरे-धीरे महाव्रतों की साधना के लिए प्रस्थान करें। साधुता की उत्कृष्ट भूमिका पर पहुँचकर वीतराग, केवलज्ञानी बनें और अन्त में सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर अपने लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करें। इस प्रकार जैन दर्शन में चौदह गुणस्थान के रूप में साधना की क्रमिक भूमिकाओं का प्रतिपादन हुआ है, जिसकी क्रमशः साधना करते हुए साधक साधना के शिखर पर पहुँच सकता है।

२. निश्चय और व्यवहार का समन्वय–जैन आचार साधना की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि इसमें निश्चय और व्यवहार का समन्वय है। इसमें साधना का जो स्वरूप बताया गया है, उस साधना के पीछे एकमात्र उद्देश्य है–कर्ममुक्ति, कषायमुक्ति। निश्चय नय की दृष्टि से कर्ममुक्ति और कषायमुक्ति ही जैन आचार-साधना का उद्देश्य है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए व्रत, नियम, संयम आदि की जो भी साधना की जाती है, उसका प्रभाव व्यवहार जगत में भी पड़ता है। अहिंसा, सत्य आदि व्रतों की साधना करने वाला तथा संयमपूर्वक अपना जीवन यापन करने वाला साधक न केवल अपनी आत्मा का उत्थान करना है अपितु समाज में भी आदर्श माना जाता है।

३. आत्मौपम्य की भावना–जैन आचारशास्त्र की तीसरी विरल विशेषता है–आत्मौपम्य-दृष्टि। संसार के हर प्राणी को अपनी आत्मा के तुल्य समझो। जिस प्रकार मुझे दुःख, कष्ट प्रिय नहीं है, मुझे कोई दुःख, कष्ट देता है तो अच्छा नहीं लगता, उसी प्रकार संसार के हर प्राणी को दुःख और कष्ट प्रिय नहीं है, उन्हें कोई दुःख और कष्ट देता है तो उन्हें भी अच्छा नहीं लगता। दसवैकालिक सूत्र में कहा गया **'अत्तसमे मन्नेज्ज छप्पिकाए'** पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस–इन सभी जीवों को अपने समान समझो। जिस साधक में यह आत्मौपम्य दृष्टि विकसित हो जाती है, वह अपने या दूसरों के स्वार्थ के लिए किसी को पीड़ा नहीं देता।

४. समभाव–जैन आचार शास्त्र की चौथी सर्वोत्कृष्ट विशेषता है–समभाव, समता की साधना। कर्मों के उदय से साधक के जीवन में अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियाँ आती रहती हैं। कभी लाभ होता है कभी अलाभ, कभी सुख होता है कभी दुःख, कभी सम्मान होता है कभी अपमान, किन्तु साधक इन सभी परिस्थितियों में समभाव रखता है, अपना संतुलन नहीं खोता। समभाव की साधना से कर्मों की निर्जरा होती है, नए कर्मों का बंधन नहीं होता।

५. युग की समस्याओं का समाधान–जैन आचारशास्त्र में कुछ ऐसे शाश्वत मूल्यों का प्रतिपादन किया गया है, जो सार्वभौमिक और सार्वकालिक हैं। साथ ही युग की समस्याओं का समाधान देने वाले हैं। वर्तमान युग की तीन बड़ी समस्याएँ मानी जाती हैं–हिंसा, अभाव और आग्रह। इन तीनों ही समस्याओं का समाधान जैन दर्शन के अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त के सिद्धान्त में खोजा जा सकता है।

*** हिंसा का समाधान अहिंसा**–आज के युग की एक बड़ी समस्या है–हिंसा। व्यक्ति अपने थोड़े से सुख के लिए दूसरों की हिंसा करता है, शोषण और अन्यायपूर्ण व्यवहार करता है। परिणामस्वरूप स्वयं कर्मों का बंधन करता है और समाज को भी रुग्ण बनाता है। अहिंसा के द्वारा इस समस्या का समाधान किया जा सकता है। अहिंसा के सूक्ष्म सिद्धान्त को समझने वाला तथा अहिंसक जीवन जीने वाला न केवल स्वयं कर्मबंधन से बचता है अपितु स्वस्थ समाज का भी निर्माण करता है।

*** अभाव का समाधान अपरिग्रह**–आज के युग की एक बड़ी समस्या है–अभाव। इस देश में आधे से ज्यादा लोग अभाव का जीवन जी रहे हैं। उनके पास खाने के लिए पूरी रोटी नहीं है, पहनने के लिए पूरे वस्त्र नहीं हैं और रहने के लिए मकान नहीं हैं। रोटी, कपड़ा और मकान का अभाव उन्हें हिंसा, अत्याचार, भ्रष्टाचार करने के लिए मजबूर करता है। महात्मा गाँधी ने कहा था–पृथ्वी पर इतनी साधन सामग्री है कि वह प्रत्येक मनुष्य की आवश्यकता को पूरा कर सकती है, किन्तु उसके पास इतनी साधन-सामग्री नहीं है कि वह एक भी व्यक्ति की इच्छाओं को पूरा कर सके, क्योंकि इच्छाओं का कोई अन्त नहीं है। वे कभी पूरी नहीं होती। एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी इच्छा पैदा होती रहती है। इच्छाओं पर नियंत्रण करने के लिए इच्छापरिमाणव्रत-अपरिग्रह व्रत की उपयोगिता को नकारा नहीं जा सकता। इच्छाओं का निग्रह होते ही, आवश्यकताओं का अल्पीकरण स्वयं होने लगता है, जिससे अभाव की समस्या से छुटकारा पाया जा सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

*** आग्रह का समाधान अनेकान्त** – आज के युग की सबसे बड़ी समस्या है – आग्रह की वृत्ति। हर व्यक्ति अपने आपको, अपने विचारों और दृष्टिकोण को सत्य मानने का आग्रह करता है तथा दूसरों के विचारों और दृष्टिकोण को सत्य नहीं मानता। इस आग्रह के कारण ही कलह, असामंजस्य एवं निरपेक्ष भावना का विकास होता है। इस आग्रह की समस्या का समाधान जैन दर्शन के अनेकान्त सिद्धान्त में खोजा जा सकता है। अनेकान्त का तात्पर्य है वस्तु अनन्त धर्मात्मक (स्वभाव वाली) है। अत: उसके एक धर्म को जानकर उसे ही सम्पूर्ण सत्य मानने का आग्रह मत करो। वह सम्पूर्ण सत्य नहीं है, सत्यांश है। दूसरों के विचार और दृष्टिकोण में भी सत्य को खोजने का प्रायस करो। इससे आग्रह की समस्या को समाधान मिलता है। सत्य को जानने का अवसर प्राप्त होता है।

इस प्रकार जैन आचार की साधना जहाँ मोक्ष-प्राप्ति का साधन है, वहीं आज की समस्याओं का समाधान देने वाली भी है।

२. त्रिरत्न

जैन दर्शन के अनुसार मनुष्य का साध्य है – मोक्ष या आत्मोपलब्धि। आत्मा का स्वरूप है – ज्ञान, सम्यक्त्व और वीतरागता। सम्यक्त्व विकृत, ज्ञान आवृत्त और वीतरागता अप्रकटित होती है तब तक हर व्यक्ति के लिए अपनी आत्मा साध्य होती है और जब सम्यक्त्व मल रहित, ज्ञान अनावृत्त और वीतरागता प्रकट होती है तब वह स्वयं सिद्ध हो जाती है। साध्य की सिद्धि के लिए जिन हेतुओं का आलम्बन लिया जाता है, उन्हें साधन और उनके अभ्यास क्रम को साधना कहा जाता है।

आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में मोक्ष के तीन मार्ग बताए हैं – **सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग: ।**

१. सम्यक् दर्शन, २. सम्यक् ज्ञान, ३. सम्यक् चारित्र।

ये तीनों त्रिरत्न कहलाते हैं। लोक में रत्नों की तरह दुर्लभ होने के कारण इन्हें त्रिरत्न अथवा रत्नत्रय कहा जाता है। इन तीनों के योग से मोक्षमार्ग बनता है। पृथक्-पृथक् तीनों से मोक्ष-मार्ग नहीं बनता। जिस प्रकार बीमारी को दूर करने के लिए व्यक्ति दवा लेता है किन्तु वह दवा उसे तभी स्वस्थ बना सकती है जब वह ली जाने वाली दवा की क्षमता में श्रद्धा, दवा को लेने की विधि का ज्ञान तथा समय पर दवा का सेवन करता है। एक के भी अभाव में वह स्वस्थ नहीं बन सकता, उसी प्रकार मोक्ष प्राप्ति के लिए भी तीनों का योग आवश्यक है। यदि व्यक्ति में धर्म के प्रति श्रद्धा तो बहुत है पर धर्म का सही ज्ञान और उसका आचरण नहीं है तो मोक्ष नहीं मिलता। धर्म पर श्रद्धा तथा उसका सही ज्ञान होने पर भी यदि उसका आचरण नहीं है तो भी मोक्ष नहीं मिलता। श्रद्धा और ज्ञान के साथ-साथ जब उसका आचरण भी होता है तो मोक्ष-मार्ग बनता है। जैन दर्शन में केवल श्रद्धा, केवल ज्ञान या केवल चारित्र को महत्त्व नहीं दिया गया अपितु मोक्ष-प्राप्ति के लिए तीनों की समन्विति को स्वीकार किया गया है।

१. सम्यक् दर्शन

परम पुरुषार्थ मोक्ष को पाने के तीन साधन बतलाए गए हैं। उनमें पहला है – सम्यग् दर्शन। जैन दर्शन में सम्यग् दर्शन का बड़ा महत्त्व है। उत्तराध्ययन में कहा है – दर्शन विहीन व्यक्ति के ज्ञान नहीं होता। ज्ञान के बिना चारित्र नहीं होता और चारित्र के बिना मोक्ष नहीं होता। दर्शन सम्पन्न व्यक्ति भव परम्परा का अन्त पा लेता है। सत्य के प्रति यथार्थ दृष्टिकोण, तत्त्व जिज्ञासा एवं सत्य प्राप्ति के योग्य अन्त:करण की पवित्रता का होना ही सम्यग् दर्शन है।

तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है – **'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग् दर्शनम्'** तत्त्व के प्रति सही श्रद्धा का होना सम्यक् दर्शन है। इस सम्यक् दर्शन की प्राप्ति दो प्रकार से होती है – निसर्गज और निमित्तज। जो किसी के उपदेश से, प्रतिमा आदि के दर्शन से या किसी घटना विशेष के निमित्त से होता है, उसे निमित्तज सम्यक् दर्शन कहते हैं। जो उपदेश आदि के निमित्त के बिना स्वत: ही आन्तरिक शुद्धि से प्राप्त होता है, उसे निसर्गज सम्यक् दर्शन कहते हैं। निश्चय दृष्टि से कौन सम्यक् दृष्टि है या नहीं, पहचान कर पाना कठिन है। किन्तु व्यवहार में इसकी पहचान के लिए पांच लक्षण बताए गए हैं –

१. **शम** – जिसका कषाय उपशान्त होता है।

२. **संवेग** – जिसमें मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा होती है।

३. **निर्वेद** – जिसमें संसार के प्रति अनासक्ति होती है।

४. **अनुकम्पा** – जिसमें प्राणी मात्र के प्रति करुणा का भाव हेता है।

५. **आस्तिक्य** – जिसमें सत्य के प्रति निष्ठा होती है। आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म, मोक्ष आदि के अस्तित्व में विश्वास होता है।

जिनमें ये पांच लक्षण पाए जाते हैं, वे सम्यक् दृष्टि होते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भगवान पार्श्वनाथ ने संघबद्ध साधना का प्राण संगठन और संगठन का प्राण सम्यक्त्व को बताया। भगवान महावीर ने इस दृष्टि को विशेष पोषण देते हुए नवीन अष्टांग व्यवस्था की। सम्यक् दर्शन की साधना के आठ अंग हैं–

१. **निःशंकित**–सम्यक् दृष्टि वाला व्यक्ति वीतराग सर्वज्ञ भगवान के वचनों में संशय नहीं करता।

२. **निष्कांक्षित**–सम्यक् दृष्टि वाला व्यक्ति एकान्त दृष्टि वाले दर्शनों को स्वीकार करने की इच्छा नहीं करता। धर्माचरण के द्वारा भौतिक सुख-समृद्धि पाने की इच्छा नहीं करता।

३. **निर्विचिकित्सा**–सम्यक्दृष्टि वाला व्यक्ति धर्म के फल में संदेह नहीं करता कि मैं जो धर्म का आचरण कर रहा हूँ, उसका फल मिलेगा या नहीं।

४. **अमूढ़दृष्टि**–सम्यक्दृष्टि वाला व्यक्ति एकान्तवादी तीर्थिकों के वैभव को देखकर उनमें मूढ़ नहीं बनता।

५. **उपबृंहण**–सम्यक्दृष्टि वाला व्यक्ति अपने सम्यक् दर्शन को और अधिक दृढ़ और पुष्ट बनाता है। प्रमादवश हुए दोषों का प्रचार नहीं करता और अपने गुणों का गोपन नहीं करता।

६. **स्थिरीकरण**–सम्यक्दृष्टि वाला व्यक्ति धर्ममार्ग या न्यायमार्ग से विचलित होने वाले व्यक्तियों को पुनः धर्ममार्ग और न्यायमार्ग में स्थिर करता है।

७. **वात्सल्य**–सम्यक्दृष्टि वाला व्यक्ति अपने साधर्मिक बंधुओं के प्रति वात्सल्यभाव रखता है।

८. **प्रभावना**–सम्यक्दृष्टि व्यक्ति जिनशासन की महिमा बढ़ाता है और उसकी प्रभावना में निमित्त बनता है।

इन आठ में प्रथम चार अंग वैयक्तिक साधना के पोषक हैं और शेष चार संघीय व्यवस्था के पोषक हैं।

२. सम्यक् ज्ञान

भगवान् महावीर की साधना पद्धति में केन्द्रीय शब्द है–उपयोग। उपयोग का अर्थ है–स्वयं में होना, वर्तमान में होना। जब हम उपयोग में होते हैं तब अस्तित्व अनावृत्त होता है। जीवन में जो भी मूल्यवान उपलब्धियाँ होती हैं, वे सब ज्ञानोपयोग में होती हैं। जड़ पदार्थों को हम बुद्धि से जान सकते हैं पर चेतना को नहीं। महावीर ज्ञानोपयोगी थे। उन्होंने ज्ञान की पवित्रता से ही चारित्र की पवित्रता को स्वीकारा और कहा पहले जानो फिर करो। ज्ञान सम्पन्न जीव संसार में विनष्ट नहीं होता। जिस प्रकार धागे से पिरोई सुई गिरने पर भी गुम नहीं होती, उसी प्रकार ज्ञानयुक्त जीव संसार में विलुप्त नहीं होता। सम्यग् ज्ञान 'मैं कौन हूँ?' इस जिज्ञासा से प्रारम्भ होता है और अस्तित्व में लय होने के साथ समाप्त होता है।

जो ज्ञान संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय भावों से रहित यथार्थ पदार्थ का ज्ञाता एवं स्व-पर प्रकाशक है, वही सम्यग् ज्ञान है। ज्ञान के पाँच प्रकार हैं–

१. **मतिज्ञान**–इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाले ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं।

२. **श्रुतज्ञान**–द्रव्य श्रुत के अनुसार दूसरों को समझाने में समर्थ ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा जाता है।

३. **अवधिज्ञान**–मन और इन्द्रियों की अपेक्षा न रखते हुए साक्षात् आत्मा के द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादापूर्वक पदार्थ को ग्रहण करना अविधज्ञान है। यह रूपी पदार्थों को ही अपने ज्ञान का विषय बनाता है।

४. **मनःपर्यवज्ञान**–संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को (मन के पर्यायों को) जानने वाले ज्ञान को मनःपर्यवज्ञान कहते हैं।

५. **केवलज्ञान**–ज्ञानावरण कर्म का निःशेष रूप से क्षय हो जाने पर जिसके द्वारा भूत, वर्तमान और भावी त्रैकालिक सब वस्तुएँ (समस्त पर्यायों सहित) युगपत् अर्थात् एक साथ जानी जाती है, उसे केवलज्ञान कहते हैं। ज्ञान का विषय है–द्रव्य, गुण और पर्याय। धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव–ये छः द्रव्य हैं। गुण और पर्याय अनन्त हैं।

स्वाध्याय भी ज्ञान का ही एक अंग है। स्वाध्याय के पाँच प्रकार हैं। वे ज्ञान-साधना के पाँच उपाय हैं–

१. **वाचना**–श्रुत का अध्ययन, अध्यापन।

२. **पृच्छना**–अज्ञात विषय की जानकारी या ज्ञात विषय की विशेष जानकारी के लिए प्रश्न करना।

३. **परिवर्तना**–परिचित विषय को स्थिर रखने के लिए बार-बार दोहराना।

४. **अनुप्रेक्षा**–परिचित और स्थिर विषय पर चिन्तन करना।

५. **धर्मकथा**–स्थिरीकृत और चिन्तित विषय का उपदेश देना। अध्यात्म विषयक चर्चाएँ करना।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

३. सम्यक् चारित्र

अध्यात्म साधना पद्धति में त्रिविध साधना को अधिक महत्त्व दिया गया है। तीनों का समन्वय रूप ही मोक्ष है। सम्यग् दर्शन और सम्यग् ज्ञान मोक्ष के कारण हैं फिर भी चारित्र साक्षात् कारण है। मोक्ष का सर्वश्रेष्ठ अंग चारित्र है। चारित्र जैन साधना का प्राण है। जैन पारिभाषिक शब्दावली में चारित्र शब्द का अर्थ 'आचरण' किया है। पहले देखना फिर जानना तदनन्तर इन्द्रियों के विषय तथा कषायों पर विजय प्राप्त करना ही चारित्र है। पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति की साधना सम्यक् चारित्र की साधना है।

१. **ईर्या समिति** – जागरूकतापूर्वक चलना ईर्या समिति है।

२. **भाषा समिति** – विवेक पूर्वक बोलना भाषा समिति है।

३. **एषणा समिति** – शुद्ध आहार की गवेषणा करना एषणा समिति है।

४. **आदान-निक्षेप समिति** – जागरूकतापूर्वक वस्त्र, पात्र आदि उपकरण लेना और रखना आदान-निक्षेप समिति है।

५. **उत्सर्ग समिति** – विवेकपूर्वक उत्सर्ग करना उत्सर्ग समिति है।

६. **मनोगुप्ति** – मन की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना मनोगुप्ति है।

७. **वचनगुप्ति** – वचन की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना वचनगुप्ति है।

८. **कायगुप्ति** – शरीर की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना कायगुप्ति है।

इस प्रकार सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र इस रत्नत्रय की युगपत् साधना ही मोक्षमार्ग है। किसी एक का भी अभाव होने पर व्यक्ति अपनी मंजिल तक नहीं पहुँच सकता है।

३. श्रमणाचार

प्रत्येक मनुष्य शाश्वत सुख का अभिलाषी होता है। शाश्वत सुख के लिए आध्यात्मिक विकास आवश्यक है। आध्यात्मिक विकास आचार की शुद्धता के बिना संभव नहीं है। आचार की शुद्धता के लिए आचार मार्ग का अनुसरण आवश्यक है। आचार के दो मार्ग हैं– श्रावकाचार और श्रमणाचार। गृहस्थ आश्रम में रहकर अहिंसा आदि व्रतों का अणुरूप में पालन करना श्रावकाचार है। संन्यास ग्रहण कर अहिंसा आदि व्रतों का अखण्ड रूप से पालन करना श्रमणाचार है।

श्रमण का आचार

आध्यात्मिक जीवन के उत्कर्ष को निरन्तर गतिशील बनाए रखने के लिए व्रत, नियम आदि का पालन तथा मर्यादा-अनुशासन से अपने आचार को संवारना आवश्यक है। महाव्रत, समिति, गुप्ति की साधना करना ही श्रमण का आचार है।

✱ **पाँच महाव्रत** – १. अहिंसा महाव्रत, २. सत्य महाव्रत, ३. अचौर्य महाव्रत, ४. ब्रह्मचर्य महाव्रत, ५. अपरिग्रह महाव्रत।

✱ **पाँच समिति** – १. ईर्या समिति, २. भाषा समिति, ३. एषणा समिति, ४. आदान-निक्षेप समिति, ५. उत्सर्ग समिति।

✱ **तीन गुप्ति** – १. मनगुप्ति, २. वचनगुप्ति, ३. कायगुप्ति।

महाव्रत

महान् और व्रत – इन दो शब्दों से बने महाव्रत का अर्थ है – सर्वोच्च नियम, सार्वभौम नियम। महाव्रती साधु अहिंसा, सत्य आदि का पालन पूर्ण रूप से करता है। उनके लिए किसी भी परिस्थिति में कोई अपवाद नहीं होता। महाव्रत पांच हैं–

१. **अहिंसा महाव्रत** – पांच महाव्रतों में पहला महाव्रत है – अहिंसा। सब प्रकार की हिंसा से विरत होना अहिंसा महाव्रत है। जैन दर्शन के अनुसार किसी प्राणी को जान से मार देना ही हिंसा नहीं है अपितु मन, वचन, शरीर से किसी भी प्राणी को शारीरिक, मानसिक और वाचिक दृष्टि से स्वयं कष्ट पहुँचाना, दूसरों के द्वारा कष्ट पहुँचाना तथा हिंसात्मक कार्यों का अनुमोदन (प्रशंसा) करना भी हिंसा है। अहिंसा का संबंध प्राण वियोजन न करने मात्र से नहीं अपितु संयम से है। संयत प्रवृत्ति होने पर यदि किसी प्राणी का वध हो भी जाए तो वहाँ हिंसा नहीं। संयत प्रवृत्ति न होने पर यदि किसी प्राणी का वध न भी हो तो वहां पर हिंसा है। इस दृष्टि से अहिंसा की परिभाषा है – **'सर्वभूतेषु संयमः अहिंसा'** अर्थात् प्राणी मात्र के प्रति संयम अहिंसा है। दूसरे शब्दों में प्रमाद हिंसा और अप्रमाद अहिंसा है।

२. **सत्य महाव्रत** – किसी भी परिस्थिति में असत्य संभाषण नहीं करना सत्य महाव्रत है। सत्य का संबंध केवल वाणी से नहीं होता अपितु अपना अभिप्राय जताने की हर चेष्टा से होता है। इस दृष्टि से सत्य के चार रूप हैं – शरीर की सरलता, मन की सरलता, वचन की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

सरलता और कथनी-करनी की समानता। क्रोध, मान, माया और लोभ–इन चार कारणों से व्यक्ति झूठ बोलता है। इन चारों कारणों से बचने वाला असत्य-भाषण से अपने आप बच जाता है।

३. अचौर्य महाव्रत–अचौर्य का अर्थ है–अदत्त वस्तु न लेना। बिना दी हुई कोई भी वस्तु श्रमण ग्रहण नहीं करता। बिना अनुमति एक तिनका भी उठाना चोरी है। किसी भी वस्तु की आवश्यकता होने पर उसके स्वामी से पूछकर, उसके देने पर ही ग्रहण करता है। जिस प्रकार वह स्वयं किसी अदत्त वस्तु का सेवन नहीं करता, उसी प्रकार वह न किसी से करवाता है और न ही करने वाले की अनुमोदना (प्रशंसा) करता है। इस प्रकार पूर्ण प्रामाणिकता का नाम ही अचौर्य महाव्रत है।

४. ब्रह्मचर्य महाव्रत–श्रमण के लिए मैथुन का पूर्ण त्याग अनिवार्य है। उनके लिए मन, वचन एवं काय से मैथुन का सेवन करने, करवाने तथा अनुमोदन करने का पूर्ण निषेध है। ब्रह्मचर्य में दो शब्द हैं–ब्रह्म और चर्य। ब्रह्म का अर्थ है–आत्मा, अन्त:करण और चर्य का अर्थ है–विचरण करना। ब्रह्मचारी व्यक्ति अपनी आत्मा में ही रमण करता है। ब्रह्मचर्य का मतलब केवल मैथुन (संभोग) से विरत होना ही नहीं है अपितु पांचों इन्द्रियों तथा मन को विषयासक्ति से सर्वथा निवृत्त रखने से है।

५. अपरिग्रह महाव्रत–पंच महाव्रतों में अंतिम व्रत अपरिग्रह है। परिग्रह के दो रूप हैं–वस्तु-संग्रह और मूर्च्छा। संग्रह और मूर्च्छा का अभाव ही अपरिग्रह महाव्रत है।

श्रमण के लिए धर्मोपकरण के अतिरिक्त वस्तु मात्र का संग्रह सर्वथा वर्जित है। मूर्च्छा का जहाँ तक प्रश्न है, वह न धर्मोपकरण के प्रति होनी चाहिए और न किसी अन्य वस्तु पर। शास्त्रों में तो यहाँ तक कहा गया है–**'अवि अप्पणो वि देहम्मि नायरंति ममाइयं'** अर्थात् मुनि अपने शरीर पर भी ममत्व न करे। अपरिग्रह महाव्रत की पूर्णता इसी में है। ये पांचों महाव्रत मुनि के लिए तीन करण (करना, करवाना, अनुमोदन करना) और तीन योग (मन, वचन और शरीर) से अनिवार्य रूप से पालनीय है, समाचरणीय हैं।

रात्रि भोजन व्रत–इन पांच महाव्रतों के साथ-साथ मुनि के लिए रात्रि भोजन का भी निषेध है। अत: कहा गया–मुनि सूर्यास्त से लेकर सूर्योदय तक किसी भी प्रकार के आहार की मन से भी इच्छा न करे। जैन मुनि रात्रि में किसी भी प्रकार के आहार का उपभोग नहीं करता। अहिंसा व्रत की साधना के लिए रात्रि भोजन का त्याग अनिवार्य माना गया है। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी रात्रि भोजन का त्याग आवश्यक है।

समिति

समिति अर्थात् सम्यक् प्रवृत्ति। महाव्रतों की सुरक्षा और विशुद्धता के लिए समिति का विधान किया गया है। श्रमण धर्म निवृत्ति प्रधान है। फिर भी जीवन चर्या को चलाने के लिए चलना, बैठना, उठना, बोलना, भोजन करना, उपकरण आदि उठाना और रखना, मल-मूत्र का विसर्जन करना आदि क्रियाएँ करनी पड़ती हैं। इन प्रवृत्तियों को जागरूकता के साथ संयमपूर्वक संपन्न करना समिति कहलाता है। समिति के पांच भेद हैं–१. ईर्या समिति, २. भाषा समिति, ३. एषणा समिति, ४. आदाननिक्षेप समिति, ५. उत्सर्ग समिति।

१. ईर्या समिति–इसका सामान्य अर्थ है–गमनागमन विषयक जागरूकता। चलते समय शरीर परिमाण भूमि को आंखों से देखते हुए, संयमपूर्वक चलना ईर्या समिति है। चलते समय दृष्टि को यदि बहुत दूर रखा जाए तो सूक्ष्म जीव देखे नहीं जा सकते। दृष्टि को अत्यन्त निकट रखा जाए तो सहसा पैर के नीचे आने वाले जीवों की हिंसा से भी बचा नहीं जा सकता। इसलिए शरीर परिमाण क्षेत्र देखकर चलने का विधान है। चलते समय बातचीत, अध्ययन, चिन्तन आदि कार्यों का भी निषेध रखना चाहिए।

२. भाषा समिति–भाषा विषयक संयम को भाषा समिति कहते हैं। मेरे वचनों से किसी को किसी प्रकार की पीड़ा न पहुँचे, इस उद्देश्य से हितकारी वचन बोलना भाषा समिति है। हमेशा सत्य वचन, प्रिय वचन बोलना चाहिए।

३. एषणा समिति–भिक्षाचर्या विषयक विवेक एषणा समिति कहलाता है। निर्दोष आहार, पानी आदि वस्तुओं का अन्वेषण करना एषणा समिति है।

४. आदाननिक्षेप समिति–आदान अर्थात् ग्रहण करना और निक्षेप अर्थात् रखना। किसी भी वस्तु को ग्रहण करते समय अर्थात् उठाते समय और रखते समय स्थान को अच्छी तरह से देखकर इस तरह रखना कि सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवों की भी हिंसा न हो, इसे आदाननिक्षेप समिति कहते हैं।

५. उत्सर्ग समिति–मल-मूत्र का विसर्जन एकान्त स्थान में, जीव-जन्तु से रहित स्थान में करना उत्सर्ग समिति है।

गुप्ति

सम्यक् प्रकार से मन, वचन और काययोग का निग्रह-निरोध करना गुप्ति है। गुप्ति के तीन प्रकार हैं–१.मनोगुप्ति, २.वचनगुप्ति, ३. कायगुप्ति।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

१. **मनोगुप्ति**—मन का सर्वथा निग्रह अथवा मन की असंयत प्रवृत्ति का निग्रह मनोगुप्ति है।

२. **वचनगुप्ति**—वचन का सर्वथा निग्रह अथवा वचन की असंयत प्रवृत्ति का निग्रह मनोगुप्ति है।

३. **कायगुप्ति**—शरीर की प्रवृत्ति का सर्वथा निग्रह अथवा शरीर की असंयत प्रवृत्ति का निग्रह कायगुप्ति है।

इस प्रकार श्रमण पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति की आजीवन अखण्ड आराधना करता है। यही श्रमण का आचार है।

४. श्रावकाचार

भगवान महावीर ने चार तीर्थ की स्थापना की—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका। साधु-साध्वी का आचार श्रमणाचार कहलाता है तथा श्रावक और श्राविका का आचार श्रावकाचार कहलाता है। आचरण की पवित्रता ही मानव-जीवन का सर्वस्व है। जैन दर्शन में जैसे सम्यग् ज्ञान का महत्त्व है, वैसे ही सम्यक् आचरण का महत्त्व है। केवल ज्ञान या केवल आचरण से मोक्ष नहीं मिलता, किन्तु दोनों के उचित संयोग से ही मोक्ष मिलता है।

जैन दर्शन के अनुसार गृहस्थ व्यापार आदि के द्वारा गृह-निर्वाह करता हुआ भी धर्म की आराधना कर सकता है। एक गृहस्थ अहिंसा का पूर्ण पालन नहीं कर सकता किन्तु अनावश्यक हिंसा को छोड़ सकता है। अनावश्यक हिंसा को छोड़ना धर्म है। इसी प्रकार बड़ी झूठ, बड़ी चोरी का परिहार करना, पर-स्त्री का त्याग और अनावश्यक धन संग्रह नहीं करना भी धर्म है।

श्रावक के बारह व्रत

भगवान् महावीर ने श्रावक के लिए बारह व्रतों का विधान किया है। उनमें से पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं।

पांच अणुव्रत—१. अहिंसा अणुव्रत, २. सत्य अणुव्रत, ३. अचौर्य अणुव्रत, ४. ब्रह्मचर्य अणुव्रत, ५. अपरिग्रह अणुव्रत।

तीन गुणव्रत—६. दिग्व्रत, ७. भोग-परिभोग व्रत, ८. अनर्थदण्ड व्रत।

चार शिक्षाव्रत—९. सामायिक, १०. देशावकाशिक, ११. पौषधोपवास, १२. अतिथि-संविभाग।

अणुव्रत

अणु का अर्थ है—छोटा और व्रत का अर्थ है—नियम। छोटे-छोटे नियम (त्याग) अणुव्रत कहलाते हैं। अणुव्रत पाँच हैं—

१. **अहिंसा अणुव्रत**—श्रावक छोटे-बड़े सभी जीवों की मानसिक, वाचिक तथा कायिक हिंसा का पूर्णतया त्याग नहीं कर पाता। अपने जीवन को चलाने के लिए उसे आवश्यक हिंसा करनी पड़ती है। किन्तु वह अनावश्यक हिंसा का त्याग कर सकता है। जैसे—चलते-फिरते निरपराध प्राणियों को जान-बूझकर नहीं मारूँगा। बड़े वृक्ष नहीं काटूँगा। ऐसा व्यापार नहीं करूँगा, जिसमें बहुत ज्यादा हिंसा होती है। इस प्रकार स्थूल हिंसा का त्याग करना अहिंसा अणुव्रत है।

२. **सत्य अणुव्रत**—श्रावक पूर्ण सत्य बोलने का व्रत नहीं ले सकता क्योंकि कभी-कभी उसे परिस्थितिवश असत्य संभाषण करना पड़ता है। परन्तु यदि वह सावधानी रखे तो बड़ा झूठ बोलने का त्याग कर सकता है। जैसे—जिससे किसी निर्दोष प्राणी की हत्या हो, झूठ बोलने से किसी का बहुत बड़ा नुकसान हो, ऐसे असत्य का त्याग करना सत्य अणुव्रत है।

३. **अचौर्य अणुव्रत**—श्रावक पूर्ण रूप से चोरी को नहीं छोड़ सकता किन्तु डाका डालकर, ताला तोड़कर, लूट-खसोटकर, बड़ी चोरी का त्याग करना अचौर्य-अणुव्रत है। जिस चोरी से राजदण्ड मिले और लोग निन्दा करें, वैसी चोरी बहुत घृणित मानी जाती है। उसे छोड़ना प्रत्येक श्रावक का ही नहीं, प्रत्येक सभ्य व्यक्ति का कर्त्तव्य है।

४. **ब्रह्मचर्य अणुव्रत**—श्रावक संन्यासी नहीं होता। अपनी वंश परम्परा को चलाने के लिए वह विवाह करता है। अपनी पत्नी में ही संतोष करना ब्रह्मचर्य अणुव्रत है। दूसरे शब्दों में वेश्या गमन और पर-स्त्री संभोग का त्याग करना तथा अपनी स्त्री के साथ भी संभोग की मर्यादा करना ब्रह्मचर्य अणुव्रत है। इसी प्रकार स्त्री पर-पुरुष के साथ संभोग का त्याग करती है तथा अपने पति के साथ संभोग की मर्यादा करती है। कामुकता का जितने अंशों में त्याग किया जाता है, वह ब्रह्मचर्य अणुव्रत है।

५. **अपरिग्रह अणुव्रत**—श्रावक पूर्ण अपरिग्रही नहीं हो सकता। जीवन की न्यूनतम आवश्यकताएँ परिग्रह से ही पूरी होती हैं। सोना, चांदी, मकान, धन आदि सब परिग्रह हैं। परिग्रह के संचय की मर्यादा करना अपरिग्रह अणुव्रत है। दुनियां में धन-संचय की कोई सीमा नहीं। मानव ज्यों-ज्यों उसका संचय करता है, लालसा बढ़ती ही जाती है। इस बढ़ती हुई लालसा को रोकने के लिए अपरिग्रह अणुव्रत का विधान है। इसका दूसरा नाम—इच्छा-परिमाण भी है। इच्छाएँ अनन्त हैं। वे कभी पूरी नहीं होती। एक इच्छा पूरी होती है तो दूसरी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इच्छा उत्पन्न हो जाती है। उन बढ़ती हुई इच्छाओं की सीमा करना इच्छा परिमाण व्रत है। भगवान महावीर ने पदार्थ के प्रति मूर्च्छा-आसक्ति को भी परिग्रह कहा है।

गुणव्रत

अणुव्रतों की रक्षा तथा विकास के लिए जैन आचारशास्त्रों में गुणव्रतों की व्यवस्था की गई है। अणुव्रतों की दृढ़ता के लिए जिन विशेष गुणों की आवश्यकता होती है, उन्हें गुणव्रत कहा जाता है। गुणव्रत तीन हैं।

६. **दिग्व्रत**–दिग् अर्थात् दिशा। श्रावक को अपने व्यापार या अन्य कार्यवश सभी दिशाओं में यात्रा करनी पड़ती है। पूर्व-पश्चिम आदि सभी दिशाओं में एक सीमा निश्चित कर उस सीमा से बाहर हर तरह के सावद्य-कार्य करने का त्याग करना दिग्व्रत है।

७. **भोगोपभोग-परिमाणव्रत**–जो वस्तु एक बार उपयोग में आती है, उसे भोग कहते हैं, जैसे–भोजन, पानी आदि। जो वस्तु बार-बार उपयोग में आती है, उसे उपभोग या परिभोग कहते हैं, जैसे–मकान, वस्त्र, पलंग आदि। भोग और उपभोग में आने वाली वस्तुओं का सीमाकरण करना भोगोपभोग परिमाणव्रत है। इस व्रत से जीवन में सरलता एवं सादगी आती है तथा अहिंसा और संतोष की रक्षा होती है।

८. **अनर्थदण्डविरतिव्रत**–अपने तथा अपने परिवार के जीवन निर्वाह के लिए एक श्रावक को आवश्यक हिंसा करनी पड़ती है। किन्तु बिना प्रयोजन के की जाने वाली हिंसात्मक प्रवृत्ति का त्याग करना अनर्थदण्डविरति व्रत है।

शिक्षाव्रत

शिक्षा का अर्थ है–अभ्यास। जिस प्रकार विद्यार्थी पुनः पुनः विद्या का अभ्यास करता है, उसी प्रकार श्रावक को कुछ व्रतों का पुनः पुनः अभ्यास करना पड़ता है। इसी अभ्यास के कारण इन व्रतों को शिक्षाव्रत कहा गया है। अणुव्रत और गुणव्रत एक ही बार जीवन भर के लिए ग्रहण किए जाते हैं तथा शिक्षाव्रत बार-बार ग्रहण किए जाते हैं। शिक्षाव्रत चार हैं।

९. **सामायिक व्रत**–सामायिक सम और आय–इन दो शब्दों के संयोग से बना है। सम का अर्थ है–समता, समभाव। आय का अर्थ है–लाभ, प्राप्ति। जिससे समभाव का लाभ या समता की प्राप्ति होती है, उसे सामायिक कहते हैं। जैन परम्परा में एक मुहूर्त्त (४८ मिनिट) तक सावद्य-प्रवृत्ति का त्याग कर स्वभाव में स्थिर होने का अभ्यास करना सामायिक व्रत है।

१०. **देशावकाशिक व्रत**–एक निश्चित अवधि के लिए हिंसा, असत्य आदि का त्याग करना देशावकाशिक-व्रत है। प्रथम आठ व्रतों मे जो त्याग किए जाते हैं, वे जीवन भर के लिए किए जाते हैं। किन्तु जो श्रावक इन आठों व्रतों का त्याग जीवन भर के लिए न करके दो-चार वर्षों के लिए करता है, तो वे सब त्याग (व्रत) दसवें व्रत देशावकाशिक व्रत में आते हैं।

११. **पौषधव्रत**–अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, अमावस्या तथा अन्य किसी तिथि में उपवास के साथ शारीरिक साज-सज्जा को छोड़कर एक दिन-रात तक सावद्य प्रवृत्ति का त्याग करना पौषध व्रत है। चौविहार उपवास के बिना पौषधव्रत नहीं होता। तिविहार उपवास कर जो चार प्रहर या अधिक समय तक पौषध किया जाता है, वह पौषध व्रत नहीं अपितु देशावकाशिक व्रत ही होता है।

१२. **अतिथि-संविभाग व्रत**–साधु को शुद्ध दान देने की भावना रखना प्रत्येक श्रावक-श्राविका का कर्त्तव्य है। साधु के निमित्त कोई वस्तु बनाकर, बाजार से मंगवाकर यदि साधु को दी जाती है तो वह अशुद्ध दान है। स्वयं के निमित्त से बनाई गई, मंगवाई गई वस्तु का दान देना शुद्ध दान है। साधु को अशुद्ध दान देने का त्याग करना और शुद्ध दान देना अतिथि संविभाग-व्रत है।

बारह व्रतों की उपयोगिता- आचार्य महाप्रज्ञजी ने श्रावक के बारह व्रतों की उपयोगिता को बताते हुए लिखा है–श्रावक के व्रतों का धार्मिक दृष्टि से तो महत्त्व है ही, किन्तु सामाजिक और राष्ट्रीय दृष्टि से भी उनका कम महत्त्व नहीं है, जैसे–

१. हिंसा की भावना से परस्पर वैमनस्य बढ़ता है। उससे विरोधी भावना बलवती बनती है। उससे मानवता नष्ट होती है। अतः हिंसा त्याज्य है। श्रावक के पहले व्रत का उद्देश्य है–**'मेत्ती में सव्व भूएसु वेरं मज्झ न केणइ'**–सब प्राणियों के साथ मेरी मैत्री है, किसी के साथ वैर-भावना नहीं है।

२. समाज के सारे व्यवहार का आधार सत्य है। उसके बिना एक दिन भी काम नहीं चल सकता। लेन-देन के बिना काम नहीं चलता और वह विश्वास के बिना नहीं होता और विश्वास सत्य के बिना नहीं होता। इसलिए सत्य सदा अपेक्षित है।

३. दूसरों पर अधिकार जमाने, लूट-खसोट करने, डाका डालने और सैनिक आक्रमण करने से अशांति का वातावरण पैदा होता है। जनता तिलमिला उठती है। चारों ओर भय छा जाता है। अतः स्थायी शांति के लिए सभी अपराधों का त्याग करना सबके लिए अनिवार्य है। श्रावक के अस्तेय-व्रत की यह एक महत्ती उपयोगिता है। चोरी सामाजिक विष है। समाज की उन्नति के लिए भी इस विष का नाश अपेक्षित होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

४. ब्रह्मचर्य ही जीवन है। उसके बिना मनुष्य निःसत्व, बलहीन, दीन और सुषुप्त बन जाता है। ब्रह्मचारी का आत्मविश्वास अटल होता है। उसे न्यायमार्ग से कोई विचलित नहीं कर सकता। ब्रह्मचारी का आत्मबल बड़ा विचित्र होता है। शक्ति-सम्पन्न समाज के निर्माण में ब्रह्मचर्य का बहुत बड़ा योग है।

५. धन-धान्य आदि वस्तुओं का आवश्यकता से अधिक संचय करना सार्वजनिक हित के प्रतिकूल है। समाजवादी कहते हैं कि एक धनकुबेर हो और दूसरा एकदम दरिद्र–ऐसी व्यवस्था हम देखना नहीं चाहते। अपरिग्रह-व्रत का हार्द यह है कि अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह मत करो।

६. दिग्-व्रत से विस्तारवादी मनोवृत्ति कम होती है। सभी दिशाओं में जाने की मर्यादाएँ हो जाए तो सहज ही शोषण और आक्रमण जैसी स्थितियाँ हट जायें। जिनमें विस्तारवादी भावनाएँ होती हैं, वे व्यापार करने व दूसरों पर अधिकार करने को दूर-दूर तक जाते हैं। किन्तु दिग्व्रती बहुत दूर तक या तो जाता ही नहीं और जाता है तो व्यापार या आक्रमण के लिए नहीं जाता।

७. कहा जाता है कि अपने देश की उद्योग-वृद्धि के लिए विदेशी वस्तुओं का उपभोग मत करो। भोग्य पदार्थों का अधिक संचय मत करो। सातवें व्रत को अच्छी तरह अपना लेने से यह बात सहज ही फलित हो जाती है। जो व्यक्ति प्रतिज्ञा करता है कि मैं अपने देश में बनी हुई वस्तु के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु को काम में नहीं लाऊँगा, इतनी से अधिक वस्तुओं को काम में नहीं लाऊँगा, तब आत्म-कल्याण के साथ-साथ देश की उन्नति सहज ही हो जाती है।

८. गृहस्थ अपने स्वार्थ के लिए हिंसा करता है पर उसे कम से कम अनर्थ पाप से अवश्य बचना चाहिए। बिना प्रयोजन चलते-फिरते किसी जीव को मार डालना, गाली देना, झगड़ा करना, ईर्ष्या करन, द्वेष करना, बिना मतलब पानी गिराना, वनस्पति को कुचलते हुए चलना, अग्नि को जलाकर छोड़ देना, घी-तेल आदि के बर्तनों को खुला रख देना–इत्यादि ऐसे अनेक काम हैं, जिनसे बचना आत्म-कल्याण के लिए तो उपयोगी है ही, सामाजिक दृष्टि से भी उपादेय है।

९. समता सबसे बड़ा सुख है। विषमता दुःख है। गृहस्थ समता की आराधना से वंचित न रहे, इसलिए नौवें व्रत का विधान है। एक मुहूर्त्त तक आत्म-चिन्तन आदि के द्वारा समता (सामायिक) की आराधना करने से वास्तविक शान्ति का अनुभव होता है।

१०. दैनिक चर्या की विशुद्धि के लिए दसवां व्रत है। खाने-पीने या भोग्य पदार्थों की दुनिया में कमी नहीं। मनुष्य लोलुपता के वशीभूत होकर उनका अधिक से अधिक उपभोग करता है। परन्तु उससे शारीरिक एवं मानसिक–दोनों तरह की हानि होती है। दसवाँ व्रत सिखाता है कि भोग्य-पदार्थों की असारता को समझकर आत्म-संयम करना सीखो। यदि भोग्य-पदार्थों का त्याग एक साथ न हो सके तो अवधि-सहित ही करो। यदि अधिक अवधि तक न हो सके तो एक-एक दिन के लिए करो या उससे भी कम समय के लिए करो। उससे आत्म-कल्याण होगा। साथ ही साथ स्वास्थ्य भी सुधरेगा, मानसिक शक्ति भी दृढ़ होगी, आत्मबल भी बढ़ेगा।

११. ग्यारहवें व्रत में वर्ष में कम से कम एक पौषध-उपवास करना ही चाहिए। इससे आत्मिक आनन्द का अनुभव होता है। स्वास्थ्य का भी इससे गहरा सम्बन्ध है।

१२. बारहवें व्रत में संविभाग का उपदेश है। अपने खाने-पीने और पहनने की वस्तु का कुछ विभाग मुनि को देना श्रावक का धर्म है। इस प्रकार दान से जो कमी हो, उसकी पूर्ति के लिए हिंसा आदि न कर आत्म-संयम करना चाहिए। गृहस्थ के लिए भोजन बनाया जा सकता है, मोल भी लिया जा सकता है परन्तु साधु ऐसे आहार को कभी नहीं लेता। अतः श्रावक का यह परम कर्त्तव्य है कि वह अपने लिए बनाई वस्तु का कुछ अंश साधु को दान दे। यह पात्र-दान है, आत्मसंयम है।

५. जैन जीवनशैली

जन्म और मृत्यु जीवन के दो किनारे हैं। उन पर हमारा अधिकार नहीं है। कब, कहाँ, किस रूप में जन्म लेना या मृत्यु को प्राप्त करना, यह व्यक्ति के वश में नहीं है। जन्म और मृत्यु के बीच का जो जीवन है, उस पर व्यक्ति का अधिकार है। उस जीवन को व्यक्ति अपनी इच्छानुसार जी सकता है। अच्छा जीवन जीने के लिए आवश्यक है–अच्छी जीवन-शैली का होना। शैली शब्द शील से बना है। शील का अर्थ है–स्वभाव। संस्कृत-अंग्रेजी कोश में शैली का अर्थ–बिहेवियर–व्यवहार किया गया है। जीवनशैली से तात्पर्य है–जीवन का व्यवहार अथवा जीवन की कार्य प्रणाली। एक गृहस्थ की जीवनशैली में कुछ सहज अच्छे संस्कार बन जाएँ, यह अपेक्षित है।

प्राचीन आचार्यों ने जैन गृहस्थ के लिए एक जीवनशैली निर्धारित की, जिसमें सप्त व्यसन के परिहार की बात थी। सप्त व्यसन हैं– शराब नहीं पीना, मांस नहीं खाना, जुआ नहीं खेलना, शिकार नहीं करना, चोरी नहीं करना, वेश्यागमन नहीं करना तथा परस्त्रीगमन नहीं करना।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उस समय यह एक जीवनशैली बन गई थी कि जो जैन श्रावक होगा, वह इस आधार पर चलेगा। वही शैली आज तक चली आ रही है। पर इस बदलते हुए युग में, समाज की बदलती हुई अवधारणाओं में जीवनशैली भी विकृत होती जा रही है अत: उस पर पुनर्विचार करना आवश्यक प्रतीत हो रहा था।

आचार्यश्री तुलसी ने इस विषय पर चिंतन किया और एक जैन गृहस्थ की जीवनशैली का निर्धारण किया, जिसमें जीवनशैली के मुख्य नौ सूत्र हैं। उनका मानना है कि इस जैन जीवनशैली में जन जीवनशैली अर्थात् मानव मात्र की जीवनशैली बनने की क्षमता है। जो भी इस जीवनशैली को अपनाएगा, वह सुख और शांति का जीवन जी सकेगा।

नवसूत्री जैन जीवनशैली

जैन जीवनशैली के नौ सूत्र निम्न हैं– १. सम्यक् दर्शन, २. अनेकान्त, ३. अहिंसा, ४. समण संस्कृति, ५. इच्छा-परिमाण, ६. सम्यक् आजीविका, ७. सम्यक् संस्कार, ८. आहारशुद्धि एवं व्यसनमुक्ति, ९. साधर्मिक वात्सल्य।

१. सम्यक् दर्शन–जैन जीवनशैली का पहला सूत्र है–सम्यक् दर्शन। सम्यक् दर्शन अर्थात् सही एवं सकारात्मक दृष्टिकोण का विकास। मिथ्या दृष्टिकोण वाला व्यक्ति कभी भी अच्छा जीवन नहीं जी सकता। अच्छे जीवन के लिए आवश्यक है दृष्टिकोण विधायक बने तथा निषेधात्मक भाव दूर हों। जिस व्यक्ति के तीव्रतम कषाय उपशान्त होते हैं, उसी का दृष्टिकोण सम्यक् होता है। जो छोटी-छोटी बातों पर उत्तेजित होता रहता है, वह जीवन को सही रूप में समझ और जी नहीं सकता। सम्यक् दर्शन प्राप्त होने पर जीवन के प्रति व्यक्ति का दृष्टिकोण बदल जाता है। अन्धानुकरण एवं अंधविश्वास की प्रवृत्ति से उसे छुटकारा मिलता है। अत: जीवनशैली का प्रथम एवं महत्त्वपूर्ण आयाम है–सम्यक् दर्शन।

२. अनेकान्त–जैन जीवनशैली का दूसरा सूत्र है–अनेकान्त। आग्रह-विग्रह का मूल कारण है–एकान्त दृष्टिकोण। जहाँ अनेकान्त का सिद्धान्त सामने होता है, वहाँ आग्रह-विग्रह टिक नहीं सकते। निरपेक्ष दृष्टिकोण के कारण आग्रह होता है। अनेकान्त सापेक्ष दृष्टिकोण का विकास करता है, जिससे 'मैं जो कहता सत्य वही है, तूँ जो कहता सत्य नहीं है' ऐसा आग्रह नहीं पनपता। अनेकान्तिक दृष्टिकोण वाला व्यक्ति हर कथन में सत्य खोजने का प्रयास करता है। अनेकान्त विवादास्पद प्रसंगों में सामंजस्य तथा समन्वय की मनोवृत्ति का विकास करता है। यह जिसकी जीवनशैली का अंग बन जाता है, उसके आवेश समाप्त हो जाते हैं। सामुदायिक जीवन भी अच्छा बन जाता है। वह छोटी-छोटी बातों में उलझता नहीं अपितु अनेकान्तिक जीवनशैली के कारण हर परिस्थिति में सामंजस्य स्थापित कर लेता है।

३. अहिंसा–जैन जीवनशैली का तीसरा सूत्र है–अहिंसा। हिंसा और जीवन दोनों आपस में जुड़े हुए हैं। गृहस्थ जीवन हिंसा के बिना नहीं चल सकता अत: एक गृहस्थ पूर्ण अहिंसक नहीं बन सकता। जीवन यापन के लिए हिंसा अपरिहार्य है। अहिंसक जीवनशैली से तात्पर्य पूर्ण अहिंसक बनने से नहीं अपितु अनावश्यक की जाने वाली हिंसा को छोड़ने से है। हिंसा का अल्पीकरण करने से है।

- हिंसा के अल्पीकरण का पहला प्रयोग है–अनावश्यक हिंसा का वर्जन।
- हिंसा के अल्पीकरण का दूसरा प्रयोग है–आक्रामक वृत्ति का परित्याग।
- हिंसा के अल्पीकरण का तीसरा प्रयोग है–आत्महत्या का परित्याग।
- हिंसा के अल्पीकरण का चौथा प्रयोग है–भ्रूणहत्या का परित्याग।

अहिंसक जीवनशैली में इन चारों का बहुत महत्त्व है। अहिंसक जीवनशैली से मानवीय संबंधों का विकास होता है, पारिवारिक और सामाजिक संबंधों का विकास होता है। मैत्री और करुणा का विकास होता है।

४. समण संस्कृति–जैन जीवनशैली का चौथा सूत्र है–समण संस्कृति। समानता, उपशम भाव और श्रमशीलता का संगम समण संस्कृति का प्राण है। समानता की भावना से मानवीय एकता की भावना को बल मिलता है तथा जातीय छुआछूत की समाप्ति होती है। उपशम भाव आध्यात्मिक विकास के लिए जितना आवश्यक है, अच्छा जीवन जीने के लिए भी उतना ही जरूरी है। श्रम अर्थात् पुरुषार्थ के बिना कोई भी समाज प्रगति नहीं कर सकता। आज की बढ़ती हुई सुविधावादी मनोवृत्ति का परिष्कार श्रमनिष्ठा के संस्कारों से ही संभव है। श्रमशीलता के अभाव में न तो शारीरिक स्वास्थ्य सुरक्षित रह सकता है और न मानसिक प्रसन्नता बनी रह सकती है। इसीलिए सम, शम और श्रम प्रधान जीवनशैली को ही समण संस्कृति में स्थान दिया गया है।

५. इच्छापरिमाण–जैन जीवनशैली का पांचवां सूत्र है–इच्छा का परिमाण। जब तक जीवन में इच्छा-परिमाण की बात नहीं आती तब तक अहिंसा का विकास नहीं हो सकता। आज वैश्विक स्तर पर कुछ समस्याएँ बढ़ती जा रही हैं, उनमें से कुछ हैं–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

❊ पदार्थ के भोग और संग्रह की सीमा का अभाव।

❊ प्रसाधन सामग्री के प्रति बढ़ता हुआ आकर्षण।

❊ विसर्जन शून्य अर्जन।

❊ पदार्थ के प्रति बढ़ती हुई आसक्ति।

इन समस्याओं का समाधान हर स्तर पर खोजा जा रहा है। 'इच्छा-परिमाण' इसका अच्छा समाधान है। जब जीवन में इच्छाओं का सीमाकरण हो जाता है तो पदार्थ के भोग और संग्रह की सीमा स्वत: हो जाती है। क्रूर हिंसाजनित प्रसाधन सामग्री का परिहार होता है, अर्जन के साथ विसर्जन की मनोवृत्ति का विकास होता है तथा पदार्थ के प्रति अनासक्ति की चेतना जागृत होती है।

६. सम्यक् आजीविका–जैन जीवनशैली का छठा सूत्र है–सम्यक् आजीविका। वर्तमान युग अर्थप्रधान युग है। अर्थ का संबंध जीवन-यापन से है। अर्थ के अभाव में जीवन-यापन असंभव है। अर्थ प्राप्ति के लिए व्यक्ति व्यवसाय करता है किन्तु अर्थ के प्रति बढ़ती हुई लालसा उसके व्यवसाय को सम्यक् नहीं रहने देती। अधिक अर्जन, अधिक संग्रह और अधिक भोग की मनोवृत्ति के कारण आज अर्जन के तरीके सही नहीं हैं, जिसके कारण उग्रवाद, आतंकवाद, डकैती, अपहरण, हत्या आदि घटनाएँ बढ़ती जा रही हैं। अत: आवश्यक है आजीविका की शुद्धि पर ध्यान दिया जाए। सम्यक् आजीविका का सिद्धान्त स्वस्थ समाज का दर्शन है। इसके अनुसार मुख्य रूप से तीन प्रकार के व्यवसाय त्याज्य हैं–

❊ धोखाधडी वाले व्यवसाय।

❊ लोक में घृणित माने जाने वाले व्यवसाय।

❊ पर्यावरण को प्रदूषित करने वाले व्यवसाय।

जैन जीवनशैली व्यवसाय में साधन शुद्धि की प्रेरणा देती है। इससे व्यावसायिक क्षेत्र की प्रमुख समस्याओं का समाधान स्वत: होता है।

७. सम्यक् संस्कार–जैन जीवनशैली का सातवां सूत्र है–सम्यक् संस्कार। वैदिक परम्परा के अनुसार जन्म से मृत्यु तक मनुष्य जीवन में सोलह संस्कारों को महत्त्वपूर्ण माना गया है। इनमें से अनेक संस्कार जैन परिवारों में भी मान्य हैं। उन संस्कारों, पर्व, उत्सवों को जैन संस्कार विधि से मनाना चाहिए। जैन संस्कार विधि संयम और सादगी की प्रतीक है। आज बच्चों में, बड़ों में पाश्चात्य संस्कृति हावी होती जा रही है, वे अपनी भारतीय संस्कृति को भूलते जा रहे हैं। बड़ों का विनय करना, उन्हें प्रणाम करना, उनकी आज्ञा का पालन करना मात्र उपदेश रह गया है। इसलिए जैन जीवनशैली का एक सूत्र रखा गया है–सम्यक् संस्कार। हमारी जीवनशैली संस्कारी हो।

८. आहारशुद्धि व व्यसनमुक्ति–जैन जीवनशैली का आठवां सूत्र है–आहारशुद्धि और व्यसनमुक्ति। स्वस्थ और संतुलित जीवन के लिए आहारशुद्धि बहुत आवश्यक है। शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक स्वास्थ्य की वृद्धि में भी आहारशुद्धि एवं व्यसनमुक्ति की प्रमुख भूमिका है। आवेश और आवेग पर नियंत्रण रखने के लिए तथा अपराधों से बचने के लिए भी आहारशुद्धि आवश्यक है।

श्रावक की चर्या सब प्रकार के व्यसन से मुक्त होनी चाहिए। उसके खान-पान में शराब, मांस और अण्डों का समावेश या इनका मिश्रण भी नहीं होना चाहिए। पानपराग, गुटखा, चुटकी, जर्दा, अफीम आदि नशीले पदार्थों का सम्पर्क भी सदा वर्जित रहना चाहिए। इंग्लैण्ड के प्रोफेसर हैग ने अपनी पुस्तक 'यूरिक एसिड और रोगों का कारण' में लिखा है–मांस और अण्डे में यूरिक एसिड होती है। उससे गठिया, लकवा, अनिद्रा, मधुमेह, नेत्रविकार आदि अनेक बीमारियाँ हो सकती हैं। उनके सेवन से बौद्धिक और भावनात्मक विकास भी रुक जाता है। अत: आहारशुद्धि और व्यसनमुक्ति का अभ्यास स्वस्थ रहने का एक बहुत बड़ा उपाय है।

९. साधर्मिक वात्सल्य–जैन जीवनशैली का नौवां सूत्र है– साधर्मिक वात्सल्य। साधर्मिक वात्सल्य जैनों का पारिभाषिक शब्द है। आज के युग में इसे भाईचारे का रूप दिया जा सकता है। एक ही धर्म के प्रति श्रद्धा रखने वाले लोगों के प्रति भाईचारे का व्यवहार करना साधर्मिक वात्सल्य है। साधर्मिक व्यक्ति की विशेषताओं का खुले मन से गुणगान करना, धर्म के क्षेत्र में अस्थिर साधर्मिक को प्रेरणा देकर धर्म में पुन: स्थिर करना तथा उनके प्रति आत्मीयपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। इससे जातीय सद्भाव, साम्प्रदायिक सद्भाव बढ़ता है।

इस प्रकार यह नवसूत्री जैन जीवनशैली एक चमत्कारिक जीवनशैली है। इसे अपनाने वाले व्यक्ति स्वस्थ समाज-संरचना की इकाई बन सकते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

६. नौ तत्त्व

जैन दर्शन में तत्त्व को विस्तार से समझाने के लिए दो पद्धतियाँ काम में ली गई हैं–जागतिक और आत्मिक। जहाँ जागतिक विवेचन की प्रमुखता होती है, वहाँ छः द्रव्यों की चर्चा की जाती है तथा जहाँ आत्मिक तत्त्व प्रमुख होता है, वहाँ नौ तत्त्वों का विवेचन उपलब्ध होता है। मोक्ष साधना में उपयोगी ज्ञेय पदार्थ को तत्त्व कहा जाता है। वे संख्या में नौ हैं–

१. **जीव**–जिसमें चेतना हो, वह जीव है।

२. **अजीव**–जिसमें चेतना न हो, वह अजीव है।

३. **पुण्य**–शुभ रूप में उदय आने वाले कर्म-पुद्गल पुण्य हैं।

४. **पाप**–अशुभ रूप में उदय आने वाले कर्म पुद्गल पाप हैं।

५. **आश्रव**–कर्मपुद्गलों को ग्रहण करने वाली आत्मप्रवृत्ति आश्रव है।

६. **संवर**–वह आत्मपरिणति, जिससे आश्रव का निरोध होता है, संवर है।

७. **निर्जरा**–तपस्या आदि के द्वारा कर्म-विलय होने से आत्मा की जो आंशिक उज्ज्वलता होती है, वह निर्जरा है।

८. **बंध**–आत्मा के साथ बंधे हुए कर्म-पुद्गलों का नाम बंध है।

९. **मोक्ष**–समस्त कर्मों से मुक्त हो आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित आत्मा मोक्ष है।

१. जीव

नौ तत्त्व के विवेचन में जीव तत्त्व को प्रथम स्थान प्राप्त है। **उपयोगलक्षणो जीवः** के अनुसार उपयोग जीव का लक्षण है। उपयोग से तात्पर्य ज्ञान और दर्शन है। जीव तत्त्व के मुख्यतः दो भेद किए गए हैं–संसारी और मुक्त। इस भेद का आधार कर्म है। जो जीव कर्म से बंधे हुए हैं वे संसारी हैं और जो कर्मों से मुक्त हो गए हैं, वे मुक्तजीव हैं। नव तत्त्वों में विवेचित प्रथम तत्त्व 'जीव' संसारी जीव और नवां तत्त्व 'मोक्ष' मुक्त जीव है। कर्म बंधन के कारण ही जीव नाना योनियों में भ्रमण करते हैं। ऐसे संसारी जीव पुनः दो भागों में विभक्त हैं–त्रस और स्थावर। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति–ये स्थावर जीव हैं। ये अपने सुख और दुःख की प्रवृत्ति और निवृत्ति के लिए गति नहीं कर सकते। मनुष्य, देव, नारक तथा दो इन्द्रियों से लेकर पांच इन्द्रियों तक के तिर्यंच जीव त्रस कहलाते हैं। ये अपने सुख-दुःख की प्रवृत्ति-निवृत्ति के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर गति कर सकते हैं।

२. अजीव

अजीव तत्त्व जीव का प्रतिपक्षी है। जहाँ जीव तत्त्व सचेतन होता है वहाँ अजीव तत्त्व अचेतन होता है। जब तक जीव का इसके साथ संबंध रहेगा तब तक जीव मुक्त नहीं हो सकेगा। अजीव (कर्म) तत्त्व के साथ बंधे रहने के कारण ही जीव को संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है। इसलिए साधना की दृष्टि से जीव की तरह अजीव तत्त्व को जानना भी आवश्यक है। अजीव तत्त्व के मुख्य पांच भेद हैं–धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल और पुद्गलास्तिकाय। इन पांचों में पुद्गल द्रव्य ही कर्म के रूप में परिणत होकर आत्मा को संसार में परिभ्रमण करवाते हैं। ये कर्म-पुद्गल ही शुभ रूप में उदय आने पर पुण्य और अशुभ रूप में उदय आने पर पाप कहलाते हैं तथा जब तक ये अपना फल नहीं देते, आत्मा के साथ चिपके रहते हैं तब तक बंध कहलाते हैं।

३. पुण्य

पुण्य शुभ कर्म का उदय है। पहले बंधे हुए शुभ कर्म जब शुभ फल देते हैं तब वे पुण्य कहलाते हैं। पुण्य के नौ प्रकार हैं–

१. **अन्नपुण्य**–संयमी पुरुष को दिए जाने वाले अन्न दान के निमित्त से होने वाला शुभ कर्म अन्न पुण्य है।

२. **पान पुण्य**–संयमी पुरुष को दिए जाने वाले पानक-जल आदि के निमित्त से होने वाला शुभ कर्म पान पुण्य है।

३. **लयन पुण्य**–संयमी पुरुष को दिए जाने वाले मकान के निमित्त से होने वाला शुभ कर्म लयन पुण्य है।

४. **शयन पुण्य**–संयमी पुरुष को दिए जाने वाले पाट-बाजोट आदि के निमित्त से होने वाला शुभ कर्म शयन पुण्य है।

५. **वस्त्र पुण्य**–संयमी पुरुष को दिए जाने वाले वस्त्र के निमित्त से होने वाला शुभ कर्म वस्त्र पुण्य है।

६. **मन पुण्य**–मन की शुभ प्रवृत्ति से होने वाला शुभ कर्म मन पुण्य है।

७. **वचन पुण्य**–वचन की शुभ प्रवृत्ति से होने वाला शुभ कर्म वचन पुण्य है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

८. **काय पुण्य** – शरीर की शुभ प्रवृत्ति से होने वाला शुभ कर्म काय पुण्य है।

९. **नमस्कार पुण्य** – पंच परमेष्ठी को किए जाने वाले नमस्कार के निमित्त से होने वाला शुभ कर्म नमस्कार पुण्य है।

ये नौ भेद वास्तव में पुण्य तत्त्व के नहीं, परन्तु पुण्य के कारणों के हैं किन्तु कारण में कार्य का उपचार करने से जिन-जिन निमित्तों से शुभ कर्म का बंध होता है, उन्हें भी पुण्य कह दिया जाता है।

४. पाप

पाप अशुभ कर्म का उदय है। पहले बंधा हुआ अशुभ कर्म उदय में आकर जब अशुभ फल देता है तब वह पाप कहलाता है। पाप के अठारह प्रकार हैं –

१. **प्राणातिपात पाप** – प्राण-वध मूलक अशुभ प्रवृत्ति से बंधने वाला पाप कर्म।

२. **मृषावाद** – असत्य-वचन रूप अशुभ प्रवृत्ति से बंधने वाला पाप कर्म।

३. **अदत्तादान** – अदत्त वस्तु के ग्रहण रूप अशुभ प्रवृत्ति से बंधने वाला पाप कर्म।

४. **मैथुन** – अब्रह्मचर्य के सेवन से बंधने वाला पाप कर्म।

५. **परिग्रह** – वस्तु-संग्रह या ममत्व रूप अशुभ प्रवृत्ति से बंधने वाला पाप कर्म।

६. **क्रोध** – उत्तेजना से बंधने वाला पाप-कर्म।

७. **मान** – अभिमान से बंधने वाला पापकर्म।

८. **माया** – धोखाधड़ी, वंचना आदि करने से बंधने वाला पापकर्म।

९. **लोभ** – लालसा से बंधने वाला पाप कर्म।

१०. **राग** – रागात्मक प्रवृत्ति से बंधने वाला पाप कर्म।

११. **द्वेष** – द्वेषात्मक प्रवृत्ति से बंधने वाला पाप कर्म।

१२. **कलह** – झगड़ालू वृत्ति से बंधने वाला पाप कर्म।

१३. **अभ्याख्यान** – मिथ्या दोषारोपण करने वाली प्रवृत्ति से बंधने वाला पाप कर्म।

१४. **पैशुन्य** – चुगली करने की प्रवृत्ति से बंधने वाला पाप कर्म।

१५. **परपरिवाद** – पर-निन्दामूलक प्रवृत्ति से बंधने वाला पाप कर्म।

१६. **रति-अरति** – असंयम में रुचि और संयम में अरुचि के निमित्त से बंधने वाला पाप कर्म।

१७. **माया-मृषा** – छलनापूर्वक असत्य-संभाषण की प्रवृत्ति से बंधने वाला पाप कर्म।

१८. **मिथ्यादर्शनशल्य** – विपरीत श्रद्धा से बंधने वाला पाप कर्म।

ये अठारह भेद वास्तव में पाप तत्त्व के नहीं, जिन कारणों से पाप-कर्म बंधता है, उनके हैं।

५. आश्रव

कर्म ग्रहण करने वाली आत्मा की अवस्था को आश्रव कहा जाता है। यह कर्मों के आने का द्वार है। जब तक यह द्वार खुला रहता है, तब तक कर्मों का आगमन होता रहता है। जिस प्रकार द्वार खुला होने पर अच्छे लोग भी भीतर आ सकते हैं और बुरे लोग भी भीतर आ सकते हैं। उसी प्रकार आश्रव-द्वार से शुभ-अशुभ दोनों कर्म भीतर आते रहते हैं। आत्मा के साथ चिपकते रहते हैं। ये आश्रव द्वार पाँच हैं –

१. **मिथ्यात्व आश्रव** – विपरीत तत्त्व श्रद्धा का नाम मिथ्यात्व है। यह जीव की दृष्टि को विकृत कर देता है, जिसके कारण व्यक्ति सही को गलत और गलत को सही समझता है, जैसे – धर्म को अधर्म समझता है और अधर्म को धर्म समझता है।

२. **अव्रत आश्रव** – अत्याग भाव का नाम अव्रत है। इसके कारण जीव हिंसा आदि पापकारी प्रवृत्तियों का त्याग नहीं कर पाता।

३. **प्रमाद आश्रव** – अध्यात्म के प्रति होने वाले आन्तरिक अनुत्साह का नाम प्रमाद है।

४. **कषाय आश्रव** – आत्म-प्रदेशों में क्रोध आदि चार कषायों की उत्पत्ति का नाम कषाय आश्रव है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

५. योग आश्रव–योग का अर्थ है–प्रवृत्ति। मन, वचन और शरीर की शुभ-अशुभ प्रवृत्ति रूप आत्मपरिणति का नाम योग आश्रव है। जब तक प्रवृत्ति है, तब तक बंधन है। अशुभ प्रवृत्ति से अशुभ कर्म बंधन और शुभ प्रवृत्ति से शुभ कर्मबंधन होता है।

जब तक इन पांचों आश्रवों का निरोध नहीं होता, तब तक व्यक्ति बंधन से मुक्ति की दिशा में प्रयाण नहीं कर सकता।

६. संवर

संवर आश्रव का प्रतिपक्षी तत्त्व है। कर्म का निरोध करने वाली आत्मा की अवस्था का नाम संवर है। आश्रव की तरह संवर के भी मुख्य पांच प्रकार हैं, जिनका अभ्यास करने से आश्रव-द्वारों का निरोध होता है। वे द्वार बंद होते हैं।

१. सम्यक्त्व संवर–यथार्थ तत्त्व श्रद्धा का नाम सम्यक्त्व है। जीव-अजीव आदि नौ तत्त्वों के बारे में सही श्रद्धा का होना और विपरीत श्रद्धा का त्याग करना सम्यक्त्व संवर है।

२. व्रत संवर–यह अव्रत का प्रतिपक्षी तत्त्व है। इसके दो रूप हैं–देशव्रत और सर्वव्रत। पापकारी वृत्तियों का आंशिक त्याग देशव्रत संवर है और इनका जीवन भर के लिए सम्पूर्ण रूप से त्याग सर्वव्रत संवर है।

३. अप्रमाद संवर–अध्यात्म के प्रति होने वाली सम्पूर्ण जागरूकता का नाम अप्रमाद संवर है।

४. अकषाय संवर–क्रोध आदि कषाय को सर्वथा क्षीण कर देना अकषाय संवर है।

५. अयोग संवर–योग का अर्थ है–प्रवृत्ति। प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है–शुभ और अशुभ। अशुभ प्रवृत्ति का सम्पूर्ण निरोध करना व्रत संवर है और शुभ प्रवृत्ति का सम्पूर्ण निरोध अयोग संवर है। अयोग संवर की स्थिति में पहुँचने के तत्काल बाद जीव मुक्त हो जाता है।

७. निर्जरा

तपस्या के द्वारा कर्मों का क्षय होने पर आत्मा की जो उज्ज्वलता होती है, वह निर्जरा है। इस परिभाषा के अनुसार तपस्या निर्जरा का कारण है। कारण में कार्य का उपचार करने से तपस्या को भी निर्जरा कहा जाता है। उसके बारह भेद हैं। जिस प्रकार एक ही स्वरूप वाली अग्नि काष्ठ, पाषाण, गोमय तथा तृणादि रूप कारणों के भेद से अनेक प्रकार की कही जाती है, वैसे ही तपस्याओं के भेद से निर्जरा भी बारह प्रकार की कही गई है। परन्तु स्वरूप की दृष्टि से वह एक ही प्रकार की है। निर्जरा के बारह भेद निम्न हैं–

१. अनशन–अनशन का अर्थ है–आहार का परिहार। उपवास और उससे आगे जितने दिन की तपस्या की जाती है, वह इसके अन्तर्गत है। अध्यात्म की दृष्टि से आजीवन आहार-त्याग किया जाता है, उसे 'संथारा' कहा जाता है। वह भी अनशन ही कहलाता है।

२. ऊनोदरी–ऊन यानी कमी। सामान्यतः खुराक में कमी करने का नाम ऊनोदरी है। इसमें भोजन और पानी दोनों सम्मिलित हैं। वैसे वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों की अल्पता भी ऊनोदरी तप में अन्तर्गर्भित है। उपवास से छोटी तपस्या–नवकारसी, प्रहर, एकाशन आदि का भी इसी में समावेश होता है।

३. भिक्षाचरी–भिक्षाचरी का दूसरा नाम है–'वृत्तिसंक्षेप'। इसमें विविध प्रकार की प्रतिज्ञाओं से अपनी खाद्य-विधि को और अधिक सीमित किया जाता है।

४. रस-परित्याग–दूध, दही, घी आदि रसीले खाद्य पदार्थों का परित्याग करना।

५. कायक्लेश–अनेक प्रकार के आसनों द्वारा शरीर को साधने का नाम कायक्लेश है। इससे एक ही आसन में घंटों तक बैठने का अभ्यास सध जाता है।

६. प्रतिसंलीनता–इन्द्रिय, मन आदि की बहिर्मुखी प्रवृत्ति का प्रतिसंहरण करने या उसे अन्तर्मुखी बनाने का नाम प्रतिसंलीनता है।

७. प्रायश्चित्त–दोष की विशुद्धि के लिए जो प्रयत्न किया जाता है, वह प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त के अनेक प्रकार हैं। वही व्यक्ति प्रायश्चित्त स्वीकार करता है, जो ऋजु होता है और जिसके सामने अपनी आत्मा को निर्मल बनाने का लक्ष्य रहता है।

८. विनय–विनय के दो अर्थ हैं–कर्मों का अपनयन और बड़ों का बहुमान। यह प्रवृत्यात्मक विनय है। इसका निवृत्तिपरक अर्थ है–आशातना न करना। आशातना अर्थात् असद् व्यवहार। आशातना का अभाव और बहुमान का भाव, यह विनय की परिभाषा है। इससे ज्ञान, दर्शन और चारित्र की विशेष निर्मलता होती है तथा मन, वचन और काया की पवित्रता सधती है।

९. वैयावृत्त्य–सहयोग की भावना से सेवा-कार्य में जुड़ना वैयावृत्त्य कहलाता है। इस तप की आराधना करने वाला आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, रोगी, नवदीक्षित आदि की अपेक्षाओं को समझकर सेवा-साधना और कर्त्तव्यभावना की प्रेरणा से उनका सहयोगी बनता है। पूर्ण आत्मार्थी भाव का विकास होने पर ही वैयावृत्य किया जा सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

१०. स्वाध्याय–सत्-शास्त्र के अध्ययन का नाम स्वाध्याय है। यह आत्मलीनता की स्थिति में ही हो सकता है। अध्येता को आत्मा से हटाकर पदार्थ जगत् की ओर धकेलने वाला अध्ययन स्वाध्याय की कोटि में नहीं आ सकता।

११. ध्यान–किसी एक आलम्बन पर मन को स्थापित करने तथा मन, वचन और काय के निरोध को ध्यान कहा जाता है। ध्याता और ध्येय के बीच पूर्ण रूप से तादात्म्य घटित होने की स्थिति में ही ध्यान हो पाता है, अन्यथा नहीं।

१२. व्युत्सर्ग–व्युत्सर्ग का अर्थ है–विसर्जन करना, छोड़ना। यह अपने शरीर का हो सकता है, वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों का हो सकता है, किसी के सहयोग का हो सकता है और भोजन-पानी का भी हो सकता है।

इनमें प्रथम छः भेद बाह्य तप के हैं और अन्तिम छः भेद आन्तरिक तप के हैं। बाह्य तप करते समय आभ्यन्तर तप किया जा सकता है और आभ्यन्तर तप-साधना के काल में बाह्य तप भी हो सकता है क्योंकि मूलतः तप एक ही प्रकार का है। निमित्त भेद से उसके बारह भेद किए गए हैं।

८. बंध

आत्म-प्रदेशों के साथ कर्म-पुद्गलों का दूध-पानी की तरह मिल जाना, एकीभाव हो जाना बन्ध कहलाता है। बंध चार प्रकार का होता है।

१. प्रदेश बंध–आत्म-प्रदेशों के साथ कर्म-वर्गणा का संबंध होना प्रदेश बंध है।

२. प्रकृति बंध–आत्मा से संबद्ध होने वाले कर्मों में किस कर्म का क्या स्वभाव है, वह आत्मा के किस गुण को प्रभावित करेगा, इस प्रकार के वर्गीकरण का नाम प्रकृति बंध है।

३. स्थिति बंध–कौन कर्म कितने समय तक आत्मा के साथ सम्बद्ध रहेगा, किस अवधि के बाद वह अपना फल देगा, ऐसी व्यवस्था का नाम स्थिति बंध है।

४. अनुभाग बंध–किस कर्म का बंध तीव्र परिणामों से हुआ है, किस कर्म का बंध मंद परिणामों से हुआ है, कौन कर्म तीव्र विपाकी होगा, कौन कर्म मन्द विपाकी होगा, ऐसी समायोजना का नाम अनुभाग बंध है।

जिस समय प्रदेश-बंध होता है, उसके साथ-साथ ही शेष तीनों बंध हो जाते हैं। कर्म-बंधन या उसके फल भोग में किसी भी अदृश्य शक्ति का योग नहीं है। आत्मा के अपने पुरुषार्थ और कर्मों के परिणमन से सारी प्रक्रिया अपने आप संपादित होती है।

९. मोक्ष

संपूर्ण कर्मों का क्षय होने पर आत्मा की अपने स्वरूप में अवस्थिति का नाम मोक्ष है। मुक्त आत्माएँ जहाँ रहती हैं, उस स्थान को भी उपचार से मोक्ष कहा जाता है। किन्तु वह मोक्ष तत्त्व नहीं है। मोक्ष तत्त्व से सिर्फ मुक्त आत्माओं का अर्थ ग्रहण होता है।

मोक्ष प्राप्ति के उपाय चार हैं–

१. सम्यक् ज्ञान–जिन पदार्थों का जैसा स्वरूप है, उनको वैसा ही जानना।

२. सम्यक् दर्शन–तत्त्व के प्रति यथार्थ श्रद्धा सम्यक् दर्शन है।

३. सम्यक् चारित्र–आश्रव का निरोध करना।

४. सम्यक् तप–ऐसी तपस्या, जिसमें किसी भी प्राणी की हिंसा न हो, परिणाम विशुद्ध हो।

यह जीव ज्ञान से पदार्थों को जानता है, दर्शन से उन पर श्रद्धा करता है, चारित्र से आने वाले कर्मों को रोकता है और तप से बंधे हुए कर्मों को तोड़कर आत्म-विशुद्धि करता है।

इस प्रकार समस्त दुःखों से छुटकारा चाहने वाले व्यक्ति को इन नौ तत्त्वों को जानना चाहिए। जानने के बाद आश्रव, पुण्य, पाप, बंध को मोक्ष मार्ग में बाधक मानकर उन्हें छोड़ना चाहिए। संवर और निर्जरा को मोक्ष मार्ग का साधक मानकर उनका अभ्यास करना चाहिए।

७. षड् द्रव्य

दर्शन जगत् में तत्त्वमीमांसा का अपना विशेष स्थान है। जैन तत्त्व मीमांसा में द्रव्य के स्वरूप का विशद विवेचन हुआ है। जो भी हो अस्तित्ववान पदार्थ है, वह द्रव्य या सत् कहलाता है।

सत् (द्रव्य) की परिभाषा- सत् को परिभाषित करते हुए आचार्य उमास्वाति ने लिखा–''**उत्पाद-व्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। यत् सत्**

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

तत् द्रव्यम्। गुणपर्याययुत द्रव्यम्।'' अर्थात् 'सत्' उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त है। जो सत् है, वही द्रव्य है और जो द्रव्य है, वही सत् है। द्रव्य वह है, जो गुण-पर्याय से युक्त है। इस प्रकार सत् (द्रव्य) के सन्दर्भ में दो अवधारणाएँ सामने आईं– १. सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त है। २. सत् गुण-पर्याय युक्त है।

जैन दर्शन में मुख्य दो द्रव्य माने गये हैं–जीव और अजीव। विश्व-व्यवस्था के सन्दर्भ में जैन दर्शन में पंचास्तिकाय और षड् द्रव्य की चर्चा उपलब्ध होती है, जो कि इन दो द्रव्यों का ही विस्तार है। छः द्रव्य निम्नलिखित हैं– १. धर्मास्तिकाय, २. अधर्मास्तिकाय, ३. आकाशास्तिकाय, ४. काल, ५. पुद्गलास्तिकाय, ६. जीवास्तिकाय।

अस्तिकाय

इन छः द्रव्यों में काल को छोड़कर पांच अस्तिकाय हैं। काल अस्तिकाय नहीं है। षड्द्रव्यों के विवेचन से पूर्व अस्तिकाय को समझना आवश्यक है। अस्तिकाय में दो शब्द हैं–अस्ति और काय। अस्ति शब्द का अर्थ है–प्रदेश और काय शब्द का अर्थ है–समूह। प्रदेश समूह को अस्तिकाय कहते हैं। प्रदेश से तात्पर्य वस्तु के एक अंश से है। जिस प्रकार एक वस्त्र अनेक तंतुओं से बनता है, उनमें प्रत्येक तंतु को एक प्रदेश माना जा सकता है। तंतुओं का समूह वस्त्र है। उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य के अनेक प्रदेश होते हैं, उन प्रदेशों के समूह को अस्तिकाय कहा जाता है। काल के अस्तिकाय नहीं होता क्योंकि काल वर्तमानवर्ती है। अतीत बीत चुका है, भविष्य अभी आया नहीं है, वर्तमान क्षणवर्ती है, उसके प्रदेश-प्रचय नहीं होता। अतः काल अस्तिकाय द्रव्य नहीं है।

१. धर्मास्तिकाय

पांच अस्तिकाय द्रव्यों में सबसे पहला द्रव्य है–धर्मास्तिकाय। धर्मास्तिकाय को परिभाषित करते हुए कहा गया–**'गतिसहायो धर्मः'** जीव और पुद्गल की गति में उदासीन भाव से सहायता करने वाला द्रव्य धर्मास्तिकाय है, जैसे–मछली की गति में जल। जिस प्रकार मछली में तैरने की शक्ति स्वयं में निहित होती है, पर जल के अभाव में वह तैर नहीं सकती अतः जल उसकी गति में अनन्य सहायक है। यद्यपि जल मछली को तैरने के लिए प्रेरित नहीं करता, पर जब वह तैरती है तो उसके तैरने में सहायता करता है। उसी प्रकार जीव और पुद्गल में गति करने की शक्ति स्वयं में निहित है, फिर भी वे धर्मास्तिकाय के सहयोग के बिना गति नहीं कर सकते। इसलिए यह गति में अनन्य सहयोगी है। जहाँ तक धर्मास्तिकाय है, वहीं तक जीव और पुद्गल गति कर सकते हैं। अलोक में धर्मास्तिकाय का अभाव होने से जीव और पुद्गल वहां गति नहीं कर सकते।

भगवती सूत्र में एक प्रसंग आता है गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा ''भगवन्! गति सहायक तत्त्व (धर्मास्तिकाय) से जीवों को क्या लाभ होता है?''

भगवान् ने कहा–''गौतम! गति का सहारा नहीं होता तो कौन आता और कौन जाता? शब्द की तरंगें कैसे फैलती? आँख कैसे खुलती? कौन मनन करता? कौन बोलता? कौन हिलता-डुलता? यह विश्व अचल ही होता। जो चल है, उन सबका आलम्बन गति-सहायक तत्त्व धर्मास्तिकाय ही है।''

धर्मास्तिकाय का स्वरूप

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण की अपेक्षा धर्मास्तिकाय का स्वरूप इस प्रकार समझा जा सकता है। द्रव्य से तात्पर्य उसका स्वरूप क्या है? क्षेत्र से तात्पर्य वह किस स्थान में प्राप्य है? काल से तात्पर्य वह कब उत्पन्न हुआ? अब है या नहीं और कहाँ तक रहेगा? भाव से तात्पर्य वह किस अवस्था में है? गुण से तात्पर्य वह जगत् का उपकारी है या नहीं, यदि है तो क्या उपकार करता है?

द्रव्य की दृष्टि से–यह एक अखण्ड द्रव्य है। इसे विभाजित नहीं किया जा सकता।
क्षेत्र की दृष्टि से–यह सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है।
काल की दृष्टि से–यह अनादि-अनन्त है। इसका न कोई आदि है और न अन्त। यह सदा था, है और रहेगा।
भाव (स्वरूप) की दृष्टि से–यह अमूर्त्त, अभौतिक, चैतन्यरहित तथा अगतिशील है।
गुण की दृष्टि से–गति में अपेक्षित सहायता करना है।

२. अधर्मास्तिकाय

अधर्मास्तिकाय दूसरा द्रव्य है। इसे परिभाषित करते हुए लिखा गया–**'स्थितिसहायोऽधर्मः'** जीव और पुद्गल की स्थिति में उदासीन भाव से सहायता करने वाला द्रव्य अधर्मास्तिकाय है, जैसे–पथिकों के ठहरने में वृक्ष की छाया। एक चलते हुए पथिक के विश्राम में जिस प्रकार एक वृक्ष सहायक होता है, उसी प्रकार गति करते हुए जीव और पुद्गल की स्थिति में अधर्मास्तिकाय सहायक होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

यद्यपि जीव और पुद्गल में गति की भांति स्थिर रहने की क्षमता भी स्वयं में ही विद्यमान है। फिर भी अधर्मास्तिकाय के अभाव में वे स्थिर नहीं हो सकते। वृक्ष पथिकों को अपनी छाया में ठहरने के लिए प्रेरित नहीं करता किन्तु कोई पथिक यदि ठहरता है तो उसमें अपेक्षित सहायता करता है। धर्मास्तिकाय की भांति अधर्मास्तिकाय भी पूरे लोक में व्याप्त है। अलोक में उसका अभाव होने के कारण जीव और पुद्गल की स्थिति अलोक में नहीं होती।

भगवती सूत्र में गौतम ने भगवान महावीर से पूछा–''भगवन्! स्थिति-सहायक तत्त्व (अधर्मास्तिकाय) से जीवों को क्या लाभ होता है?''

भगवान् ने कहा–''गौतम! स्थिति का सहारा नहीं होता तो कौन खड़ा रहता? कौन बैठता? सोना कैसे होता? कौन मन को एकाग्र करता? मौन कौन करता? कौन निस्पन्द बनता? यह विश्व चल ही होता। जो स्थिर हैं, उन सबका आलम्बन स्थिति-सहायक तत्त्व अधर्मास्तिकाय ही है।''

अधर्मास्तिकाय का स्वरूप

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण की अपेक्षा से अधर्मास्तिकाय का स्वरूप इस प्रकार समझा जा सकता है–

द्रव्य की दृष्टि से–यह एक अखण्ड द्रव्य है।

क्षेत्र की दृष्टि से–यह सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है।

काल की दृष्टि से–यह अनादि-अनन्त है।

भाव की दृष्टि से–यह अमूर्त्त, अभौतिक, चैतन्यरहित तथा अगतिशील है।

गुण की दृष्टि से–पदार्थों के स्थिर रहने में अपेक्षित सहायता करता है।

३. आकाशास्तिकाय

यह तीसरा द्रव्य है। इसे परिभाषित करते हुए लिखा गया–**'अवगाहलक्षण: आकाश:'** समस्त द्रव्यों को अवकाश (आश्रय) देने वाला तत्त्व आकाश है। लोक व्यवहार में प्राय: नीले रंग का जो आकाश दिखाई देता है, उसे आकाश कहा जाता है। वास्तव में वह आकाश नहीं है क्योंकि आकाश केवल ऊपर ही नहीं है अपितु सर्वत्र है। यदि आकाश सर्वत्र न हो तो व्यक्तियों और वस्तुओं को आश्रय कौन देगा? ऊपर जो नीला आकाश दिखाई देता है, वह पौद्गलिक है। आकाशास्तिकाय कोई ठोस द्रव्य नहीं, अपितु खाली स्थान है। उसके दो विभाग किये गए हैं–लोकाकाश और अलोकाकाश। जैसे जल का आश्रय-स्थान जलाशय कहलाता है, वैसे ही समस्त द्रव्यों का आश्रय-स्थान लोकाकाश कहलाता है। जहाँ समस्त द्रव्य नहीं, केवल आकाश है, वह स्थान अलोकाकाश कहलाता है। धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय की भाँति आकाश भी एक अखण्ड द्रव्य है। लोकाकाश और अलोकाकाश के बीच कोई सीमारेखा या भेदरेखा नहीं है। यह विभाजन धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य के आधार पर किया गया है। आकाश के आधार पर नहीं। आकाश के जिस खण्ड तक धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि द्रव्य हैं, उतना खण्ड लोकाकाश है और जिस खण्ड में उनका अभाव है, वह अलोकाकाश है।

भगवतीसूत्र में गणधर गौतम ने जिज्ञासा की–भगवन्! आकाश तत्त्व से जीवों और अजीवों को क्या लाभ होता है? भगवान महावीर ने कहा–गौतम! यदि आकाश नहीं होता तो ये जीव कहाँ होते? ये धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय कहाँ व्याप्त होते? काल कहाँ बरतता? पुद्गल का रंगमंच कहाँ पर बनता? यह विश्व निराधार हो जाता।

आकाशास्तिकाय का स्वरूप

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण के आधार पर आकाश के स्वरूप को इस प्रकार समझा जा सकता है–

द्रव्य की दृष्टि से–यह एक अखण्ड द्रव्य है।

क्षेत्र की दृष्टि से–यह अनन्त और असीम है। लोक और अलोक दोनों में व्याप्त है।

काल की दृष्टि से–यह अनादि, अनन्त और शाश्वत है।

भाव की दृष्टि से–यह अमूर्त्त, अभौतिक, चैतन्यरहित एवं अगतिशील है।

गुण की दृष्टि से–यह सभी द्रव्यों को आश्रय-स्थान देता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

४. काल

उत्तराध्ययन सूत्र में काल का लक्षण वर्तना किया गया है। सामान्यत: व्यवहार में प्रयोग आने वाला 'समय' शब्द ही काल का सूचक है किन्तु जैन दर्शन में समय को भिन्न अर्थ में लिया गया है। समय काल का सबसे छोटा हिस्सा है। समय काल का अविभाज्य अंश है। जैन साहित्य में समय का माप इस प्रकार बताया गया है–एक परमाणु को एक आकाश-प्रदेश से दूसरे आकाश-प्रदेश तक जाने में जितना समय लगता है, वह एक समय है। जैन आचार्यों ने इसे इस रूप में भी समझाया है कि आंख की पलक झपकने और खुलने में जितना काल लगता है, उसमें असंख्यात समय बीत जाते हैं। अत: समय बहुत सूक्ष्म है।

काल अस्तिकाय द्रव्य नहीं है क्योंकि इसके प्रदेश-प्रचय नहीं होते। काल अप्रदेशी है। काल का केवल वर्तमान समय ही अस्तित्व में होता है। भूत समय तो व्यतीत हो चुका है और भविष्य समय अभी उत्पन्न नहीं हुआ है। वर्तमान समय 'एक' होता है। अत: प्रदेश प्रचय न होने के कारण यह अस्तिकाय नहीं है।

काल के दो प्रकार माने गए हैं–व्यावहारिक काल और नैश्चयिक काल। समय, मुहूर्त्त, दिन, रात, पक्ष, मास, वर्ष, युग.....आदि व्यावहारिक काल हैं। यह काल केवल मनुष्य क्षेत्र में ही होता है तथा सूर्य-चन्द्र की गति के आधार पर इस काल का निर्धारण होता है। काल का सबसे सूक्ष्म भाग समय तथा सबसे उत्कृष्ट भाग पुद्गलपरावर्तन कहलाता है।

काल के सन्दर्भ में जैन-साहित्य में दो मत हैं। एक मत के अनुसार काल स्वतंत्र द्रव्य नहीं है। वह जीव और अजीव द्रव्य का पर्याय प्रवाह है। द्वितीय मत के अनुसार अन्य द्रव्यों की तरह काल भी एक स्वतंत्र द्रव्य है। प्रथम अभिमत के अनुसार समय, मुहूर्त्त, दिन, रात आदि जो भी काल के विभाजन हैं, वे सभी पर्याय विशेष के संकेत हैं। द्वितीय अभिमत के अनुसार जिस प्रकार जीव और पुद्गल की गति-स्थिति में धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय निमित्त कारण हैं, उसी प्रकार जीव और अजीव के पर्याय परिणमन में काल निमित्त कारण है। अत: यह स्वतंत्र द्रव्य है।

उपर्युक्त दोनों कथन विरोधी नहीं अपितु सापेक्ष हैं। निश्चय दृष्टि से काल जीव-अजीव की पर्याय है और व्यवहार दृष्टि से वह द्रव्य है। उसे द्रव्य मानने का कारण उसकी उपयोगिता है। **उपकारकं द्रव्यम्** के अनुसार जो उपकारी है, वह द्रव्य है। वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व–ये काल के उपकार हैं अत: काल को भी द्रव्य के रूप में माना गया है।

काल का स्वरूप

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण की दृष्टि से काल के स्वरूप को इस प्रकार समझा जा सकता है–

द्रव्य की दृष्टि से–यह अनन्त है।

क्षेत्र की दृष्टि से–यह ढाई द्वीप प्रमाण है।

काल की दृष्टि से–यह अनादि-अनन्त है।

भाव की दृष्टि से–यह अमूर्त्त है।

गुण की दृष्टि से–वर्तमान गुण वर्तना गुण है।

५. पुद्गलास्तिकाय

विज्ञान में जिसे मैटर (Matter) कहा गया है, जैनदर्शन में उसे पुद्गल की संज्ञा दी गई है। पुद्गल को परिभाषित करते हुए लिखा गया है–**'पूरणगलनधर्मत्वात् इति पुद्गलः।'** पुद्गल शब्द में दो पद हैं–पुद् और गल। पुद् का अर्थ है–मिलना और गल का अर्थ है–गलना, टूटना। जो द्रव्य प्रतिपल-प्रतिक्षण मिलता-गलता रहे, बनता-बिगड़ता रहे, टूटता-जुड़ता रहे, वही पुद्गल है। पुद्गल की दूसरी परिभाषा है–**'स्पर्शरसगन्धवर्णवान् पुद्गलः'** अर्थात् स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण युक्त द्रव्य पुद्गल है। इस प्रकार पुद्गल एक ऐसा द्रव्य है जो खण्डित भी होता है और पुन: परस्पर सम्बद्ध भी होता है। पुद्गल की सबसे बड़ी पहचान यह है कि उसे छुआ जा सकता है, चखा जा सकता है, सूंघा जा सकता है और देखा जा सकता है। स्पर्श, रस, गंध, वर्णयुक्त होने के कारण एकमात्र पुद्गल द्रव्य रूपी है, मूर्त्त है। संसार में जितनी भी वस्तुएँ दिखलाई देती हैं, वे सब पुद्गल हैं। पुद्गल द्रव्य चार प्रकार का माना गया है–१.स्कन्ध,२.देश,३. प्रदेश, ४. परमाणु।

स्कन्ध–स्कन्ध एक इकाई है। दो से लेकर अनन्त परमाणुओं के एकीभाव को स्कन्ध कहते हैं। दो परमाणुओं के मिलने से द्विप्रदेशी स्कन्ध बनता है, दस परमाणुओं के मिलने से दसप्रदेशी स्कन्ध बनता है। संख्येय परमाणुओं के मिलने से संख्येय प्रदेशी, असंख्येय परमाणुओं के मिलने से असंख्येय प्रदेशी तथा अनन्त परमाणुओं के मिलने से अनन्तप्रदेशी स्कन्ध बनते हैं। अनन्तानन्त प्रदेशी स्कन्ध ही हमारी दृष्टि के विषय बनते हैं। संख्येय-असंख्येय प्रदेशी स्कन्ध सूक्ष्म होने के कारण हमारी दृष्टि के विषय नहीं बनते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

देश – स्कन्ध का बुद्धि कल्पित एक विभाग देश कहलाता है। जब हम कल्पना करते हैं कि यह इस पेन्सिल का आधा भाग है या यह इस पुस्तक का एक पृष्ठ है, तब वह उस समग्र स्कन्ध रूप पेन्सिल या पुस्तक का एक देश कहलाता है। देश स्कन्ध से पृथक् नहीं होता। पृथक् होने पर वह देश नहीं रहता, स्वतंत्र स्कन्ध बन जाता है।

प्रदेश – परमाणु जितने वस्तु के भाग को प्रदेश कहते हैं। परमाणु और प्रदेश का माप बराबर होता है। परमाणु जब तक स्कन्धगत है, तब तक वह प्रदेश कहलाता है। दूसरे शब्दों में स्कन्ध का सूक्ष्मतम भाग, जब तक वह स्कन्ध के साथ जुड़ा हुआ है, प्रदेश कहलाता है। पर वही सूक्ष्मतम भाग जब स्कन्ध से अलग हो जाता है, तब उसे परमाणु कहा जाता है। उदाहरणत: एक वस्त्र हजारों-हजारों तंतुओं से बना एक स्कन्ध है। कल्पना से प्रत्येक तंतु को एक प्रदेश मान लें। इस प्रकार एक वस्त्र में हजारों-हजारों प्रदेश हो गए। यदि हम उस वस्त्र में से एक तन्तु बाहर निकाल लें तो वह तन्तु फिर प्रदेश नहीं अपितु परमाणु कहलाएगा अर्थात् जब तक वह तन्तु वस्त्र से जुड़ा हुआ है तब तक प्रदेश है और जब वस्त्र से अलग हो गया तो परमाणु बन गया।

परमाणु – जिसका विभाग न हो उसे परमाणु कहते हैं। परमाणु अविभाज्य, अछेद्य, अभेद्य, अदाह्य और अग्राह्य है। सूक्ष्मता के कारण उसका न कोई आदि है, न मध्य है, न अन्त है। वह इन्द्रिय ग्राह्य भी नहीं है। परमाणु में एक गन्ध, एक वर्ण, एक रस और दो स्पर्श होते हैं। प्रदेश और परमाणु में केवल स्कन्ध से अपृथग्भाव और पृथग्भाव का अन्तर है। परमाणु स्कन्ध से पृथक् होता है और प्रदेश स्कन्ध से संलग्न होता है।

पुद्गल का स्वरूप

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की दृष्टि से पुद्गल को इस प्रकार समझा जा सकता है–

द्रव्य की दृष्टि से – पुद्गल अनन्त हैं।

क्षेत्र की दृष्टि से – पुद्गल सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं।

काल की दृष्टि से – पुद्गल अनादि-अनन्त हैं।

भाव की दृष्टि से – पुद्गल मूर्त्त हैं।

गुण की दृष्टि से – पुद्गल गलन-मिलन स्वभाव वाले हैं।

६. जीवास्तिकाय

जिसमें चेतना होती है, उसे जीव कहते हैं। जीवास्तिकाय से तात्पर्य सम्पूर्ण जीवों के समूह से है। द्रव्य-संग्रह में जीव के स्वरूप को बतलाते हुए कहा गया है – जीव (आत्मा) उपयोगमय है, अमूर्त है, कर्त्ता है, देह परिमाण है, भोक्ता है, संसार में स्थित है, सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है।

जीव का स्वरूप

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण की दृष्टि से जीव का स्वरूप इस प्रकार समझा जा सकता है–

द्रव्य की दृष्टि से – जीव अनन्त हैं।

क्षेत्र की दृष्टि से – जीव सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं।

काल की दृष्टि से – जीव अनादि-अनन्त हैं।

भाव की दृष्टि से – जीव अमूर्त्त, अभौतिक, चैतन्ययुक्त है।

गुण की दृष्टि से – जीव चैतन्य स्वरूप, ज्ञान-दर्शन युक्त है।

द्रव्य से जीव अनन्त हैं। इसका तात्पर्य है कि वे धर्मास्तिकाय आदि की तरह असंख्य प्रदेशात्मक एक ही अविभाज्य पिण्ड नहीं हैं। असंख्येय प्रदेशात्मक अनन्त जीव हैं। क्षेत्र से लोक प्रमाण कहने का तात्पर्य एक ही जीव सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है, ऐसा नहीं है अपितु इसका आशय यह है कि लोक में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जहाँ जीव न हो। आत्मा कभी उत्पन्न नहीं हुई अत: अनादि-अनन्त है। वह अमूर्त्त है। उसका विशेष गुण चैतन्य है। चैतन्य गुण के द्वारा आत्मा को जाना जाता है।

इस प्रकार द्रव्य छ: ही माने गए हैं क्योंकि इनके ये विशेष गुण एक-दूसरे से नहीं मिलते। जो गुण दूसरे द्रव्यों में भी पाए जाते हैं, उनके आधार पर उन्हें स्वतंत्र द्रव्य नहीं माना जा सकता। इसलिए द्रव्य छ: ही हैं। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय अनन्त होती हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

७. लोकवाद

विश्व, जगत्, सृष्टि अथवा संसार के लिए जैन परम्परा मे सामान्य रूप से लोक शब्द का व्यवहार हुआ है। यह विराट् विश्व जो हमें दृष्टिगोचर हो रहा है, वह क्या है? इसका प्रारम्भ कब हुआ? इसका अन्त कब होगा? इसका आकार कैसा है? आदि अनेक प्रश्न मानव-मस्तिष्क में उभरते रहते हैं। इन प्रश्नों का समाधान विभिन्न विचारकों ने विभिन्न प्रकार से किया है। आधुनिक विज्ञान भी इन तथ्यों की खोज में अनवरत प्रयत्नशील है।

लोक क्या है?

लोक शब्द पारिभाषिक शब्द है, जो व्यवहार में प्रचलित विश्व (Cosmos अथवा Universe) का वाच्य है। यह लोक क्या है? इसका उत्तर दो रूपों में मिलता है। कहीं पर पंचास्तिकाय को लोक कहा गया है तो कहीं पर षड्द्रव्य को लोक माना गया है। भगवतीसूत्र में बताया गया है – लोक पंचास्तिकायरूप – धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय रूप है। अन्य ग्रन्थों में **षड्द्रव्यात्मको लोकः** कहकर इन पांच अस्तिकायों के साथ छठा काल को मानकर लोक को षड्द्रव्यात्मक कहा है।

१. **धर्मास्तिकाय** – जीव और पुद्गल की गति में उदासीन भाव से सहायक द्रव्य।

२. **अधर्मास्तिकाय** – जीव और पुद्गल की स्थिति में उदासीन भाव से सहायक द्रव्य।

३. **आकाशास्तिकाय** – सभी द्रव्यों को आश्रय देने वाला द्रव्य।

४. **काल** – द्रव्यों के परिणमन में सहायक द्रव्य।

५. **पुद्गलास्तिकाय** – स्पर्श, रस, गंध, वर्ण युक्त द्रव्य।

६. **जीवास्तिकाय** – चैतन्य युक्त द्रव्य।

इनका विस्तृत विवेचन षड्द्रव्य के अन्तर्गत किया जा चुका है। इस प्रकार लोक वह है, जहाँ पर छहों द्रव्य की सहस्थिति-सहावस्थान है। इसके विपरीत अलोक वह है, जहाँ छहों द्रव्य नहीं, केवल आकाश द्रव्य है।

लोक-अलोक का विभाजक तत्त्व

लोक और अलोक का स्वरूप समझने के बाद प्रश्न होता है लोक और अलोक का विभाजक तत्त्व क्या है? लोक और अलोक का विभाजन शाश्वत है, अतः इसका विभाजक तत्त्व भी शाश्वत होना चाहिए। इन छह द्रव्यों के अतिरिक्त और कोई शाश्वत पदार्थ नहीं है इसलिए इन्हीं में से कोई विभाजक तत्त्व होना चाहिए। आकाश विभाजक तत्त्व नहीं बन सकता क्योंकि वह स्वयं विभज्यमान है। काल तत्त्व भी विभाजन का हेतु नहीं बन सकता क्योंकि व्यावहारिक काल मनुष्य-लोक के सिवाय अन्य लोकों में नहीं होता और नैश्चयिक काल लोक-अलोक दोनों में मिलता है क्योंकि वह जीव और अजीव की पर्याय मात्र है। काल वास्तविक द्रव्य भी नहीं है। जीव और पुद्गल गतिशील और मध्यम परिणाम वाले तत्त्व हैं जबकि लोक-अलोक की सीमा-निर्धारण के लिए कोई स्थिर और व्यापक तत्त्व होना चाहिए, अतः ये भी विभाजक तत्त्व नहीं बन सकते। अब दो द्रव्य शेष रह जाते हैं – धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय। ये दोनों स्थिर और व्यापक हैं। ये ही अखंड आकाश को दो भागों में बांटते हैं। ये दो द्रव्य जिस आकाश खण्ड में व्याप्त हैं, वह लोक है और शेष आकाश अलोक। ये जहाँ तक हैं वहीं तक जीव और पुद्गल की गति और स्थिति होती है। इनके अभाव में जीव और पुद्गल गति-स्थिति नहीं कर सकते। अतः धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय लोक और अलोक के विभाजक तत्त्व हैं। जहाँ तक ये तत्त्व हैं, वह लोक और जहाँ खाली आकाश है, वह अलोक है। इन दोनों तत्त्वों के अभाव में अलोक में जीव और पुद्गल की गति-स्थिति नहीं होती।

लोक के प्रकार- यह लोक तीन भागों में विभक्त है – १. ऊर्ध्वलोक, २. अधोलोक, ३. मध्यलोक (तिर्यक् लोक)। ऊर्ध्वलोक सात रज्जु से कुछ अधिक का है। अधोलोक सात रज्जु से कुछ कम है। मध्य लोक अठारह सौ योजन का है। इन तीनों को मिलाकर चौदह रज्जु होता है। यह चौदह रज्जु का लोक सातवें नरक-तमस्तमा के नीचे से प्रारम्भ होकर सिद्धशिला के अन्तिम छोर तक है। रज्जु का अर्थ रस्सी होता है, पर यह कोई छोटी-मोटी रस्सी नहीं अपितु एक माप है। असंख्य द्वीप और असंख्य समुद्र समा जाएँ उतना बड़ा एक रज्जु होता है।

ऊर्ध्वलोक- जहाँ पर हम लोग रहते हैं, उससे नौ सौ योजन ऊपर का भाग ऊर्ध्वलोक कहलाता है। ऊर्ध्वलोक में मुख्य रूप से देवों का निवास है। इसीलिए उसे देवलोक, ब्रह्मलोक, स्वर्गलोक भी कहते हैं। अन्तिम देवलोक का नाम सर्वार्थसिद्ध है। उससे बाहर योजन ऊपर सिद्ध-शिला है, जहाँ मुक्त जीव रहते हैं। इस स्थान के बाद लोक का अन्त हो जाता है तथा केवल आकाश अर्थात् अलोक रह जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अधोलोक- मध्यलोक के नीचे का प्रदेश अधोलोक कहलाता है। इसमें नीचे-नीचे क्रमशः सात पृथ्वियां हैं, जो सात नारकों के नाम से जानी जाती हैं। वहाँ मुख्य रूप से नारकी के जीव रहते हैं। इनकी लम्बाई-चौड़ाई एक-सी नहीं है। नीचे-नीचे की भूमियाँ ऊपर-ऊपर की भूमियों से अधिक लम्बी-चौड़ी हैं। ये भूमियाँ सम श्रेणी में नहीं हैं अपितु एक-दूसरे के नीचे हैं। यह एक-दूसरे से सटी हुई भी नहीं हैं। बीच-बीच में बहुत अन्तर है।

मध्यलोक- मध्यलोक १८०० योजन प्रमाण है। इस लोक में असंख्यात द्वीप और समुद्र परस्पर एक-दूसरे को घेरे हुए हैं। इतने विशाल क्षेत्र में केवल अढ़ाई-द्वीपों में ही मनुष्य का निवास माना गया है। यद्यपि मध्यलोक का क्षेत्र विशाल है किन्तु ऊर्ध्वलोक और अधोलोक की तुलना में इसका क्षेत्रफल शून्य के बराबर है।

लोक का आकार - लोक नीचे विस्तृत है, मध्य में संकरा है और ऊपर-ऊपर मृदंगाकार है। लोक त्रिशरावसंपुट आकार वाला है। तीन सिकोरों में से प्रथम सिकोरे को जमीन पर उल्टा, दूसरे को उस पर सीधा और तीसरे सिकोरे को उस पर पुनः उल्टा रखने से जो आकार बनता है, वही लोक का आकार है। जैन शास्त्रों में इसे त्रिशरावसंपुटाकार या सुप्रतिष्ठिक संस्थान कहा गया है। निम्न चित्र के माध्यम से हम लोक के आकार को समझ सकते हैं–

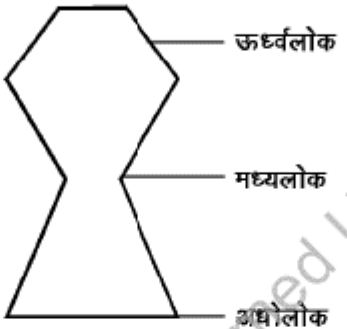

लोक की स्थिति

प्रश्न होता है यह दृश्यमान जगत् किस पर ठहरा हुआ है। पुराणों में शेषनाग, कच्छप आदि पर यह विश्व अवस्थित है, ऐसी विभिन्न अवधारणाएँ हैं। जैनदर्शन के अनुसार गौतम ने भगवान महावीर से प्रश्न पूछा–भंते! लोक की स्थिति कितने प्रकार की है? भगवान् ने कहा–लोक-स्थिति के आठ प्रकार हैं–

१. वायु आकाश पर स्थित है।
२. समुद्र वायु पर अवस्थित है।
३. पृथ्वी समुद्र पर स्थित है।
४. त्रस-स्थावर जीव पृथ्वी पर स्थित हैं।
५. अजीव जीव पर प्रतिष्ठित हैं।
६. जीव कर्म से प्रतिष्ठित है।
७. अजीव जीव के द्वारा संगृहीत हैं।
८. जीव कर्म के द्वारा संगृहीत हैं।

लोक स्थिति के संदर्भ में एक प्रश्न उभरता है कि आकाश किस पर प्रतिष्ठित है? इसका समाधान दिया गया–आकाश स्वप्रतिष्ठित है। इस प्रकार जैन दर्शन में जहाँ छहों द्रव्य हैं, उसे लोक कहा गया है। यह लोक १४ रज्जू परिमाण है। इसका आकार त्रिशरावसंपुटाकार है। यह लोक अनादि-अनन्त है।

निबन्धात्मक प्रश्न

१. जैन आचार के आधार और स्वरूप का विवेचन करें?
२. जैन दर्शन के अनुसार रत्नत्रय का विवेचन करें?
३. श्रमणाचार पर एक निबन्ध लिखें?
४. श्रावक के बारह व्रतों का उल्लेख करते हुए उनकी उपयोगिता पर प्रकाश डालें?
५. जैन जीवनशैली का विस्तार से विवेचन करें?
६. तत्त्व किसे कहते हैं? नव तत्त्वों को विस्तार से समझाएँ?
७. जैन दर्शन के अनुसार षड् द्रव्य का विवेचन करें?
८. जैन दर्शन में प्रतिपादित लोक के स्वरूप को विस्तार से समझाएँ?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई-३

जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान

भगवान महावीर सर्वज्ञ पुरुष थे। उन्होंने सत्य का साक्षात्कार किया इसलिए उन्होंने जो कुछ कहा, वह शाश्वत और त्रैकालिक सत्य था, जिसकी प्रासंगिकता आज भी है। उन्होंने तत्त्व-विचार की एक मौलिक और दिव्य दृष्टि जगत को प्रदान की तथा समय-समय पर अनेक जैन आचार्यों ने सत्य को परखने का जो मार्ग प्रशस्त किया, उससे अन्य दार्शनिकों और चिन्तकों को निःसंदेह अपने चिन्तन को व्यापक बनाने का मौका मिला है। सूक्ष्मता से देखा जाए तो वर्तमान युग में जैन धर्म के अधिकांश सिद्धान्तों की व्यापकता दृष्टिगोचर होती है। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान और समाज-विकास के क्षेत्र में जैन धर्म की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। आधुनिक विज्ञान ने जो निष्कर्ष दिये हैं, उनसे जैन धर्म की अनेक बातें प्रमाणित होती जा रही हैं। उदाहरण के लिए वैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्र में द्रव्य की 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' परिभाषा स्वीकार हो चुकी है। जैन दर्शन में जिन सूक्ष्म सत्यों का विवेचन किया गया है, आज का विज्ञान भी निरन्तर उन सूक्ष्मताओं की ओर बढ़ रहा है, उन्हें जानने का प्रयास कर रहा है। इस प्रकार जैन संस्कृति प्राचीन ज्ञान और आधुनिक विज्ञान के समन्वय का एक आदर्श उदाहरण है। प्रस्तुत इकाई में जैन धर्म में अध्यात्म, विज्ञान, मनोविज्ञान, समाज, लोकतन्त्र, अर्थशास्त्र, पर्यावरण एवं शाकाहार का विवेचन किया जा रहा है।

१. जैन दर्शन में अध्यात्म

भारतीय दार्शनिकों ने दो महत्त्वपूर्ण खोजें की – आत्मा और कर्म। इन दो महत्त्वपूर्ण खोजों ने अध्यात्म के क्षेत्र को बहुत विस्तार दिया। आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में अध्यात्म के मूलभूत आधार दो हैं – आत्म और कर्म। यदि आत्मा और कर्म को हटा लें तो अध्यात्म आधारशून्य हो जाएगा। अध्यात्म की समूची कल्पना और व्यवस्था इस आधार पर की गई है कि आत्मा को कर्म से मुक्त करना है। यदि आत्मा नहीं हो तो किसे मुक्त किया जाए और यदि कर्म नहीं हो तो किससे मुक्त किया जाए? 'आत्मा को कर्म से मुक्त करना है' इस एक वाक्य में समूचा अध्यात्म समा जाता है।

अध्यात्म का अर्थ - अन्तर्जगत की पहचान के लिए एक विद्या का विकास हुआ। उस विद्या का नाम है – अध्यात्म विद्या। अध्यात्म को परिभाषित करते हुए लिखा गया – **'अधि आत्मानं अध्यात्मम्, आत्मानमधिकृत्य या क्रिया प्रवर्तते तद् अध्यात्मम्'** – जो आत्मा में है, वह अध्यात्म है। आत्मा को केन्द्र में रखकर जो क्रिया या प्रवृत्ति की जाती है, वह अध्यात्म है। अध्यात्मोपनिषद् के अनुसार हमारी हर क्रिया – चलना, बोलना, खाना, पीना आध्यात्मिक क्रिया हो सकती है, यदि हर क्रिया के केन्द्र में आत्मा रहे और मोह उपशान्त हो।

अध्यात्म-साधना का उद्देश्य - आत्मा को कर्म से मुक्त कर आत्मस्वरूप में स्थिर करना ही अध्यात्म साधना का उद्देश्य है। आत्मा का स्वरूप है – अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति। इस अनन्त चतुष्टय रूप स्वरूप की प्राप्ति अध्यात्म-साधना से ही संभव है।

अध्यात्म-साधना में बाधक तत्त्व - जब साधक आत्म-साधना की दिशा में प्रस्थान करता है तो बाहरी निमित्त और भीतरी उपादान उसकी साधना में बाधक बनते हैं। निर्युक्तिकार भद्रबाहू ने अध्यात्म-विकास में बाधक तेरह तत्त्वों की चर्चा की है। वे हैं – आलस्य, मोह, अवज्ञा, जड़ता, क्रोध, प्रमाद, कृपणता, भय, शोक, अज्ञान, व्याक्षेप, कुतूहल और क्रीड़ा। इनके अतिरिक्त कषाय, आश्रव, बहिर्मुखता, चंचलता, निषेधात्मक भाव, रोग आदि भी अध्यात्म-साधना में बाधक बनते हैं।

जैन दर्शन में अध्यात्म के सूत्र - जैन आगम एवं आगमेतर साहित्य में अनेक अध्यात्म-साधना के सूत्रों का उल्लेख मिलता है, जिनकी साधना साधक को साध्य तक पहुंचाती है। साधना के लिए चार तत्त्वों को जानना आवश्यक है। पहला वह, जिससे दुःख का सृजन होता है। दूसरा वह, जो दुःख होता है। तीसरा वह, जिससे दुःख का निरोध होता है और चौथा वह जिससे दुःख क्षीण होता है। जिससे दुःख का सृजन होता है, वह आश्रव है। जो दुःख होता है, वह कर्म है। जिससे दुःख का निरोध होता है, वह संवर है और तप से दुःख क्षीण होता है। आध्यात्मिक साधना करने वालों को संवरयोग और तपोयोग को समझकर संवर की साधना के द्वारा आश्रव का निरोध तथा तपस्या के द्वारा संचित कर्म का शोधन करना चाहिए। जैन दर्शन में अध्यात्म-साधना के निम्नलिखित सूत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

१. संवरयोग

आश्रवनिरोध : संवर :– आश्रव का निरोध करने वाली आत्मा की अवस्था का नाम संवर है। संवर के द्वारा आश्रव द्वार को बंद कर दिया जाता है, जिससे नये कर्मों का आगमन अवरुद्ध हो जाता है। जिस प्रकार आंधी आने पर पहले दरवाजे बंद कर दिये जाते हैं और फिर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)

झाड़ू लेकर कचरे की सफाई की जाती है। उसी प्रकार संवर के द्वारा कर्मरूपी कचरे के आने के द्वार-आश्रव को बंद कर दिया जाता है, जिससे नए कर्म-परमाणु भीतर प्रवेश नहीं कर सकते। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग – ये पांच आश्रवद्वार हैं, जिनसे कर्म भीतर प्रवेश करते हैं। सम्यक्त्व, व्रत, अप्रमाद, अकषाय और अयोग – ये पांच संवर हैं। इनकी साधना कर क्रमशः पांचों आश्रव-द्वारों का निरोध किया जाता है।

जब तक संवर की साधना नहीं की जाती, तब तक संवर सिद्ध नहीं होता। तत्वार्थ सूत्र में संवर की साधना के कुछ उपाय बताये हैं। वे हैं – तीन गुप्ति, दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषह विजय और पांच चारित्र की आराधना।

संवर सिद्धि की प्रक्रिया में सबसे पहले चंचलता (योग) का निरोध किया जाता है। चंचलता कम होने पर कषाय स्वतः कम होने लगते हैं। कषाय कम होने पर प्रमाद कम हो जाता है। प्रमाद कम होने पर आकांक्षा कम हो जाती है, व्रत संवर का विकास होने लगता है। व्रत संवर का विकास होने पर मिथ्या दर्शन समाप्त हो जाता है। अतः संवर-साधना की दृष्टि से प्रथम है योग का निरोध –अयोग संवर। यही संवर-साधना की प्रक्रिया है।

२. तपोयोग

तप दो अक्षरों से निर्मित एक छोटा-सा शब्द है। जब तप का योग आत्मा से हो जाता है तब यह तपोयोग आत्मशुद्धि का साधन बनता है। भगवान महावीर ने निर्जरा-तप के बारह प्रकार बतलाए। अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी, रसपरित्याग, कायक्लेश और प्रतिसंलीनता – तपस्या के ये छह प्रकार स्थूल शरीर के माध्यम से कर्मशरीर को प्रकंपित करते हैं अतः इन्हें बहिरंग (बाह्य) तप कहा गया है। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग – तपस्या के ये छह प्रकार मन के माध्यम से कर्मशरीर को प्रकंपित करते हैं अतः इन्हें अंतरंग (आन्तरिक) तप कहा गया है। तप के इन बारह भेदों को चार सूत्रों में समाहित किया जा सकता है – आहारशुद्धि, शरीरशुद्धि, इन्द्रियशुद्धि और मनशुद्धि-भावशुद्धि।

१. आहारशुद्धि – अध्यात्म-साधना का प्रथम सूत्र है – आहारशुद्धि। आहारशुद्धि का प्रथम बिन्दु है – उपवास। आयुर्वेद के आचार्य जहाँ स्वास्थ्य के लिए उपवास आवश्यक मानते हैं, वहीं जैन आचार्य अपने आपको साधने के लिए उपवास आवश्यक मानते हैं। कम खाना स्वास्थ्य का ही नहीं अपितु साधना का भी महत्त्वपूर्ण सूत्र है। तपस्या के प्रथम चार भेद – अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी, रसपरित्याग – आहारशुद्धि से जुड़े हुए हैं। इन सबकी साधना करने से आहारशुद्धि होती है।

२. शरीरशुद्धि – 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' शरीर धर्म का प्रथम साधन है, किन्तु जब तक शरीर की शुद्धि और सिद्धि नहीं होती तब तक साधना के क्षेत्र में आगे नहीं बढ़ा जा सकता। बाह्य तप का एक प्रकार है – कायक्लेश जिसके द्वारा काया (शरीर) की सिद्धि होती है। आसन करने से शरीर सधता है तथा सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों को सहन करने की क्षमता विकसित होती है। शरीरगत चैतन्य केन्द्रों को जागृत करने में भी आसनों का अत्यन्त महत्त्व है।

३. इन्द्रियशुद्धि – इन्द्रिय-विषयों से प्राप्त होने वाले सुख वास्तविक नहीं हैं। वे क्षणिक सुख देते हैं किन्तु उनका परिणाम दुःख ही होता है। अतः अध्यात्म-साधक को इन्द्रिय-विषयों में सुख न ढूंढकर उन्हें ज्ञाता-द्रष्टा भाव से देखना चाहिए। बाह्य तप का एक प्रकार है – प्रतिसंलीनता। इसके द्वारा इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी बनाने का प्रयास किया जाता है। इन्द्रियों का बहिर्जगत में प्रयोग न कर उन्हें अपने-अपने क्षेत्रों में ही सीमित रखना प्रतिसंलीनता है। इन्द्रिय-शुद्धि का पहला महत्त्वपूर्ण सूत्र है – निमित्तों से बचें। जो विषय हमारी इन्द्रियों को चंचल बनाते हैं उनसे दूर रहें। दूसरा सूत्र है – निमित्त मिलने पर उन विषयों के प्रति राग-द्वेष न करें। केवल देखें, केवल जानें। सर्वेन्द्रिय-संयम-मुद्रा का प्रयोग भी इन्द्रिय-संयम का अच्छा प्रयोग है।

४. मनशुद्धि – 'मन एव मनुष्याणां कारणं बंध मोक्षयोः' मन ही मनुष्य के बंधन और मोक्ष का कारण है। मन की चंचलता बंधन का और मन की एकाग्रता मोक्ष का कारण है। अंतरंग तप से मन की शुद्धि होती है। अंतरंग तप में भी मन की शुद्धि और एकाग्रता का महत्त्वपूर्ण सूत्र है – ध्यान। ज्ञान और ध्यान एक ही चित्त की दो अवस्थाएँ हैं। चित्त की चंचल अवस्था को ज्ञान और स्थिर अवस्था को ध्यान कहा जाता है। ध्यान को परिभाषित करते हुए कहा गया – **'एकाग्रे मनः सन्निवेशनं योग निरोधो वा ध्यानम्'** एक आलम्बन पर मन की एकाग्रता तथा योग का निरोध ध्यान कहलाता है। चंचल मन को किसी एक आलम्बन पर एकाग्र करना ध्यान का प्रारम्भ है, उसकी पूर्णता निरोध अवस्था में होती है। मन, वचन, शरीर और श्वास – ये चारों जब निरुद्ध हो जाते हैं, तब ध्यान की वास्तविक अवस्था प्राप्त होती है। निर्विचार-निर्विकल्प अवस्था ही पूर्ण ध्यान की अवस्था है।

३. समता

जैन धर्म में समता को सबसे बड़ा धर्म बताया गया है। समता की साधना ही अध्यात्म की साधना है। भगवान महावीर ने कहा – लाभ-

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अलाभ, सुख-दु:ख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा, मान-अपमान – इन सब अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में सम रहना समता है। यह एक मानवीय दुर्बलता है कि प्रिय वस्तु की प्राप्ति होने पर सुख और प्रिय वस्तु की प्राप्ति न होने पर दु:ख होता है। व्यापार में अत्यधिक लाभ होने पर अहंकार और घाटा होने पर शोक होता है। भगवान महावीर ने प्रिय-अप्रिय घटना में सम रहने के लिए एक सूत्र दिया – **'लाभोत्ति ण मज्जेज्जा, अलाभो त्ति ण सोयए'** लाभ होने पर अहंकार न करें और लाभ न होने पर शोक न करें। हर परिस्थिति में सकारात्मक सोचें। धन का लाभ होने पर सोचें – मैं इस धन को समाज की सेवा में, गरीबों की सेवा में लगाऊँगा। धन का लाभ न होने पर सोचें – धन के कारण होने वाले तनाव, भय आदि से मैं पीड़ित नहीं होऊँगा। आचार्य महाप्रज्ञ ने समता की साधना के तीन सूत्र बताए –

* सुषुम्ना में प्राण-प्रवाह के चालू होने से समता का जागरण होता है।
* दाएँ-बाएँ मस्तिष्क का संतुलन होने पर समता का जागरण होता है।
* वैराग्य से अर्थात् पदार्थ के प्रति आकर्षण कम कर चैतन्य के प्रति आकर्षण पैदा करने से समता का जागरण होता है।

४. आत्म-स्वरूप की साधना

अध्यात्म साधना का उद्देश्य है – आत्म-स्वरूप की उपलब्धि। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति – ये अनन्त चतुष्टय आत्मा के स्वरूप हैं। कर्मों ने हमारे ज्ञान-दर्शन को आवृत्त, आनन्द को विकृत और शक्ति को प्रतिहत कर दिया है। साधना के द्वारा जैसे-जैसे कर्म-क्षीण होते हैं, वैसे-वैसे ज्ञान-दर्शन अनावृत्त, आनन्द प्रकटित और शक्ति अस्खलित होती है।

* ज्ञान में विकल्प होता है, किन्तु राग-द्वेष-मुक्त विकल्प चेतना का होना ही केवलज्ञान की साधना है। अत: राग-द्वेष मुक्त होकर घटना को केवल जानने का अभ्यास करें।
* दर्शन में विकल्प नहीं होता। विकल्प शून्य, राग-द्वेष, प्रियता-अप्रियता से शून्य होकर द्रष्टाभाव से देखना ही केवलदर्शन की साधना है। अत: राग-द्वेष और विकल्प से शून्य होकर घटना को केवल देखने का अभ्यास करें।
* व्याधि-आधि-उपाधि से परे जाने पर आनन्द उपलब्ध होता है। ध्यान के द्वारा मस्तिष्क में अल्फा तरंगें पैदा करना निर्बाध आनन्द की साधना है। अत: ध्यान की गहराई में जाने का अभ्यास करें।
* निरन्तर शुभभाव, मध्यस्थ वृत्ति और जप-अनुष्ठान आदि शक्ति-विकास की साधना है। अत: सदैव शुभ भावों में रहने का अभ्यास करें।

इस प्रकार जैन दर्शन में अध्यात्म का प्रारम्भ आहार-शुद्धि से होता है। आहार का प्रभाव न केवल शरीर पर अपितु इन्द्रिय, मन और भावों पर भी पड़ता है। अत: साधना की दृष्टि से सर्वप्रथम आहारशुद्धि पर बल दिया गया। आहार की शुद्धि से शरीर की शुद्धि होती है। शरीर की शुद्धि से इन्द्रिय और मन का संयम सधता है तथा भावों की शुद्धि होती है। भावशुद्धि होने पर ही समता का जागरण होता है और समता का जागरण अध्यात्म-साधक को आत्म-स्वरूप में प्रतिष्ठित करता है।

२. जैन दर्शन में विज्ञान

धर्म, दर्शन और विज्ञान – इन सभी का एकमात्र लक्ष्य है – सत्य की खोज करना। भीतर की गहराइयों में उतरे बिना सत्य को जाना नहीं जा सकता। भीतर को जानने का मार्ग है – अध्यात्म। किन्तु आज के इस वैज्ञानिक युग में वही सिद्धान्त अपना अस्तित्व बनाए रख सकता है, जो विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरता है। इस दृष्टि से जैन दर्शन के सिद्धान्त पूर्ण वैज्ञानिक हैं।

विज्ञान का अर्थ

वस्तु के सत्य स्वरूप को विशेष रूप से अर्थात् परीक्षण, निरीक्षण आदि से जानने को विज्ञान कहते हैं। ज्ञेय वस्तु जड या चेतन, भौतिक या अभौतिक, मूर्त्त या अमूर्त्त किसी भी प्रकार की हो सकती है, उसके सत्य स्वरूप को जानना विज्ञान है। अब तक इन्द्रियों से, यंत्रादि भौतिक संसाधनों से होने वाले सत्य बोध को ही विज्ञान माना जाता रहा है। उसका क्षेत्र पुद्गल (Matter) तक ही सीमित था किन्तु अब धीरे-धीरे विज्ञान का क्षेत्र चेतन भी बनता जा रहा है।

जैन दर्शन की वैज्ञानिकता

जैन धर्म वैज्ञानिक धर्म है। इसकी वैज्ञानिकता का प्रथम सूत्र है – स्वयं सत्य की खोज, नियमों की खोज। सत्य किसी अनिर्वचनीय सत्ता के द्वारा उपलब्ध नहीं होता, वह स्वयं की साधना के द्वारा उपलब्ध होता है। इस दृष्टि से अध्यात्म और विज्ञान – दोनों में अन्तर नहीं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हैं। दोनों ही सत्य की खोज के लिए चलते हैं। स्वयं सत्य खोजने का दृष्टिकोण वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। बहुत लोगों का यह स्वर है कि विज्ञान ने धर्म को हानि पहुँचाई है, जनता को धर्म से दूर किया है, किन्तु यह स्वर वास्तविकता से दूर प्रतीत होता है। आइंस्टीन एक बहुत बड़ा वैज्ञानिक था लेकिन वह धर्म के प्रति भी उतना ही आस्थावान था। उसने लिखा है – Religion without science is blind; science without religion is lame.

आचार्य महाप्रज्ञ का भी मानना है कि विज्ञान ने धर्म का बहुत उपकार किया है। आज धर्म के प्रति जितनी आस्था है, उतनी ५०-१०० वर्ष पूर्व नहीं थी। विज्ञान ने धर्म की बहुत सत्यस्पर्शी व्याख्या की है। जो सूक्ष्म रहस्य धार्मिक ग्रन्थों में अव्याख्यात हैं, उनकी व्याख्या वैज्ञानिक शोधों के संदर्भ में सुगमता से की जा सकती है। आज विज्ञान भी अतीन्द्रिय ज्ञान की सीमा के आस-पास पहुंच रहा है। उसने ऐसे सूक्ष्म उपकरणों का निर्माण किया है, जिससे अतीन्द्रिय तथ्यों को देख सकते हैं, समझ सकते हैं। जैन-धर्म-दर्शन में अनेक ऐसे सूक्ष्म सत्य उपलब्ध हैं, जिनको वैज्ञानिक शोधों के आधार पर आसानी से समझा जा सकता है।

१. स्थावरकाय के जीव और विज्ञान

जैन दर्शन में स्थावरकाय के जीवों की मान्यता सर्वथा मौलिक और अद्वितीय है। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि एक इन्द्रिय वाले जीव स्थावर कहलाते हैं। ये अपने सुख-दुःख के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रवृत्ति-निवृत्ति नहीं कर सकते। एक ही स्थान पर स्थिर रहने से इन्हें स्थावर कहा जाता है। कुछ समय पूर्व तक जैन धर्म में स्थावरकाय के जीवों की मान्यता और उनमें चेतना के सद्भाव को अन्य दर्शन और विज्ञान स्वीकार नहीं करता था। लेकिन आज विज्ञान ने स्वयं सिद्ध कर दिया है कि स्थावरकाय के जीव भी चेतन हैं। स्थावरकाय की वैज्ञानिकता सिद्ध करने वाले कुछ वैज्ञानिक तथ्य निम्नलिखित हैं –

सजातीय का उत्पादन और वृद्धि को प्राप्त होना – ये दो जीव की खास पहचान हैं। जैन दर्शन मानता है कि पृथ्वी में निरन्तर वृद्धि का क्रम चालू रहता है। यह विज्ञान से भी सिद्ध होता है। वैज्ञानिक एच.टी. बर्सटापेन का कथन है – 'जैसे बालक का शरीर बढ़ता है, वैसे ही पर्वत भी धीरे-धीरे बढ़ते हैं।' विश्व के पर्वतों की वृद्धि की ओर संकेत करते हुए वे लिखते हैं – 'न्यूगिनी के पर्वतों ने अभी अपनी शैशवावस्था ही पार की है। सेलिबाए के दक्षिणी-पूर्वी भागों, मोलूकास के कुछ टापुओं और इण्डोनेशिया के द्वीपसमूह की भूमि भी ऊपर उठ रही है। डॉ. बेल्मेन के अनुसार आल्पस पर्वतमाला का पश्चिमी भाग अब भी बढ़ रहा है। द्वीपों की भूमि का उठाव तथा पर्वतों की वृद्धि पृथ्वी की सजीवता को प्रमाणित करती है।

पानी की सजीवता सिद्ध करते हुए प्रसिद्ध वैज्ञानिक केप्टिन स्कले ने यन्त्र के द्वारा एक लघु जलकण में ३६४५० जीव गिनाए हैं। जैन दर्शन के अनुसार पानी की एक बूंद में असंख्य जीव होते हैं।

अग्नि और वायु की सजीवता भी विज्ञान सम्मत है। जैसे – मनुष्य, पशु आदि जीवित प्राणी श्वास द्वारा शुद्ध वायु से ऑक्सीजन ग्रहण कर जीवित रहते हैं, वैसे ही अग्नि भी वायु से ऑक्सीजन लेकर ही जीवित रहती है, जलती है। उसे किसी बर्तन से ढक दिया जाए या उसे हवा न मिले तो वह तत्काल बुझ जाती है। हवा की सजीवता के संबंध में भी वैज्ञानिक कहते हैं – 'सुई की नोक टिके उतनी हवा में लाखों जीव रहते हैं, जिन्हें 'थेक्सस' कहा जाता है।'

वनस्पति की सजीवता को सर्वप्रथम विज्ञान जगत में डॉ. जगदीशचन्द्र वसु ने सिद्ध किया। उन्होंने अपने प्रयोगों के माध्यम से प्रत्यक्ष दिखाया कि पेड़-पौधे आदि वनस्पतियाँ भी मनुष्य की तरह अनुकूल परिस्थिति में सुखी और प्रतिकूल परिस्थिति में दुःखी होती हैं। उनमें क्रोध, मान, घृणा, प्रेम आदि अनेक अन्य प्रवृत्तियाँ भी होती हैं तथा जीवित रहने के लिए वे भी भोजन, पानी, हवा, प्रकाश आदि की अपेक्षा रखते हैं। जैन दर्शन में भी आहार, भय, मैथुन, परिग्रह आदि दस संज्ञाओं को वनस्पति में स्वीकार किया गया है।

जैन दर्शन में वनस्पति की उत्कृष्ट आयु दस हजार वर्ष मानी गई है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक एडमंड शुभांशा के अनुसार अमेरिका के केलीफोर्निया के नेशनल वन में ४६०० वर्ष तक की आयु के पेड़ विद्यमान हैं। इस प्रकार जैन दर्शन का जीवविज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म और वैज्ञानिक है।

२. अनेकान्त और विज्ञान

अनेकान्त जैन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। नित्य-अनित्य, एक-अनेक आदि अनन्त विरोधी धर्म वस्तु में एक साथ एक-दूसरे के पूरक होकर रहते हैं। अनेकान्तवाद के प्रतिपादन की शैली का नाम स्याद्वाद है। स्याद्वाद सापेक्षता का सूचक है। इन्द्रिय ज्ञान और वचन-विकल्प की सत्यता सापेक्षता पर निर्भर है। इसलिए अनेकान्त का दूसरा नाम सापेक्षवाद है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सापेक्षवाद के संबंध में प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइंस्टीन का एक उदाहरण प्रसिद्ध है कि एक व्यक्ति जलती हुई भट्टी के पास बैठा है तो उसे केवल दस मिनट का समय भी दो घंटे के बराबर लगेगा और अगर वही व्यक्ति अपनी प्रेमिका के साथ बात कर रहा है तो दो घंटे का समय भी उसे दस मिनट के समान लगेगा। दोनों जगह काल समान होने पर भी यह काल का बोध घटना सापेक्ष है।

स्याद्वाद में अस्ति-नास्ति आदि सात भंगों की जो चर्चा की गई है, वह वैज्ञानिक क्षेत्र का सापेक्षवाद ही है। उदाहरण के लिए 'एक वस्तु का वजन एक क्विंटल है' इस कथन के संबंध में सापेक्षवाद कहता है कि यह कथन सही भी है और गलत भी है। पृथ्वी पर जिस पदार्थ का वजन एक क्विंटल है, उसी पदार्थ को पर्वत की चोटी पर तोलने पर उसका वजन एक क्विंटल से कम होगा और गुरुत्वाकर्षण की सीमा से परे जाने पर वही पदार्थ भारहीन हो जाएगा। किसी भी पदार्थ या व्यक्ति का भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न वजन होना अपेक्षाकृत है और अपेक्षाओं के कारण ही स्याद्वाद और सापेक्षवाद में 'है' और 'नहीं' आदि परस्पर विरोधी धर्मों को एक वस्तु में माना जाता है।

आज विज्ञान भी इस सापेक्षवाद को स्वीकार कर रहा है। सापेक्षवाद के सन्दर्भ में एक जगह आईन्सटीन लिखता है कि एक पाँच फुट लम्बा व्यक्ति कभी सवा पाँच फुट का हो जाता है और कभी पौने पाँच फुट का ही रह जाता है। इतना ही नहीं वह व्यक्ति एक ही अवधि में कभी पचास वर्ष का हो जाता है और कभी दस वर्ष का रह जाता है। क्योंकि समय और स्थान के अनुसार लंबाई घटती और बढ़ती रहती है। उसने कहा कोई भी पदार्थ जैसे-जैसे अपनी गति तेज करता है, उस्का माप छोटा होता चला जाता है और यदि वह प्रकाश की प्रति सैकेण्ड १,८६,००० मील वाली गति से चले तो उसका माप शून्य हो जाता है और वह दिखना बंद हो जाता है।

इस प्रकार आज विज्ञान द्वारा स्वीकृत सापेक्षता के सिद्धान्त ने अनेकान्तवाद और स्याद्वाद की वैज्ञानिकता को प्रमाणित किया है।

३. द्रव्य का लक्षण और विज्ञान

जैन दर्शन में द्रव्य का लक्षण 'सत्' कहा गया है। सत् उसे कहते हैं, जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होता है। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु अपने अस्तित्व रूप में नित्य (ध्रौव्य) रहती है, उसका कभी नाश नहीं होता है। उत्पत्ति-विनाश उसकी पर्याय मात्र है। उदाहरणत: सोना एक द्रव्य है। इससे विविध प्रकार के आभूषण बनाए जाते हैं। एक आभूषण को नष्ट कर पुन: नया आभूषण बनाया जाता है। नए आभूषण के उत्पन्न होने और पूर्व आभूषण के नष्ट होने पर भी सोने का अस्तित्व ध्रुव (स्थिर) रहता है। इस मत का समर्थन वैज्ञानिक ले वाइजर ने किया। उनके अनुसार 'किसी भी क्रिया से कुछ भी नवीन उत्पत्ति नहीं की जा सकती है और न ही प्रत्येक क्रिया के पूर्व और पश्चात् में पदार्थ की मात्रा में कोई अन्तर पड़ता है, क्रिया से केवल पदार्थ का रूप परिवर्तित होता है।

जैन दर्शन के इस 'सत्' सिद्धान्त को विज्ञान के सर्वमान्य सिद्धान्त –द्रव्यमान्य संरक्षण सिद्धान्त और ऊर्जा संरक्षण सिद्धान्त के द्वारा आसानी से समझा जा सकता है। इसके अनुसार द्रव्यमान (mass) को ऊर्जा (energy) में और ऊर्जा को द्रव्य में बदला जा सकता है लेकिन कुल द्रव्यमान द्रव्य संहति और ऊर्जा निश्चित रहती है, जो न पैदा की जा सकती है और न ही नष्ट की जा सकती है। सत् की परिभाषा में भी दो शब्द हैं – उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य।

केवल अस्तित्व है, वह ध्रौव्य है, उसमें परिवर्तन नहीं होता, किन्तु पर्याय उत्पन्न होते हैं और नष्ट भी होते हैं।

४. अतीन्द्रिय ज्ञान और विज्ञान

जैन दर्शन में ज्ञान के पांच भेद बताये गए हैं – मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान और केवलज्ञान। इनमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तो प्राय: सर्वमान्य है। अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान और केवलज्ञान – इन तीन अतीन्द्रिय ज्ञानों के प्रति दार्शनिक शंका व्यक्त करते रहे हैं। लेकिन विज्ञान के द्वारा इनके अस्तित्व को भी प्रमाणित कर दिया गया है। डॉ. वगार्न डेकिंग लिखते हैं – 'पीनियल आई' नामक ग्रंथि का अस्तित्व मानव-मस्तिष्क के पिछले भाग में है। यह ग्रंथि हमारे मस्तिष्क का अत्यन्त सबल रेड़ियो तंत्र है, जो दूसरों की आन्तरिक ध्वनि और विचार का चित्र ग्रहण करती है। इसका विकास होने पर व्यक्ति सभी के मन की बात जानने में समर्थ हो जाता है।

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक आइंस्टीन का कथन है कि 'यदि प्रकाश की गति को अधिक किया जा सके तो भूत और भविष्य की घटनाओं को भी देखा-जाना जा सकता है।

जैन दर्शन के अनुसार जिन्हें चौदह पूर्वों का ज्ञान था वे उस चौदह पूर्वों की अपार ज्ञानराशि का स्वाध्याय एक अंतमुहूर्त्त (अधिकतम ४८ मिनट) में कर लेते थे।

इस विशिष्ट ज्ञानराशि पर भी सामान्यत: भरोसा या विश्वास नहीं किया जा सकता कि इतने कम समय में इतनी विशाल ज्ञानराशि का परावर्तन कैसे संभव हो सकता है ? किन्तु वर्तमान विज्ञान जगत में काल की सूक्ष्म मर्यादा के अनेक उदाहरण मिलते हैं। बर्क शायर (इंग्लैण्ड) के एल्डरमेस्टन अस्त्र अनुसंधान केन्द्र में एक ऐसा कैमरा बनाया गया है, जो एक सैकण्ड में पांच करोड़ चित्र खींच लेता है। कम्प्यूटर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

के आविष्कार ने भी उपर्युक्त तथ्य को बोधगम्य बना दिया है क्योंकि कम्प्यूटर द्वारा एक सैकण्ड में एक लाख छियासी हजार गणित के भागों (विकल्पों) का समाधान संभव हो सकता है। अत: मनोबल लब्धि वाला व्यक्ति एक अन्तर्मुहूर्त्त में चौदह पूर्वों का परावर्तन कर सकता है। इस प्रकार जैन धर्म-दर्शन के अनेक सिद्धान्त जो बुद्धि के विषय नहीं बन पा रहे थे, विज्ञान के प्रयोगों ने उन्हें बुद्धिगम्य बना दिया है।

३. जैन दर्शन में मनोविज्ञान

मनोविज्ञान का अर्थ

मनोविज्ञान को अंग्रेजी में Psychology कहते हैं। Psychology शब्द यूनानी भाषा के Psyche और Logos शब्दों से बना है। Psyche का तात्पर्य आत्मा से है और Logos का तात्पर्य ज्ञान से है। इस प्रकार शाब्दिक अर्थ में Psychology आत्मा का ज्ञान अथवा विज्ञान है। ईसा की सोलहवीं शताब्दी तक मनोविज्ञान आत्मा का विज्ञान (Science of Soul) माना जाता रहा। पर आत्मा का कोई निश्चित स्वरूप, आकार और रंग नहीं होने से उसका वैज्ञानिक अध्ययन संभव नहीं था, अत: मनोविज्ञान को मन का विज्ञान (Science of mind) मान लिया गया। कुछ लोगों ने मनोविज्ञान को चेतना का विज्ञान (Science of consciusness) कहना अधिक उचित समझा। विलियम जेम्स के अनुसार मनोविज्ञान चेतना की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन करने वाला विज्ञान है।

आधुनिक मनोविज्ञान ने अपने अध्ययन का क्षेत्र व्यवहार को बनाया और मनोविज्ञान की सर्वांगीण परिभाषा जेम्स ड्रेवर ने प्रस्तुत की कि मनोविज्ञान वह शुद्ध विज्ञान है, जो मानव तथा पशु के उस व्यवहार का अध्ययन करता है जो व्यवहार उसके आन्तरिक मनोभावों और विचारों की अभिव्यक्ति करता है, जिसे हम मानसिक जगत् कहते हैं।

जैन दर्शन में मनोविज्ञान

आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में जैन मनोविज्ञान आत्मा, कर्म और नोकर्म की त्रिपुटी है। मानसिक विश्लेषण इन तीनों पर आधारित है जैन दृष्टि से मन स्वतंत्र पदार्थ नहीं है, वह आत्मा का ही विशेष रूप है। मन की प्रवृत्ति कर्मऔर नो कर्म सापेक्ष है अत: मनोविज्ञान के सन्दर्भ में इस त्रिपुटी को समझना आवश्यक है।

१. आत्मा – चैतन्य लक्षण या चैतन्य स्वरूप पदार्थ का नाम आत्मा है।

२. कर्म – आत्मा की अच्छी और बुरी प्रवृत्ति द्वारा आकृष्ट तथा कर्म रूप में परिणत होने वाले पुद्गल कर्म हैं।

३. नोकर्म – कर्म विपाक (उदय में आने) की सहायक सामग्री को नोकर्म कहा जाता है। आज की भाषा में कर्म को आन्तरिक परिस्थिति या वातावरण तथा नोकर्म को बाहरी वातावरण या परिस्थिति कह सकते हैं।

आधुनिक मनोविज्ञान का अध्ययन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि आज के मनोवैज्ञानिक मन की जिन समस्याओं पर विचार कर रहे हैं उन समस्याओं पर कर्मशास्त्रियों ने बहुत पहले से ही अध्ययन और विचार किया था। यदि मनोविज्ञान के सन्दर्भ में कर्मशास्त्र को पढ़ा जाए तो उसकी अनेक गुत्थियाँ सुलझ सकती हैं, अनेक अस्पष्टताएँ स्पष्ट हो सकती हैं और यदि कर्मशास्त्र के सन्दर्भ में मनोविज्ञान को पढ़ा जाए तो उसकी अपूर्णता को समझा जा सकता है तथा मनोविज्ञान द्वारा अनुत्तरित प्रश्नों के उत्तर खोजे जा सकते हैं। जैन मनोविज्ञान और आधुनिक मनोविज्ञान में अनेक ऐसे तथ्य हैं, जिनमें बहुत अधिक समानता प्रतीत होती है। उनमें से कुछेक का संक्षिप्त विवेचन यहाँ किया जा रहा है।

१. मूलवृत्तियाँ और संज्ञा

मनोविज्ञान में चौदह मौलिक वृत्तियाँ (Instincts) मानी गई हैं तथा इन मौलिक वृत्तियों के आधार पर ही मन की मूलभूत समस्याओं को समाहित करने का प्रयास किया गया है। ये मौलिक वृत्तियाँ सम्पूर्ण प्राणी जगत् में विद्यमान होती हैं। ये जन्मजात होती हैं। प्राणी जीवन की प्रत्येक क्रिया इसी मूल वृत्ति के द्वारा संचालित होती हैं। चौदह मूल वृत्तियाँ एवं उनके संवेग निम्नलिखित हैं –

मूलवृत्ति	संवेग	मूलवृत्ति	संवेग
१. पलायन	भय	८. दीनता	आत्महीनता
२. युयुप्सा	क्रोध	९. आत्मगौरव	आत्माभिमान
३. निवृत्ति	घृणा	१०. सामूहिकता	अकेलापन
४. पुत्रकामना	वात्सल्य	११. भोजनान्वेषण	भूख

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

५. शरणागत	करुणा	१२. संग्रह	अधिकार
६. कामप्रवृत्ति	कामुकता	१३. रचना	कृति
७. जिज्ञासा	आश्चर्य	१४. हास	मनोविनोद

मानव व्यवहार के मूलभूत स्रोत को मनोविज्ञान में जहाँ मूलवृत्ति कहा गया, वहीं जैन दर्शन में इन मौलिक वृत्तियों को 'संज्ञा' नाम से विश्लेषित किया गया है। संज्ञा का अर्थ है – एक प्रकार की चित्तवृत्ति।

जैन दर्शन में निम्नलिखित दस संज्ञाओं का उल्लेख मिलता है –

१. आहार	२. भय	३. मैथुन	४. परिग्रह
५. क्रोध	६. मान	७. माया	८. लोभ
९. ओघ	१०. लोक		

इन दस संज्ञाओं में प्रथम आठ संज्ञाएँ संवेगात्मक और अन्तिम दो संज्ञाएँ ज्ञानात्मक हैं। इनकी उत्पत्ति बाह्य और आन्तरिक उत्तेजना से होती है तथा ये संज्ञाएँ ही हमारे आचरण और व्यवहार के लिए उत्तरदायी हैं। ये संज्ञाएँ एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सम्पूर्ण प्राणी जगत् में पाई जाती हैं।

आचार्य महाप्रज्ञ ने अपनी पुस्तक जैनदर्शन : मनन और मीमांसा में संज्ञा का विवेचन करते हुए यह बताया है कि वनस्पति के जीवों में भी अव्यक्त रूप से ये दसों संज्ञाएँ होती हैं। उदाहरण के लिए वृक्ष जल, धूप, हवा, खाद आदि का आहार ग्रहण करते हैं अत: उनमें **आहार संज्ञा** है। छुई-मुई के पौधे को स्पर्श करने पर वह भय से सिकुड़ जाती है अत: उसमें **भय संज्ञा** है। 'कुरूबक' नामक वृक्ष स्त्री के आलिंगन से पल्लवित होता है और 'अशोक' नामक वृक्ष स्त्री के पादघात से प्रमुदित होता है, इसलिए वनस्पति में **मैथुन संज्ञा** है। लताएँ अपने तंतुओं से वृक्ष को बीट (घेर) लेती हैं, इसलिए उनमें **परिग्रह संज्ञा** है। इसी प्रकार 'कोकनद' (रक्तोत्पल) का कंद **क्रोध** से हुंकार करता है। 'सिरती' नामक बेल **अहंकार** से झरने लग जाती है। लताएँ अपने फलों को **माया** से ढक लेती हैं। बिल्व और पलाश आदि वृक्ष **लोभ** से अपने मूल निधान पर फैलते हैं। इससे जाना जा सकता है कि वनस्पति में क्रोध, मान, माया और लोभ भी है। लताएँ वृक्षों पर चढ़ने के लिए अपना मार्ग पहले से तय कर लेती हैं, इसलिए वनस्पति में **ओघ संज्ञा** है। रात्रि में कमल सिकुड़ते हैं, इसलिए वनस्पति में **लोक संज्ञा** है।

मनोविज्ञान के अनुसार प्राणी मात्र में चौदह मूल वृत्तियाँ होती हैं पर वे किस कारण होती हैं, उसकी चर्चा उपलब्ध नहीं होती। जैन दर्शन में इनकी कारणता पर भी विचार किया गया है और कहा गया है कि इन मूलवृत्तियों का कारण है – कर्म। कर्म के निर्देश से ही कषाय, नोकषाय आदि कार्य में प्रवृत्त होते हैं।

२. मूलवृत्तियों का परिष्कार

मनोविज्ञान के अनुसार जहाँ हमारा आचरण मूलवृत्तियों पर आधारित है, वहीं जैन दर्शन के अनुसार हमारा आचरण कर्म-संस्कार से प्रभावित है। मनोविज्ञान में मूलवृत्तियों के परिष्कार के लिए शमन, दमन-विलयन, मार्गान्तरीकरण और उदात्तीकरण की बात की जाती है।

१. शमन – जो प्रवृत्ति या इच्छा समाज-सम्मत नहीं है, उस इच्छा का शमन करना, उसे रोक देना मूलवृत्तियों के परिष्कार का पहला उपाय है।

२. विलयन – एक वृत्ति या इच्छा मन में उत्पन्न होती है, किन्तु दूसरी वृत्ति की बात सामने आने पर वह छूट जाती है, उसका विलयन हो जाता है।

३. मार्गान्तरीकरण – तीसरा उपाय है – वृत्ति का मार्गान्तरीकरण। वृत्ति का रास्ता ही बदल देना। उदाहरण के लिए मन में काम भावना का जागरण होने पर कोई जब अपनी भावना पूरी नहीं कर पाता तब वह अपने मन की दिशा बदल देता है। कोई कलाकार बन जाता है, कोई चित्रकार बन जाता है, कोई लेखक और कोई कवि बन जाता है।

४. उदात्तीकरण – चौथा उपाय है – उदात्तीकरण। इसमें मन में उत्पन्न हुई काम भावना का दमन, शमन या मार्गान्तरीकरण नहीं अपितु उदात्तीकरण किया जाता है। साधना के द्वारा काम, मोह, राग-द्वेष आदि दोषों का परिशोधन करने की प्रक्रिया ही उदात्तीकरण की प्रक्रिया है।

जैनदर्शन में भी वृत्ति-परिष्कार के लिए तीन मनोवैज्ञानिक पद्धतियाँ प्रस्तुत की गई हैं, वे हैं – उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उपशम – इस प्रक्रिया को मनोवैज्ञानिक दमन की प्रक्रिया कहते हैं। जैन दर्शन के अनुसार जो व्यक्ति कामनाओं, वासनाओं को दबाकर अपनी साधना को आगे बढ़ाता है, वह ग्यारहवें उपशान्तमोह गुणस्थन तक पहुँचकर भी अचानक उठने वाली कामनाओं से विवश होकर पतन की ओर चला जाता है।

क्षयोपशम – इस पद्धति की तुलना मनोविज्ञान के मार्गान्तरीकरण से की जा सकती है। इसमें वृत्तियों की दिशाएँ बदल जाती हैं। क्षयोपशम अर्थात् इसमें कुछेक आवेगों का क्षय और कुछेक आवेगों का उपशम होता है। यह एक सशक्त मानसिक चिकित्सा पद्धति है। फिर भी इसमें वृत्तियों का सम्पूर्ण रूप से क्षय नहीं होता।

क्षायिक – इसमें वृत्तियों का सम्पूर्ण रूप से क्षय (नाश) होता है यह पद्धति कार्य-कारण की खोज करती है और फिर उसकी चिकित्सा भी करती है। क्षायिक पद्धति उदात्तीकरण की प्रक्रिया से तुलनीय है। मनोवृत्तियों के परिष्कार के लिए क्षय-क्षयोपशम की साधना ही उपयोगी है।

प्रतिपक्षी भावना – मनोवृत्तियों के निरसन हेतु जैन दर्शन में वर्णित प्रतिपक्षी भावनाओं का प्रयोग भी मनोवैज्ञानिक प्रयोग है। उदाहरण के लिए उपशम भावना से क्रोध को, मृदुता की भावना से मान को, ऋजुता की भावना से माया को और सन्तोष की भावना से लोभ की वृत्ति को बदला जा सकता है।

३. मन के स्तर

मनोविज्ञान में मन के तीन स्तर माने गए हैं – १. चेतन मन (Conscious Mind), २. अवचेतन मन (Pre-conscious Mind), ३. अचेतन मन (Unconscious Mind) व्यक्ति में जिन इच्छाओं, विचारों या घटनाओं की वर्तमान में चेतना रहती है, वे सभी उसके चेतन मन के विषय होते हैं। अवचेतन मन उन सतही स्मृतियों एवं इच्छाओं का भण्डार है, जिनका ज्ञान व्यक्ति को वर्तमान में नहीं रहता, पर कोशिश करने पर उस चेतना का जागरण हो जाता है। अचेतन मन उन दमित हुए विचारों, भावनाओं और आवेशों का संग्रहालय है, जिसकी चेतना व्यक्ति में न तो वर्तमान में रहती है और न ही कोशिश करने पर साधारणत: जागृत हो पाती है।

मन के इन तीन स्तरों की तुलना जैन दर्शन के स्थूल शरीर, तैजस शरीर और कर्म शरीर से की जा सकती है। जैन मनोविज्ञान की भाषा में अचेतन मन को कर्म शरीर के साथ प्रवृत्त चेतना, अवचेतन मन को तैजस शरीर के साथ प्रवृत्त चेतना और चेतन मन को औदारिक यानी स्थूल शरीर के साथ प्रवृत्त चेतना माना जा सकता है। आज के मनोविज्ञान ने अचेतन मन की जो व्याख्या की है, वह व्याख्या जैन दर्शन ने कर्मवाद के आधार पर तथा सूक्ष्म चेतना और चित्त के आधार पर की है। मनोविज्ञान में मन और चित्त दोनों में भेद नहीं किया गया है किन्तु जैन दर्शन में मन और चित्त में स्पष्ट भेद किया गया है। मन अचेतन है और चित्त चेतन है। मन ऊपर का हिस्सा है जो चित्त का स्पर्श पाकर चेतना जैसा प्रतीत होता है। मनोविज्ञान में प्रतिभादित चेतन मन को 'मन' और अचेतन मन को 'चित्त' कहा जा सकता है। चेतन मन जो कुछ करता है, वह सब वर्तमान का ही नहीं होता किन्तु उसमें अचेतन मन का हिस्सा होता है। मनोविज्ञान के अनुसार दबी हुई इच्छाएँ, आकांक्षाएँ अवचेतन मन में चली जाती हैं और जब वे जागृत होती हैं तो चेतन मन प्रभावित होकर कार्य करने लग जाता है। कर्मशास्त्र के अनुसार भी मनुष्य जो कार्य करता है, वह केवल वर्तमान परिवेश और परिस्थिति से प्रभावित होकर ही नहीं करता अपितु पूर्व अर्जित कर्म समूह से प्रभावित होकर करता है। पूर्व अर्जित कर्म जब उदय में आते हैं, अपना फल देना शुरू करते हैं तब स्थूल मन उससे प्रभावित हो उसके अनुसार व्यवहार और आचरण करने लग जाता है।

४. व्यक्तित्व निर्माण के घटक

व्यक्तित्व के निर्माण एवं विकास के सन्दर्भ में मनोविज्ञान कई कारक तत्त्वों की चर्चा करता है, जिनमें प्रमुख दो हैं – १. वंशानुक्रम, २. वातावरण।

वंशानुक्रम और वातावरण – मनोविज्ञान में वैयक्तिक भिन्नता का अध्ययन आनुवंशिकता (Heredity) और वातावरण (Environment) के आधार पर किया जाता है। जीवन का प्रारम्भ माता के डिम्ब और पिता के शुक्राणु के संयोग से होता है। क्रोमोजोन अनेक जीन्स का एक समुच्चय है। ये जीन्स ही माता-पिता के आनुवंशिक गुणों के संवाहक हैं। इन्हीं में व्यक्ति की शारीरिक एवं मानसिक क्षमताएँ सन्निहित होती हैं। वातावरण के अन्तर्गत वे सारी नैतिक, सामाजिक, बौद्धिक परिस्थितियाँ आती हैं, जो व्यक्ति के जीवन पर अपना प्रभाव डालती हैं। वंशानुक्रम से जिन गुणों को बालक जन्म से लेकर आता है, उन्हें परिमार्जित और रूपान्तरित कर एक विशेष सांचे में ढालने का कार्य पर्यावरण का है। इस पकार 'मनुष्य क्या कर सकता है' यह आनुवंशिकता से निश्चित होता है और 'मनुष्य क्या करता है' यह वातावरण निश्चित करता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जैन दर्शन के अनुसार आनुवंशिकता और पर्यावरण के आधार पर हम सम्पूर्ण व्यक्तित्व को व्याख्यायित नहीं कर सकते। हमारे व्यक्तित्व का मूल स्रोत कर्मशरीर है। जिन प्रश्नों का उत्तर आनुवंशिकता और पर्यावरण के आधार पर नहीं मिलता, उसका समाधान कर्मवाद में मिलता है। जैन दर्शन के अनुसार प्राणी के शरीर की संरचना, रूप-रंग आदि का कारण नामकर्म है। अशुभ नामकर्म का उदय होने पर रंग, रूप, इन्द्रिय, स्वर आदि अशुभ होते हैं तथा शुभ नामकर्म का उदय होने पर रंग, रूप आदि अच्छे होते हैं। इसलिए मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के साथ यदि कर्मवाद की अवधारणा जुड जाती है तो प्राणियों के मनोविश्लेषण में एक नयी दिशा मिल सकती है। कर्मवाद भाव जगत् की सूक्ष्म व्याख्या करता है तथा प्राणी के आचरणों के मूल स्रोतों की व्याख्या में एक सशक्त भूमिका निभाता है।

४. जैन दर्शन में समाज

जैन धर्म निवृत्तिमार्गी श्रमण-परम्परा का धर्म है। इसलिए सामान्यतया इसे सामाजिक न मानकर व्यक्तिवादी धर्म माना जाता है। किन्तु जैन धर्म को एकान्ततः व्यक्तिवादी धर्म नहीं कहा जा सकता। वैयक्तिकता और सामाजिकता दोनों ही मानवीय जीवन के अनिवार्य अंग हैं।

भगवान ऋषभ ने असि, मसि और कृषि का आविष्कार किया, जो सभ्य समाज की स्थापना का आधार बना। भगवान महावीर ने मुख्य रूप से सामाजिक जीवन की बुराइयों को समाप्त करने का प्रयास किया और सामाजिक संबंधों की शुद्धि पर बल दिया।

पाश्चात्य विचारक ब्रेडले का कथन है कि मनुष्य मनुष्य नहीं है, यदि वह सामाजिक नहीं है। मनुष्य समाज में ही उत्पन्न होता है, समाज में ही जीता है और समाज में ही अपना विकास करता है। वह कभी भी सामाजिक जीवन से अलग नहीं हो सकता। तत्त्वार्थसूत्र में **'परस्परोपग्रह जीवानाम्'** कहकर पारस्परिक सहयोग को ही जीवों का मूलभूत लक्षण माना गया है।

समाज का अर्थ

समाज शब्द के अनेक अर्थ उपलब्ध होते हैं; यथा – सभा, मिलन, मंडल, गोष्ठी, समिति, दल, आमोद-प्रमोद आदि। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार **'पशुनां समजः अन्येषां समाजः'** पशु-समूह को समज और पशु से भिन्न जातियों के समुदाय को समाज कहा जाता है। डॉ. सम्पूर्णानंद के अनुसार – जिसमें सभी लोग मिलकर एक गति से चलें, वह समाज है। समाज की परिभाषा करते हुए समाजशास्त्रियों ने लिखा – 'समाज उन दो या दो से अधिक मनुष्यों का नाम है, जिसमें जनकल्याण की भावना से मानव-व्यवहारों का आदान-प्रदान होता है। प्रो. गिडिंग्स के अनुसार समाज स्वयं वह संघ है, संगठन है, औपचारिक संबंधों का वह योग है, जिसे सहयोग देने वाले व्यक्ति आपस में बंधे रहते हैं।

जैन धर्म में सामाजिक जीवन के सूत्र

जैन धर्म में वर्णित लौकिक धर्म का विवेचन, श्रावक के बारह व्रतों का पालन एवं उनके अतिचारों का वर्जन, अनेकान्त का जीवन में प्रयोग आदि जहाँ व्यक्ति के जीवन को उन्नत बनाते हैं, वहीं सामाजिक जीवन को भी समुन्नत बनाते हैं। व्यक्ति और समाज एक-दूसरे से निरपेक्ष होकर अपना अस्तित्व बनाए नहीं रख सकते हैं अतः जैन दर्शन में आत्महित के साथ-साथ लोकहित की भावना को भी स्वीकार किया गया है। यहाँ ऐसे कुछ सिद्धान्तों का विवेचन किया जा रहा है, जिनका सीधा समाज व्यवस्था से भी संबंध है।

१. दस धर्म और समाज-व्यवस्था

जैन आचार-दर्शन में न केवल आध्यात्मिक दृष्टि से धर्म की विवेचना की गई है, वरन् धर्म के सामाजिक पहलू पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। स्थानांग सूत्र में सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में दस धर्मों का विवेचन उपलब्ध है। वे हैं –१. ग्राम-धर्म, २. नगर-धर्म, ३. राष्ट्र-धर्म, ४. पाखण्ड-धर्म, ५. कुल-धर्म, ६. गण-धर्म, ७. संघ-धर्म, ८. सिद्धान्त-धर्म, ९. चारित्र-धर्म, १०. अस्तिकाय-धर्म। इनमें से प्रथम सात तो पूरी तरह से सामाजिक जीवन से सम्बन्धित हैं।

१. ग्राम-धर्म – ग्राम के विकास, व्यवस्था तथा शान्ति के लिए जिन नियमों को ग्रामवासियों ने मिलकर बनाया है, उनका पालन करना ग्राम-धर्म है। जिस ग्राम में शांति और व्यवस्था नहीं रहती, वहाँ के लोगों के जीवन में भी शांति नहीं रहती। इसलिए प्रत्येक ग्रामवासी सदैव इस बात के लिए जागरूक रहे कि उसके किसी भी आचरण से ग्राम के हितों को चोट न पहुँचे।

२. नगर-धर्म – नगर-धर्म के अन्तर्गत नगर की व्यवस्था एवं शांति, नागरिक नियमों का पालन एवं नागरिकों के पारस्परिक हितों का संरक्षण-संवर्धन आता है। जैन शास्त्रों में नगर की व्यवस्था आदि के लिए नगर-स्थविर की योजना का उल्लेख है। आधुनिक युग में जो स्थान एवं कार्य नगरपालिका अथवा नगर निगम के अध्यक्ष के हैं, जैन परम्परा में वही स्थान एवं कार्य नगरस्थविर के हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

३. राष्ट्र-धर्म – राष्ट्रीय विधि-विधान, नियमों एवं मर्यादाओं का पालन करना राष्ट्र-धर्म है। जैन ग्रन्थों में राष्ट्र के नियमों के विपरीत आचरण करना दोषपूर्ण माना गया है। वहाँ राष्ट्रस्थविर का विवेचन भी उपलब्ध है। प्रजातन्त्र में जो स्थान राष्ट्रपति का है, वही प्राचीन परम्परा में राष्ट्रस्थविर का रहा होगा, यह माना जा सकता है।

४. पाखण्ड-धर्म – आज पाखण्ड का अर्थ ढोंग माना जाता है, पर यहाँ नैतिक नियमों के पालन करने को पाखण्ड-धर्म कहा गया है। पाखण्ड धर्म के लिए व्यवस्थापक के रूप में प्रशास्ता-स्थविर का निर्देश है। प्रशास्ता स्थविर जनता को धर्मोपदेश के माध्यम से नियन्त्रित करने वाला अधिकारी है। उसका कार्य लोगों को धार्मिक निष्ठा, संयम एवं व्रत पालन करने के लिए प्रेरित करते रहना है।

५. कुल-धर्म – परिवार अथवा वंश-परम्परा के आचार-नियमों एवं मर्यादाओं का पालन करना कुल-धर्म है। परिवार का अनुभवी, वृद्ध एवं योग्य व्यक्ति कुलस्थविर होता है। उसका कर्त्तव्य होता है परिवार का संवर्धन एवं विकास करना तथा उसे गलत प्रवृत्तियों से बचाना।

६. गण-धर्म – गण-धर्म का तात्पर्य है गण के नियमों और मर्यादाओं का पालन करना। गण का अर्थ समान आचार एवं विचार वाले व्यक्तियों के समूह से है।

७. संघ-धर्म – विभिन्न गणों से मिलकर संघ बनता है। संघ एक प्रकार की राष्ट्रीय संस्था है, जिसमें विभिन्न कुल या गण मिलकर सामूहिक विकास एवं व्यवस्था का निश्चय करते हैं।

८-९. श्रुत-धर्म, चारित्र-धर्म – श्रुत का तात्पर्य ज्ञान से और चारित्र का तात्पर्य आचरण से है। ज्ञान और आचार जहाँ वैयक्तिक साधना के अंग हैं, वहीं उनका प्रभाव समाज पर पड़ने से इनका सामाजिक पहलू भी है।

१०. अस्तिकाय-धर्म – अस्तिकाय का बहुत कुछ संबंध तत्त्वमीमांसा से है। समाज का इससे सीधा संबंध नहीं है।

इस प्रकार जैन आचार्यों ने न केवल वैयक्तिक एवं आध्यात्मिक पक्षों के सम्बन्ध में विचार किया है अपितु सामाजिक जीवन पर भी विचार किया है। ग्राम-धर्म, नगर-धर्म, राष्ट्र-धर्म आदि का विवेचन इस बात का स्पष्ट प्रमाण है।

२. श्रावकाचार और समाज व्यवस्था

जैन परम्परा व्रत केन्द्रित है। व्रत के दो रूप हैं – महाव्रत और अणुव्रत। महाव्रत साधु के लिए है और उसका समाज व्यवस्था से लगभग कोई संबंध नहीं जुड़ता। अणुव्रत गृहस्थ के लिए है। गृहस्थ को आध्यात्मिक जीवन के साथ सामाजिक जीवन भी जीना होता है इसलिए उसके आचार में, जिसे श्रावकाचार कहा जाता है, अनेक ऐसे बिन्दु आ जाते हैं, जिनके आधार पर समाज की समग्र व्यवस्था बनती है। आचार्य महाप्रज्ञ ने उन व्रतों के आधार पर समाज के आधारभूत तत्त्व सात माने हैं। वे हैं – अभय, अनाक्रमण, विश्वास, सामंजस्यपूर्ण विकास, परिग्रह की सम्यक् व्यवस्था, समानता और विसर्जन। श्रावक का पहला व्रत है – अहिंसा। अहिंसा के विकास का अर्थ है – अभय और अनाक्रमण का विकास। वही समाज स्वस्थ होता है, जहाँ भय और आक्रमण नहीं होता है। सत्य, अचौर्य और ब्रह्मचर्य अणुव्रत का विकास समाज में विश्वास पैदा करता है। जहाँ झूठ बोला जाता है, चोरी की जाती है, इन्द्रियों पर संयम नहीं होता, वहाँ विश्वास नहीं होता है। समाज में परिग्रह की सम्यक् व्यवस्था के लिए परिग्रह-परिमाण अणुव्रत की उपादेयता को नकारा नहीं जा सकता। समानता की साधना के लिए जहाँ सामायिक व्रत की बात कही, वहीं विसर्जन की चेतना को जगाने के लिए अतिथि-संविभाग व्रत को उपादेय बताया। इस प्रकार भगवान महावीर द्वारा प्रदत्त श्रावक के बारह व्रत समाज-व्यवस्था के भी आधार बनते हैं।

अनेकान्त और समाज-व्यवस्था

जैन दर्शन का मुख्य सिद्धान्त अनेकान्तवाद समाज-व्यवस्था का भी मूल आधार है। अनेकान्त का अर्थ है दो विरोधी परिस्थितियों में भी सामंजस्य बैठाना। दोनों परिस्थितियों में स्थित सत्य को सापेक्ष दृष्टि से देखना। आचार्य महाप्रज्ञजी के अनुसार अनेकान्त के आधार पर समाज-व्यवस्था के चार आधार बनते हैं –

१. स्वतंत्रता और नियंत्रण का सामंजस्य।
२. समानता और असमानता का सामंजस्य।
३. सहयोग और असहयोग का सामंजस्य।
४. सहिष्णुता और असहिष्णुता का सामंजस्य।

समाज व्यवस्था का पहला मौलिक आधार बनता है – स्वतंत्रता और नियंत्रण का संतुलन। सभी की स्वतंत्रता बनी रह सके इसलिए नियंत्रण आवश्यक है, क्योंकि जहाँ नियंत्रण नहीं होता, वहाँ स्वतंत्रता भी टिक नहीं पाती। नियंत्रण का तात्पर्य है समाज का शक्तिशाली व्यक्ति किसी भी कमजोर व्यक्ति की स्वतंत्रता में बाधा न डाले।

समाज-व्यवस्था का दूसरा आधार बनता है – समानता और असमानता का सामंजस्य। जीवन की मूलभूत आवश्यकताएँ सबकी समान हैं अतः उनकी पूर्ति समानता के आधार पर होनी चाहिए किन्तु जहाँ व्यवस्था, बुद्धि और कौशल की बात है, समानता की बात संभव

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

नहीं हो सकती। वहाँ योग्यता के आधार पर निर्धारण करना होता है। अत: अनेकान्तवाद पर आधारित समाज व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण अभ्युपगम है – समानता और असमानता का औचित्यपूर्ण सामंजस्य।

समाज व्यवस्था का तीसरा सूत्र है – सहयोग। इसी सहयोग की भावना से प्रेरित हो आचार्य उमास्वाति ने कहा – **परस्परोपग्रह जीवानाम्** – जीवों का परस्पर उपग्रह-उपकार होता है। किन्तु सम्यक् समाज-व्यवस्था के लिए कहीं-कहीं असहयोग भी अवश्यक है। बुराई के साथ असहयोग करना समाज-व्यवस्था का मुख्य सूत्र है। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति दहेज के लिए एक युवती को जिन्दा जला देता है तो ऐसे क्रूरकर्मी व्यक्ति के साथ समाज को असहयोग करना चाहिए। मृत्युदण्ड, आजीवन कारावास आदि दण्ड-विधान बुराई के प्रतिकार और असहयोग के लिए ही हैं।

समाज व्यवस्था का चौथा सूत्र है – सहिष्णुता। सहिष्णुता के बिना समाज चल नहीं सकता। स्वस्थ समाज के निर्माण के लिए एक सीमा तक सहन करना आवश्यक है किन्तु गलत और अनैतिक कार्यों को भी सहन करना, उन्हें प्रश्रय देना है।

इस प्रकार स्वतंत्रता, समानता, सहयोग और सहिष्णुता – ये समाज व्यवस्था के चार मौलिक आधार हैं और इन चारों का आधार अनेकान्तवाद है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परम्परा ने निवृत्ति मार्ग को प्रधानता देकर भी उसे लोक-कल्याण का आदर्श देकर सामाजिक बनाया है। जैन आगमों में वर्णित ग्राम धर्म, नगर धर्म आदि दस धर्म उसकी सामाजिक सापेक्षता को स्पष्ट कर देते हैं। जैन दर्शन ने आचार शुद्धि पर बल देकर व्यक्ति-सुधार के माध्यम से समाज-सुधार का मार्ग प्रशस्त किया है।

५. जैन दर्शन में लोकतंत्र

इस दुनियां में कोई भी पदार्थ या व्यक्ति परिपूर्ण नहीं है। सब अपूर्ण हैं, इसलिए 'समस्या और समाधान' दो शब्द गढ़े गए। पानी प्यास बुझा सकता है पर भूख नहीं मिटा सकता। रोटी भूख मिटा सकती है पर प्यास नहीं बुझा सकती। हर पदार्थ और व्यक्ति एक-एक कार्य करता है इसलिए हमारा जीवन और हमारी व्यवस्था सापेक्ष है। जब तक यह अपूर्णता है तब तक समस्या और समाधान साथ-साथ चलते हैं। मनुष्य समस्या और समाधान के बीच में जी रहा है। फिर भी वह यह प्रयत्न करता है कि समस्याएँ कम हों और समाधान ज्यादा हों। इस दिशा में प्रयत्न करते-करते ही लोकतंत्र का उदय हुआ।

लोकतन्त्र क्या है ?

लोकतन्त्र 'जनता का जनता के द्वारा और जनता के लिए की जाने वाली शासन प्रणाली है।' यह एक ऐसी शासन प्रणाली है, जिसमें कानून की दृष्टि से राज्य की नियामक सत्ता किसी विशेष वर्ग या वर्गों के हाथों में नहीं रहती अपितु समुदाय के सभी सदस्यों में निहित होती है। इसका अभिप्राय है कि लोकतंत्रीय प्रणाली में सत्ता का अंतिम सूत्र जनसाधारण के हाथों में है।

वर्तमान युग लोकतंत्र का है। लोकतंत्र में सब समान हैं। जाति, रंग और सम्प्रदाय कोई बाधा नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को समान अधिकार प्राप्त हैं। यह समानता का सूत्र लोकतंत्र का प्राणतत्व और मूल आधार है।

भगवान महावीर राजतन्त्र की परम्परा में नहीं जन्मे। वे गणतन्त्र की परम्परा में जन्मे और गणतन्त्र के वातावरण में पले-पुसे थे। वैशाली गणराज्य के प्रमुख महाराज चेटक भगवान महावीर के मामा थे। महावीर के पिता सिद्धार्थ उस गणराज्य के एक सदस्य थे। उनके प्रारम्भिक संस्कार अहिंसा की व्याख्या के प्रतिफलित हैं। उन्होंने जो अनेकान्त का दर्शन दिया था, वह आज लोकतन्त्र में सामाजिक रूप में फलित हो रहा है। वह एक तत्त्वज्ञान का दर्शन है और उसका व्यावहारिक रूप है – सामाजिक प्राणी। आज का लोकतन्त्र भगवान महावीर के अनेकान्त सिद्धान्त पर आधारित है। अनेकान्त सिद्धान्त के मुख्य फलित चार हैं – १. समानता, २. स्वतन्त्रता, ३. सह-अस्तित्व, ४. सापेक्षता।

१. समानता- महावीर का पहला सिद्धान्त था – समानता। प्रत्येक प्राणी समान है। जब तक सब जीवों के प्रति समानता की अनुभूति नहीं होती तब तक अहिंसा पूर्णत: सफल नहीं हो पाती। गणराज्य की विफलता का भी मूल हेतु है – विषमता। जिस राज्य में सब नागरिकों को समान अधिकार प्राप्त नहीं होते वह राज्य सफल राज्य नहीं बन पाता। इसलिए लोकतन्त्र का आधारभूत सिद्धान्त है – प्रत्येक नागरिक समान है। जाति, रंग और सम्प्रदाय कोई बाधा नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा, चिकित्सा एवं रोजगार का समान अधिकार है, यही लोकतन्त्र का प्राण तत्त्व है।

२. स्वतन्त्रता- जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व स्वतन्त्र है। कोई किसी के अस्तित्व में बाधक नहीं बनता। जिस प्रकार हर पदार्थ अपने-अपने मौलिक गुणों के कारण अपनी विशिष्टता बनाए हुए है, उसी प्रकार हर व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व को बनाने की भी स्वतन्त्रता है। वह अपने पुरुषार्थ के द्वारा विकास करने में स्वतन्त्र है। व्यक्ति स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। कोई ईश्वर या ब्रह्मा उसका

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

भाग्य नहीं लिखता। व्यक्ति के आज का पुरुषार्थ ही कल उसका भाग्य बन जाता है। दु:ख और सुख दोनों ही आत्मकृत है। किसी ईश्वर या अन्य शक्ति के द्वारा कृत नहीं है। महावीर ने कहा –

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिय॥

अर्थात्-आत्मा ही सुख और दु:ख की कर्त्ता है और आत्मा ही मित्र और शत्रु है। पर यह निर्णय व्यक्ति को स्वयं करने का अधिकार है कि वह क्या बनना चाहता है। मित्र बनना चाहता है या शत्रु बनना चाहता है। कर्मों का बंधन करना चाहता है या मुक्त होना चाहता है। जनतन्त्र के लिए यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है, क्योंकि जहाँ व्यक्ति को आत्म-निर्णय का अधिकार नहीं होता, वहां उसका कर्तृत्व कुंठित हो जाता है। नव-निर्माण के लिए, पुरुषार्थ के लिए स्वतन्त्रता का अधिकार आवश्यक है। सबके लिए समान अवसर और सबको मत देने का अधिकार – ये लोकतन्त्र के अपने विशिष्ट मूल्य हैं। इस प्रकार लोकतन्त्र महावीर-वाणी का व्यावहारिक प्रयोग है।

३. सह-अस्तित्व- अनेकान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तु में अनन्त विरोधी युगल धर्म हैं और वे साथ-साथ रहते हैं। अस्तित्व और नास्तित्व, नित्यत्व और अनित्यत्व एक पदार्थ में एक ही समय में रहते हैं। जैन न्याय का यह सिद्धान्त – जिसका अस्तित्व है, उसका प्रतिपक्ष है – लोकतन्त्र का आधारभूत सूत्र है। लोकतन्त्र वह शासनप्रणाली है, जिसमें बहुमत प्राप्त दल सत्ता के सिंहासन पर बैठता है और जिसे अल्पमत प्राप्त होता है, वह दल प्रतिपक्ष के आसन पर बैठता है। यदि प्रतिपक्ष न हो तो निरंकुश शासन की संभावना फिर बन जाती है। इसलिए जहाँ स्वस्थ पक्ष और स्वस्थ प्रतिपक्ष हो, वहीं स्वस्थ लोकतन्त्र की परिकल्पना संभव है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि अनेकान्त का पक्ष-प्रतिपक्ष के सह-अस्तित्व का सिद्धान्त लोकतन्त्र का प्राणतत्त्व है।

४. सापेक्षता- महावीर का चौथा सिद्धान्त था – सापेक्षता। सापेक्षता अर्थात् सबको समान अवसर। कोई बड़ा और कोई छोटा नहीं। छोटा और बड़ा होना सापेक्ष है। एक ही व्यक्ति किसी अपेक्षा से छोटा हो सकता है तो किसी अपेक्षा से बड़ा भी हो सकता है। जहाँ सापेक्षता का दृष्टिकोण होता है, वहीं विकास होता है। बिलौना करते समय एक हाथ पीछे जाता है और दूसरा आगे आता है, फिर आगे वाला पीछे और पीछे वाला आगे आता है। इस क्रम से बिलौना करने पर नवनीत (मक्खन) निकलता है। चलते समय एक पैर आगे रहता है और दूसरा पैर पीछे रहता है। फिर आगे वाला पीछे और पीछे वाला आगे आ जाता है। इस क्रम से ही गति होती है। दोनों साथ चलने का प्रयास करें तो गति नहीं हो सकती। यह सापेक्षता ही स्याद्वाद का रहस्य है, इसी के द्वारा सत्य का ज्ञान और उसका निरूपण होता है। यह सिद्धान्त जनतन्त्र की रीढ है। कुछेक व्यक्ति सत्ता, अधिकार और पद से चिपककर बैठ जाएँ, दूसरों को अवसर न दें तो असंतोष की ज्वाला भभक उठती है। यह सापेक्ष-नीति गुटबंदी को कम करने में काफी काम कर सकती है। नीतियाँ भिन्न होने पर भी यदि सापेक्षता हो तो अवांछनीय अलगाव नहीं होता। महावीर ने जो किया, वह मुक्ति के लिए किया। उन्होंने जो कहा – वह मुक्ति के लिए कहा। जनतन्त्र भी तो व्यावहारिक मुक्ति का प्रयोग है। इसलिए महावीर के ये सिद्धान्त आज भी जनतंत्र का पथदर्शन करने की क्षमता रखते हैं और स्वस्थ समाज की संरचना में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। निरपेक्ष दृष्टिकोण वाले विचारक व्यक्ति और समाज को खण्ड-खण्ड कर देखते हैं। कोई व्यक्ति को सब कुछ मानता है, कोई समाज को। कोई एक राष्ट्र के हित को प्रधानता देते हैं, कोई दूसरे राष्ट्र के हित को प्रधानता देते हैं, फलत: कटुता पैदा होती है। सापेक्षता के विकास से ही आग्रह एवं संघर्ष की चेतना का परिवर्तन सम्भव है। इस प्रकार समानता, स्वतन्त्रता, सह-अस्तित्व और सापेक्षता जहां अनेकान्तवाद के फलित हैं, वहीं लोकतंत्र के भी आधारभूत तत्त्व हैं।

६. जैन दर्शन में अर्थशास्त्र

भगवान महावीर आध्यात्मिक पुरुष थे, वे अर्थशास्त्री नहीं थे। अध्यात्म और अर्थशास्त्र का सीधा संबंध भी नहीं है। अध्यात्म का आधार जहां आत्मा है, वहीं अर्थशास्त्र का आधार पदार्थ (धन आदि) है। अर्थशास्त्र आर्थिक समृद्धि का शास्त्र है और अध्यात्म शान्ति का शास्त्र है। असीम आकांक्षा और शांति में कभी समझौता नहीं होता। महावीर ने अर्थशास्त्र के सिद्धान्त नहीं दिए किन्तु वे जानते थे कि दुनियां में सभी मनुष्य साधु नहीं बनेंगे, जो घर में रहकर साधना करेंगे उन श्रावकों का पथ-दर्शन करना भी अध्यात्म पुरुष का कार्य है इसलिए उन्होंने एक गृहस्थ के लिए महाव्रत की नहीं अणुव्रत की बात कही, पूर्ण त्याग की नहीं, सीमित भोग की बात कही, पूर्ण अपरिग्रह की नहीं, इच्छा-परिमाण की बात कही। उन्होंने अणुव्रती समाज की कल्पना की और उनके लिए एक आचार-संहिता दी। उस आचार-संहिता से अर्थ-व्यवस्था के बहुत सारे सूत्र फलित होते हैं। महावीर यथार्थवादी थे। वे जानते थे कि भौतिकवाद से हटकर केवल अध्यात्मवाद के आधार पर जीवनयात्रा को नहीं चलाया जा सकता। इसलिए उन्होंने अनेकान्तवाद के आधार पर दोनों के समन्वित दृष्टिकोण पर बल दिया। आधुनिक अर्थशास्त्र भौतिकवाद के आधार पर ही विकसित हुआ अत: आर्थिक समृद्धि के साथ-साथ समस्याओं का भी विस्तार हुआ। समस्याओं के समाधान के लिए आवश्यक है जैन-दृष्टि से अर्थशास्त्र की अवधारणा को समझना।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अर्थशास्त्र की परिभाषा

अर्थशास्त्र में व्यक्ति के व्यावसायिक जीवन से सम्बन्धित उन कार्यों का अध्ययन किया जाता है, जो धन के उपार्जन और उपभोग से संबंधित हों। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र को इस प्रकार परिभाषित किया है –

❊ एडम स्मिथ के अनुसार 'अर्थशास्त्र एक ऐसा विज्ञान है, जो राष्ट्रों की सम्पत्ति, प्रकृति एवं कारणों की जांच-पड़ताल से सम्बन्धित है। इस प्रकार यह धन का विज्ञान है।

❊ जे.बी.से. के अनुसार 'अर्थशास्त्र वह विज्ञान है, जो धन का विवेचन करता है।'

❊ वाकर के शब्दों में 'अर्थशास्त्र ज्ञान की वह शाखा है, जो धन से सम्बन्धित है।'

इन परिभाषाओं का निष्कर्ष यही है कि अर्थशास्त्र के अध्ययन का मुख्य विषय धन है। धन का अर्थ केवल भौतिक वस्तुओं से है और यही मानव सुख का आधार है।

आर्थिक क्रियाओं के आधार पर अर्थशास्त्र में तीन बातों पर मुख्य रूप से विचार किया जाता है – उत्पादन, वितरण और उपभोग।

मनुष्य जिन प्रवृत्तियों के द्वारा धन का उपार्जन करता है, उसका अध्ययन 'उत्पादन विभाग' में किया जाता है। विभिन्न साधनों के सहयोग से जिस धन का उत्पादन होता है, उसके वितरण का अध्ययन 'वितरण विभाग' में किया जाता है तथा 'उपभोग विभाग' के अन्तर्गत मानवीय आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए उनकी पूर्ति से सम्बन्धित नियमों का अध्ययन किया जाता है।

आधुनिक अर्थशास्त्र का आधार

आधुनिक अर्थशास्त्र के मुख्य तीन आधार हैं – इच्छा, आवश्यकता और मांग। इच्छा का क्षेत्र आवश्यकता से बड़ा है और आवश्यकता का क्षेत्र मांग से बड़ा है। सभी इच्छाएँ आवश्यकताएँ नहीं होती और सभी आवश्यकताएँ हमारी माँग नहीं होती। किन्तु अर्थशास्त्र में आर्थिक समृद्धि के लिए इच्छाओं, आवश्यकताओं को असीम बनाने पर बल दिया जाता है।

आधुनिक अर्थशास्त्र के प्रमुख पुरुष केनिज ने कहा – ''हमें अपने लक्ष्य को प्राप्त करना है, सबको धनी बनाना है। इसके लिए नैतिक आचार और विचार का कोई मूल्य नहीं है। वह तो हमारे मार्ग में बाधक है। नैतिकता पर विचार करना अर्थशास्त्रियों का कार्य नहीं है।'' परिणामस्वरूप भ्रष्टाचार, आतंकवाद जैसी अनेक समस्याएँ बढ़ी हैं, जिनके निवारण के लिए आवश्यक है नई अर्थव्यवस्था के विषय में सोचना।

जैन दर्शन में अर्थशास्त्र

जैन दर्शन के अनुसार केवल गरीबी को मिटाने वाला अर्थशास्त्र हमारे लिए उपयोगी नहीं है। हमारे लिए वह अर्थशास्त्र उपयोगी है, जो गरीबी को भी मिटाए और साथ-साथ हिंसा का संवर्धन भी न करे। भगवान महावीर ने व्रती समाज की जो व्यवस्था दी, उसमें आर्थिक समृद्धि और अहिंसा की समृद्धि दोनों की समन्वित प्रणाली के तत्त्व हैं आधुनिक अर्थशास्त्र के केन्द्र में 'अर्थ' है और परिधि में 'मनुष्य' है। वहीं जैन दर्शन के अर्थशास्त्र में 'मनुष्य' केन्द्र में है और 'अर्थ' परिधि में है।

आर्थिक विकास कैसे करें

जैन दर्शन में आर्थिक विकास को अस्वीकार नहीं किया गया है। हर व्यक्ति चाहता है समाज में आर्थिक विकास हो, किन्तु प्रश्न है कि वह कैसे हो ? आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार आर्थिक विकास की बात करते समय निम्न तीन बिन्दुओं पर विचार अवश्य करना चाहिए –

❊ अहिंसा और साधन-शुद्धि। ❊ मूल्यों का ह्रास न हो। ❊ स्वार्थ की सीमा।

१. **अहिंसा और साधन-शुद्धि-** आर्थिक विकास करते समय अहिंसा और साधन-शुद्धि को गौण नहीं करना चाहिए। यदि एक साधारण व्यक्ति किसी अमीर व्यक्ति का अपहरण कर करोड़ रुपये की मांग करता है और करोड़पति बन जाता है, यहाँ आर्थिक विकास तो है पर करोड़पति बनने के लिए जो साधन अपनाए, वे अवांछनीय हैं अत: आर्थिक विकास के साथ अहिंसा और साधन-शुद्धि है या नहीं, इस बात पर भी विचार करना चाहिए।

२. **मूल्यों का ह्रास न हो** - आर्थिक विकास के साथ-साथ करुणा, दया, संवेदनशीलता आदि मूल्यों का विकास होना चाहिए। जहाँ इन मूल्यों का स्थान क्रूरता, छलना एवं अप्रामाणिकता ले लेती है, वहाँ आर्थिक विकास तो हो सकता है पर स्वस्थ समाज का निर्माण नहीं हो सकता अत: आवश्यक है अर्थार्जन में मूल्यों का ह्रास न हो।

३. **स्वार्थ की सीमा** - स्वार्थवृत्ति से सर्वथा नहीं बचा जा सकता है, किन्तु अर्थार्जन में उसकी एक सीमा होनी चाहिए। स्वार्थ इतना प्रबल न हो कि अपने आर्थिक विकास के लिए दूसरों के हित को हानि पहुँचाए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अर्थशास्त्र के तीन घटक

अर्थशास्त्र में मुख्य रूप से तीन बातों पर विचार किया जाता है – उत्पादन, वितरण और उपभोग।

१. उत्पादन

भगवान महावीर के समय उत्पादन का मुख्य स्रोत कृषि था। कृषि के सन्दर्भ में उन्होंने एक गृहस्थ को मार्गदर्शन दिया कि कृषि में भी साधन-शुद्धि पर विचार हो। महावीर ने उत्पादन में साधन-शुद्धि के लिए पांच सूत्र दिए –

१. बंध न करना – कृषि का व्यवसाय करते समय बन्ध का प्रयोग मत करो। पशुओं को, मनुष्यों को बांधकर न रखो।

२. वध न करना – वध न करो। उन्हें पीटो मत, मारो मत, सताओ मत।

३. छविच्छेद न करना – छविच्छेद मत करो। उस युग में अंगभंग करने का दण्ड भी विधान में था। महावीर ने कहा – अंग-भंग मत करो।

४. अतिभार न लादना – मनुष्यों पर, पशुओं पर अतिभार मत लादो।

५. भक्तपान का विच्छेद न करना – आजीविका का विच्छेद मत करो, किसी का शोषण मत करो। अधिक श्रम लेकर पारिश्रमिक कम मत दो।

भगवान महावीर ने उत्पादन के संदर्भ में तीन निर्देश दिए –

✱ **अहिंसप्पयाणे** – हिंसक शस्त्रों का निर्माण नहीं करना।

✱ **असंजुत्ताहिकरणे** – शस्त्रों का संयोजन नहीं करना।

✱ **अपावकम्मोवदेसे** – पाप कर्म का, हिंसा का प्रशिक्षण नहीं देना।

उत्पादन के संदर्भ में भगवान महावीर ने व्रती समाज के लिए उपर्युक्त जो विधान किए, वे अहिंसा और शान्ति के अर्थशास्त्र की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

उत्पादन का भी विवेक हो। हर चीज का उत्पादन न हो। अफीम, चरस, हेरोइन, ड्रग्स जैसी मादक वस्तुओं का, जो मनुष्य के लिए हर दृष्टि से हानिकारक हैं – उनका न उत्पादन हो और न सेवन।

२. वितरण

जैन दर्शन में वितरण के सन्दर्भ में भी अनेक निर्देश दिये गए हैं –

✲ कूट तोल-माप मत करो।

✲ वस्तु दिखाओ कुछ और दो कुछ, ऐसा मत करो।

✲ किसी की धरोहर का गबन मत करो।

✲ खाद्य पदार्थों में या अन्य किसी वस्तु में मिलावट कर वितरित मत करो।

भगवान महावीर ने श्रावक के लिए एक व्रत दिया – दिग्व्रत अर्थात् दिशा का परिमाण करो। अमुक दिशा में इतनी सीमा से आगे नहीं जाऊँगा। इस दिशा में इस सीमा से आगे मैं अपनी वस्तु का वितरण भी नहीं करूँगा।

३. उपभोग

दुनियाँ में प्रत्येक पदार्थ सीमायुक्त है। आज पदार्थ सीमित और इच्छा असीम है। वर्तमान की उपभोक्तावादी संस्कृति ने उपभोग को अनियंत्रित कर दिया है, जिससे हिंसा को नया आयाम मिला है। भगवान महावीर ने श्रावक के लिए भोगोपभोग व्रत की बात कही। उन्होंने उपभोग की पूरी एक सूची बना दी। ऐसी सूची, जो आज तक किसी अर्थशास्त्री ने नहीं बनाई। उस सूची का अगर आज अनुपालन हो तो गरीबी की समस्या का समाधान अपने आप हो सकता है। उस सूची के कुछ सूत्र ये हैं –

✱ **वस्त्र-परिमाण** – अपने लिए प्रयोग में आने वाले वस्त्रों का सीमाकरण करना, जैसे – मैं एक वर्ष में पाँच या दस ड्रेस से ज्यादा नहीं पहनूँगा।

✱ **दंतवन-परिमाण** – अपने लिए प्रयोग में आने वाले दतौन का सीमाकरण करना।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

✱ **द्रव्य-परिमाण** – अपने लिए प्रयोग में आने वाले पदार्थों, यथा – खाद्य पदार्थ, अन्य उपकरण आदि का सीमाकरण करना।

✱ **जल-परिमाण** – अपने लिए प्रयोग में लिये जाने वाले जल का सीमाकरण करना। जल का अनावश्यक दुरुपयोग नहीं करना।

✱ **वाहन-परिमाण** – अपने लिए प्रयोग में आने वाले कार, साइकिल, स्कूटर आदि वाहनों के उपयोग का सीमाकरण करना।

श्रावक संकल्प करता है कि मैं इतने से ज्यादा वस्त्र नहीं रखूंगा। दतौन का सीमित उपयोग करूँगा। इतने द्रव्यों से अधिक नहीं खाऊँगा। इतने से ज्यादा पानी का उपयोग नहीं करूँगा आदि। आज का सम्पन्न समाज यदि इन सारी वस्तुओं के उपभोग का सीमाकरण कर ले तो शायद पर्यावरण की समस्या, गरीबी की समस्या, उपभोग की समस्या और उत्पादन की समस्या का समाधान हो सकता है। इसके लिए आवश्यक है अर्थशास्त्र के वर्तमान सिद्धान्तों में युगद्रष्टा महापुरुषों के उन विचारों का समावेश करें, जिनसे मानव कल्याण के लिए एक सर्वांगीण अर्थशास्त्र की रचना हो सके।

नई अर्थ-व्यवस्था के मानदण्ड

आधुनिक अर्थशास्त्र का उद्देश्य गरीबी को मिटाकर आर्थिक समृद्धि को प्राप्त करना है, जिसके लिए साधन के रूप में लोभ, इच्छा, आवश्यकता और उत्पादन बढ़ाने की बात भी स्वीकृत है। जैन दर्शन के अनुसार हमारे लिए केवल गरीबी को मिटाने वाला अर्थशास्त्र उपयोगी नहीं है, अत: हमें नई अर्थव्यवस्था के विषय में सोचना चाहिए। इस सन्दर्भ में महावीर का दर्शन हमारे लिए दिशासूचक यन्त्र का कार्य कर सकता है। आचार्य महाप्रज्ञ ने 'महावीर का अर्थशास्त्र' पुस्तक में नयी अर्थ-व्यवस्था के प्रवर्तन के लिए कुछ पेरामीटर निर्धारित किए हैं। उनके अनुसार नई अर्थव्यवस्था वह हो, जो –

१. विश्वशान्ति के लिए खतरा न बने। २. हिंसा को प्रोत्साहन न दे।

३. पदार्थ में अत्राण की अनुभूति जगाए। ४. अपराध में कमी लाए।

१. विश्वशान्ति के लिए खतरा न बने – नई अर्थव्यवस्था का पहला मानदण्ड यह है कि ऐसी अर्थव्यवस्था हो, जो विश्वशान्ति के लिए खतरा न बने। इस सन्दर्भ में महावीर का महत्त्वपूर्ण सूत्र है –

जे लोयं अब्भाइक्खई से अत्ताणं अब्भाइक्खई।
जे अत्ताणं अब्भाइक्खई से लोयं अब्भाइक्खई॥

जो लोक का, जगत् का अस्तित्व अस्वीकार करता है, वह अपने अस्तित्व को अस्वीकार करता है और जो अपने अस्तित्व को अस्वीकार करता है, वह लोक के अस्तित्व को अस्वीकार करता है। व्यक्ति सृष्टि से जुड़ा हुआ है। इसलिए हमारा कोई भी चिन्तन विश्व को छोड़कर व्यक्ति के संदर्भ में न हो और न ही व्यक्ति को छोड़कर केवल विश्व के सन्दर्भ में हो। व्यक्ति और विश्व – दोनों के संदर्भ में हमारा चिन्तन, विचार और नीति का निर्धारण हो। ग्लोबल इकोनॉमी की नीति का निर्धारण करें तो इस बात का ध्यान रहे कि यह अर्थनीति विश्वशांति और व्यक्ति की शांति – दोनों की शांति के लिए खतरा न बने। नई अर्थनीति का यह पहला पेरामीटर है।

२. हिंसा को प्रोत्साहन न मिले – अर्थव्यवस्था का दूसरा मानदण्ड यह हो कि अर्थनीति हिंसा को प्रोत्साहन न दे। इसमें कोई मतभेद नहीं है कि जीवन-निर्वाह के लिए हिंसा अनिवार्य है किन्तु नई अर्थनीति ऐसी बने जो अनावश्यक और आक्रामक हिंसा को प्रोत्साहन न दे। मनुष्य की ही नहीं, पृथ्वी, जल, वनस्पति तथा छोटे से छोटे प्राणी की भी अनावश्यक हिंसा न हो।

३. पदार्थ में अत्राण की अनुभूति – अर्थव्यवस्था का तीसरा मानदण्ड हो – पदार्थ में अत्राण की अनुभूति। भगवान महावीर ने अशरण अनुप्रेक्षा के माध्यम से यह बताया कि कोई भी पदार्थ शरण नहीं है, त्राण नहीं है। व्यवहार में वह शरण बन सकता है किन्तु वास्तव में कोई भी पदार्थ अंतिम शरण नहीं है। जब मृत्यु आती है तब कोई भी पदार्थ शरण देने में समर्थ नहीं होता। अरबों-खरबों की संपत्ति भी एक श्वास अधिक दिलाने में समर्थ नहीं है। अनित्य, अशरण आदि अनुप्रेक्षाओं का अभ्यास होने पर आन्तरिक परिवर्तन होता है, संवेगों पर नियन्त्रण होता है, जिससे व्यक्ति पदार्थ को जीवन का साधन मानता है, साध्य नहीं मानता। पदार्थ में त्राण की अनुभूति नहीं करता।

४. अपराध में कमी लाए – नई अर्थनीति का चौथा मानदण्ड हो – नई अर्थव्यवस्था अपराध में कमी लाए। आज की आर्थिक अवधारणा ने व्यक्ति में इतनी लालसा पैदा कर दी कि वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए छोटे-बड़े अपराध करने में भी संकोच नहीं करता। इस अपराध चेतना की मनोवृत्ति का कारण है कि हमारी अर्थनीति में साधन-शुद्धि और नैतिक मूल्यों के संरक्षण पर विचार नहीं हुआ है। यह व्यक्ति का नहीं, व्यवस्था का दोष है। नई अर्थव्यवस्था में यह चिन्तन हो कि हमारी अर्थनीति अपराध में कमी लाए।

आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में यदि भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित अहिंसा, शांति, साधन-शुद्धि, संयम आदि मूल्यों को आधुनिक अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों के साथ जोड़ दिया जाए तो उत्पादन, वितरण और उपभोग के प्रति समाज के दृष्टिकोण में एक बड़ा परिवर्तन आ सकता है और गरीब एवं कमजोर वर्ग के लोगों की प्राथमिक आवश्यकताएँ भी पूरी हो सकती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

७. जैन दर्शन में पर्यावरण

पर्यावरण का अर्थ

ब्रह्माण्ड के समस्त जीवधारियों के समुचित विकास एवं सुव्यवस्थित जीवनक्रम को चलाने के लिए संतुलित पर्यावरण की आवश्यकता होती है। पर्यावरण दो शब्दों परि + आवरण से मिलकर बना है। 'परि' का अर्थ है – चारों तरफ और आवरण का अर्थ है – घेरा। प्रकृति में जो भी हमारे चारों तरफ परिलक्षित होता है, वह पर्यावरण है। पर्यावरण शब्द का तात्पर्य भूतल के समस्त भौतिक प्रभावों, जैसे – ताप, जल, वायु तथा जैविक प्रभावों से होता है। प्रकृति के अन्तर्गत जो कुछ भी हमें दिखाई देता है, वह पर्यावरण का एक अंग है अर्थात् वायु, जल, मृदा, पहाड़, समुद्र, पेड़-पौधे एवं जीव-जन्तु सभी सम्मिलित रूप से पर्यावरण की रचना करते हैं।

पर्यावरण असंतुलन के कारण

भारतीय संस्कृति में पर्यावरण का महत्त्व शुरू से ही रहा है। प्रारम्भ में मानव पर्यावरण के साथ अंगीभूत था। उसने प्रकृति के साथ अपना समन्वय बैठा रखा था तथा कभी भी उसमें परिवर्तन की चेष्टा नहीं की थी। बीसवीं सदी के आते-आते मानव के द्वारा भौतिक, आर्थिक एवं जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अप्रत्याशित गति करने की चेष्टा ने पर्यावरण को प्रदूषित कर एक समस्या को पैदा कर दिया। आज पूरा विश्व इससे चिंतित है, समाधान ढूंढने का प्रयास कर रहा है।

पर्यावरण असंतुलन के अनेक कारणों को यदि जैन दर्शन की दृष्टि से एक शब्द में कहा जाए तो वह है – असंयम। भगवान महावीर ने सतरह प्रकार के संयम की बात कही। उनमें जीव संयम और अजीव संयम दोनों प्रकार के संयम को महत्त्व दिया गया। जो इनका संयम नहीं करता वह पर्यावरण को तो प्रदूषित करता ही है किन्तु स्वयं के भी अबोधि और अहित का कारण बनता है। असंयम के अतिरिक्त पर्यावरण असंतुलन के अन्य निम्नलिखित कारण हैं –

१. प्राकृतिक संसाधनों का अभाव।
२. प्रकृति का अत्यधिक दोहन।
३. कृत्रिम आवश्यकताएँ।
४. उपभोक्तावादी संस्कृति।
५. लोभ की प्रवृत्ति।
६. सुविधावादी मनोवृत्ति।
७. विकास के भ्रामक मापदण्ड आदि।

पर्यावरण संतुलन के उपाय

आज विश्व में असंतुलित पर्यावरण की गंभीर समस्या समाज के सभी वर्गों के लोगों को सोचने के लिए मजबूर कर रही है। ऐसी आशंका व्यक्त की जा रही है कि इस क्षेत्र में यदि प्रभावी कदम नहीं उठाए गए तो आने वाले वर्षों में मनुष्य के लिए जिन्दा रहना भी मुश्किल हो जाएगा। मानव-विकास के लिए स्वच्छ एवं संतुलित पर्यावरण की महत्ती आवश्यकता है।

भगवान महावीर ने २६०० वर्ष पूर्व जो जीने का दर्शन दिया, उसमें पर्यावरण संतुलन और सृष्टि संतुलन की दृष्टि से अनेक महत्त्वपूर्ण सूत्र उपलब्ध होते हैं। भगवान महावीर अहिंसा के प्रयोक्ता थे। उन्होंने अहिंसा को अनेक पहलुओं से देखा। उनमें एक पहलु है – पर्यावरण-विज्ञान।

पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति को जहाँ अन्य दर्शनों में पंचभूत के रूप में स्वीकार किया गया, वहीं वैदिक परम्परा में इन्हें देव माना गया। भगवान महावीर ने एक नई और मौलिक अवधारणा दी और कहा – पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति – ये सब जीव हैं। इनके अस्तित्व को अस्वीकार करने वाला अपने अस्तित्व को अस्वीकार करता है। इनके अस्तित्व को स्वीकार करने वाला ही पर्यावरण के साथ न्याय कर सकता है।

१. षड्जीवनिकाय का संयम – जैन दर्शन में पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति को जीव माना गया है। ये सभी मिलकर पर्यावरण की रचना करते हैं तथा संतुलन बनाये रखने के लिए एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। किसी एक तत्त्व के असंतुलन से समूचा पर्यावरण प्रभावित होता है। अतः भगवान महावीर ने कहा विवेकी मनुष्य, पृथ्वी, पानी आदि की हिंसा के परिणाम को जानकर न स्वयं इनकी हिंसा करें, न दूसरों से इनकी हिंसा करवाएँ और न ही हिंसा करने वालों का अनुमोदन करें। पृथ्वी, पानी आदि की हिंसा करने वाला केवल इनकी ही हिंसा नहीं करता अपितु इनके आश्रित अनेक त्रस जीवों की भी हिंसा करता है। इन षड्जीवनिकायों की हिंसा नहीं करने के सन्दर्भ में जैन दर्शन के जो निर्देश हैं, वे पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त रखने की दृष्टि से सर्वाधिक मूल्यवान हैं। आज अनेक प्रकार के खनिज पदार्थों के लिए पृथ्वीकाय की हिंसा की जाती है। वैज्ञानिकों ने यह आशंका व्यक्त की है कि इसी प्रकार यदि पृथ्वी का दोहन होता रहा तो ये भण्डार कुछ ही समय में समाप्त हो जाएँगे।

हजारों मिलियन कचरा, मल आदि जल में फेंका जा रहा है, जिससे जलकाय की तो हिंसा होती ही है किन्तु उससे वह जल भी प्रदूषित होता है। जल में रहने वाले जीव, जैसे मछली एवं अन्य प्राणी उस प्रदूषण से प्रभावित होते हैं। उन्हीं जंतुओं का प्रयोग जब मनुष्य खाने के लिए करता है तो वह विषाक्त भोजन अनेक बीमारियों का कारण बनता है। अग्निकाय का असंयम करने से ऊर्जा के स्रोत कम हो रहे हैं। इससे उद्योग, चिकित्सा आदि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सभी क्रिया कलाप प्रभावित हो रहे हैं। वायु-प्रदूषण में भी अग्निकाय का असंयम ही अधिक निमित्त बन रहा है। प्रमुख वैज्ञानिक श्री टी.एम. दास का कहना है कि यह वायुमण्डलीय प्रदूषण केवल मानव के लिए ही नहीं अपितु प्राणी मात्र के लिए हानिकारक है। इस प्रकार पृथ्वी, जल आदि की हिंसा आध्यात्मिक दृष्टि से ही नहीं, पर्यावरण की दृष्टि से भी अवांछनीय है।

२. वनस्पतिकाय का संयम- आचारांग सूत्र में वनस्पति और मनुष्य के जीवन में बहुत सारी समानताओं का उल्लेख कर उनकी हिंसा से विरत रहने का निर्देश दिया गया है। प्रकृति की दृष्टि में एक पौधे का जीवन भी उतना ही मूल्यवान है जितना एक मनुष्य का है। पेड़-पौधे पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त करने में जितने सहायक हैं, उतने मनुष्य नहीं हैं, वे तो पर्यावरण को प्रदूषित करते हैं। वृक्षों एवं वनों के संरक्षण तथा वनस्पति के दुरुपयोग से बचने के लिए प्राचीन जैन साहित्य में अनेक निर्देश दिये गए हैं। मुनि के लिए तो हरित-वनस्पति को काटने एवं तोड़ने की बात तो दूर उसे स्पर्श करने का भी निषेध है। श्रावक के लिए भी वनस्पति के यथाशक्ति सीमित उपयोग का निर्देश है। वनों को काटना, वनों में आग लगाना आदि क्रियाओं में महापाप माना गया है क्योंकि उसमें न केवल वनस्पति की हिंसा होती है, अपितु अन्य वन्य-जीवों की भी हिंसा होती है और पर्यावरण भी प्रदूषित होता है। वन (जंगल) वर्षा के और पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त रखने के अनुपम साधन है।

३. इच्छाओं का संयम - पर्यावरण संतुलन का एक महत्त्वपूर्ण उपाय है – इच्छाओं का संयम। भगवान महावीर ने कहा – व्यक्ति की इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं, वे कभी पूरी नहीं होती। व्यक्ति की आवश्यकताएँ सीमित हैं पर असीम इच्छाओं की पूर्ति के लिए वह प्रकृति के साथ छेड़छाड़ करता है। परिणामस्वरूप पर्यावरण असंतुलित होता है। प्रकृति में इतनी क्षमता है कि वह संसार के सभी प्राणियों का भरण-पोषण कर सकती है पर प्रकृति में इतनी क्षमता नहीं है कि वह एक भी मनुष्य की इच्छाओं को पूरा कर सके। इच्छाओं पर नियंत्रण पाने के लिए भगवान महावीर ने श्रावक के बारह व्रतों में इच्छापरिमाण-व्रत की बात कही। इच्छा जहाँ पर्यावरण को असंतुलित बनाती है, वहीं व्यक्ति को भी दुःखी बनाती है।

४. पदार्थों के भोग का संयम - तीव्रता से बढ़ती हुई उपभोक्तावादी संस्कृति ने भी पर्यावरण को असंतुलित किया है। उपभोक्तावादी संस्कृति के कारण जीवन के आवश्यक स्रोतों का इतनी तीव्रता से और इतनी अधिक मात्रा में दोहन हो रहा है कि प्राकृतिक स्रोत समाप्त होते जा रहे हैं। इस सन्दर्भ में आज भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित 'भोगोपभोग परिमाण व्रत' की प्रासंगिकता को नकारा नहीं जा सकता।

प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तिगत जीवन में पदार्थों के भोग की सीमा कर ले तो काफी सीमा तक पर्यावरण की समस्या का समाधान किया जा सकता है।

५. यातायात का संयम - पर्यावरण-प्रदूषण में धूम्र छोड़ने वाले वाहनों का प्रयोग भी एक प्रमुख कारण है। आज व्यक्ति को दस कदम भी चलना हो तो वह वाहन की अपेक्षा रखता है, पैदल चलना पसन्द नहीं करता। यदि दो-चार किलोमीटर चलने में अथवा अपने दैनन्दिन कार्यों में वाहन का प्रयोग न करें, अनावश्यक यातायात की भी सीमा करें तो इससे दोहरा लाभ हो सकता है। एक ओर ईंधन एवं तत्संबंधी खर्च से बचाव होता है तो दूसरी ओर पर्यावरण भी प्रदूषित होने से बचता है। भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित दिग्व्रत का आशय भी यही है कि अनावश्यक यातायात का संयम हो।

६. शस्त्रों का संयम - आज विश्व में आणविक एवं रासायनिक शस्त्रों में वृद्धि हो रही है और उनके परीक्षणों तथा युद्ध में उनके प्रयोगों के माध्यम से पर्यावरण में असंतुलन उत्पन्न हो रहा है। इनका प्रयोग न केवल मानव जाति के लिए अपितु समस्त प्राणि-जगत् के अस्तित्व के लिए खतरा है। भगवान महावीर ने इस सत्य को पहले ही समझ लिया था, इसीलिए आचारांग में उन्होंने कहा – **'अत्थि सत्थं परेणपरं नत्थि असत्थं परेणपरं'** अर्थात् शस्त्रों में एक से बढ़कर एक शस्त्र हो सकते हैं किन्तु अशस्त्र (अहिंसा) से बढ़कर कुछ नहीं है। निःशस्त्रीकरण का यह संदेश ही मानवता के अस्तित्व को सुरक्षित एवं पर्यावरण को संतुलित रख सकता है।

इस प्रकार भगवान महावीर ने संयम के जो सूत्र दिये वे पर्यावरण संतुलन की दृष्टि से भी पठनीय, मननीय, चिन्तनीय और आचरणीय हैं। वे सूत्र हैं-इच्छाओं का संयम करो, पदार्थों के व्यक्तिगत भोग का संयम करो। मैत्री, अहिंसा, अपरिग्रह की चेतना का विकास करो। अनर्थ हिंसा, महारंभ, महापरिग्रह से बचो। उन्होंने ऐसे औद्योगिक प्रतिष्ठानों एवं उत्पादनों को भी उचित नहीं ठहराया, जिनके कारण प्रदूषण फैलता हो या समाज में आर्थिक विकृतियाँ जन्म लेती हों। उन्होंने बारह व्रतात्मक एक ऐसी जीवनशैली का प्रारूप प्रस्तुत किया, जिसके आचरण से समाज, देश, राष्ट्र का ही नहीं सम्पूर्ण विश्व का पर्यावरण संतुलित रह सकता है।

८. जैन दर्शन में शाकाहार

स्वस्थ एवं शतायु जीवन जीने की चाह संपूर्ति का महत्त्वपूर्ण साधन है –आहार। मनुष्य के लिए उत्तम आहार वही है, जो उसे आधि, व्याधि एवं उपाधि से दूरकर स्वस्थ मन एवं स्वस्थ शरीर के निर्माण में सहायक बनता हो। इस दृष्टि से मनुष्य को आहार पर ध्यान देना आवश्यक है, क्योंकि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

व्यक्ति जैसा आहार करता है, वैसा ही उसका व्यवहार और आचार होता है।

आहार कैसा हो ? - हमारा आहार कैसा हो, इस प्रश्न पर समूचे विश्व में अनेक दृष्टिकोणों से विचार-विमर्श हुआ है। जैन दर्शन में भी इस पर बहुत विचार किया गया है। जिस आहार से शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक स्वास्थ्य, भावनात्मक स्वास्थ्य अच्छा रहे, अहिंसा और ब्रह्मचर्य की भावना बलवती रहे तथा चित्त-वृत्तियों का शोधन हो, वही आहार करणीय है। इसी दृष्टि से जैन दर्शन में मांसाहार का निषेध कर शाकाहार और सात्विक आहार पर बल दिया गया है।

शाकाहार पर बल क्यों ? - जैन आहार का मूल आधार अहिंसा है। व्यक्ति को वही आहार ग्रहण करना चाहिए जो पूर्णत: अहिंसक हो। यदि यह संभव न हो तो जिसमें कम से कम हिंसा हो, वैसा आहार करना चाहिए। जैन दर्शन के अनुसार त्रस जीवों के शरीर के अंश का नाम ही मांस है। दो इन्द्रिय से लेकर पांच इन्द्रिय तक के जीव त्रस कहलाते हैं। ऐसा मांसाहार वर्जित है, क्योंकि मांस में निरन्तर ही त्रस जीव उत्पन्न होते रहते हैं। अत: उसे अभक्ष्य माना गया है। जैनाचार में पांच प्रकार के अभक्ष्य बतलाये गए हैं – १. त्रसघातमूलक, २. बहुघातमूलक, ३. नशाकारक, ४. अनुपसेव्य, ५. अनिष्ट। आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में अहिंसा व्रत के सन्दर्भ में अनेक युक्तियाँ देकर मांसाहार का निषेध किया है। वहाँ कच्चे मांस, पकाये हुए मांस, स्वयंमृत पशु के मांस, मारकर प्राप्त हुए मांस, शाकाहारी और मांसाहारी पशु के मांस सेवन का विस्तार से निषेध किया गया है।

शाकाहार : पर्यावरण रक्षक आहार - शाकाहार स्वाभाविक प्राकृतिक आहार है। जीवाश्म विज्ञानी डॉ. एलनबॉकर (मैरीलैंड जानहीपकिंस विश्वविद्यालय) की वर्षों की खोज का निष्कर्ष है कि मनुष्य का अस्तित्व पन्द्रह करोड़ वर्ष प्राचीन है तथा प्रारम्भ के चौदह करोड़ पचानवें लाख वर्षों तक मनुष्य ने फल-फूल, कंद-मूल, पत्ते आदि खाकर ही उदरपूर्ति की थी। शाकाहार का 'शा' शान्ति का, 'का' कान्ति का, 'हा' हार्द (स्नेह) का और 'र' रक्षा का परिचायक है। शाकाहार हमें शांति का जीवन देकर हमारे चेहरे की कान्तिवृद्धि में सहायक होता है, जिससे हम स्नेह की धारा बहा अपने जीवन को रसमय बना सकते हैं। ''मैं अपने उदर की पूर्ति वनस्पतिक तथा अहिंसक आहार से करूँगा तथा अपने भोज्य व अन्य उपयोग के लिए मूक प्राणियों का वध नहीं करूँगा।'' यदि प्रत्येक व्यक्ति मात्र इस एक संकल्प को स्वीकार कर ले तो सम्पूर्ण पर्यावरण संतुलित बनता है। अत: शाकाहार न केवल स्वास्थ्यवर्धक आहार है अपितु पर्यावरण-रक्षक आहार भी है।

मांसाहार का निषेध क्यों ?

मांसाहार क्यों नहीं करना चाहिए, इसके लिए जैन दर्शन में अनेक कारण बताये गए हैं। वे कारण निम्नलिखित हैं –

१. मांसाहार हिंसा का कारण है - जैन दर्शन का केन्द्र बिन्दु अहिंसा है। मांसाहार निषेध के पीछे भी मुख्य कारण अहिंसा है। मांस खाने से जीवों की हिंसा होती है, क्योंकि मांस के लिए प्राणियों का घात करना पड़ता है। अहिंसा की चेतना **'आत्मवत् सर्वभूतेषु'** सब जीवों को अपने समान मानने से विकसित होती है। अत: हमें वही आहार करना चाहिए, जिसमें कम से कम हिंसा हो।

२. मांसाहार विकृति का कारण है - सामान्यतया यह माना जाता है कि जैसा आहार, वैसा व्यवहार और आचार। मांसाहार से व्यक्ति के चरित्र का ह्रास होता है। अच्छे चरित्र की आवश्यक शर्तों में मांसाहार का त्याग भी एक शर्त है। जिस व्यक्ति का चरित्र अच्छा होता है, वही उत्तम और श्रेष्ठ पुरुष बन सकता है तथा दु:खों से मुक्त हो सकता है। मांस हमारे चरित्र को विकृत करने के कारण अभक्ष्य और निंद्य है।

३. मांसाहार नरक का कारण है - जैन दर्शन में नरक गति के चार कारण बताये गए हैं –

१. **महाआरम्भ** – निरन्तर हिंसा में रत रहना।
२. **महापरिग्रह** – अत्यधिक आसक्ति रखना।
३. **पंचेन्द्रिय वध** – पंचेन्द्रिय प्राणियों को मारना।
४. **मांसाहार** – मांसभक्षण करना।

इन चार कारणों में मांसाहार भी नरक गति का एक कारण है। ऐसा माना जाता है मांस खाना एक बुरा कर्म है। मांस खाने से उसको नरक मिलता है और नरक में उसका मांस खाया जाता है, वहाँ उसे अत्यधिक दु:ख एवं कष्ट मिलता है।

४. मांसाहार एक व्यसन है - जैन दर्शन में सात व्यसन माने गए हैं। उनमें मांस-भक्षण भी एक व्यसन है। व्यसन दु:ख के कारण हैं अत: उन्हें त्याज्य बताया गया है। मांस-भक्षण से दर्प बढ़ता है, दर्प से शराब पीने की इच्छा होती है, शराब पीकर व्यक्ति जुआ, वेश्या, परस्त्री आदि का सेवन करता है, जिससे दु:ख की प्राप्ति होती है। कुछ लोग यह तर्क देते हैं कि इनके सेवन से दु:ख नहीं अपितु सुख की प्राप्ति होती है अत: ये त्याज्य कैसे हैं ? इसके समाधान में यह कहा जा सकता है कि जैसे इनके सेवन से सेवन करने वालों को सुख मिलता है, वैसे ही अन्य जीवों को, जिनका घात किया जाता है, उनको दु:ख भी होता है। जैसे हम सुख चाहते हैं, वैसे ही दूसरे प्राणी भी सुख चाहते हैं अत: दूसरों के प्रति भी वैसा ही व्यवहार करें, जैसा हम दूसरों से चाहते हैं। मांस-भक्षण एक व्यसन है तथा जीवों को दु:ख और पीड़ा भी पहुँचाता है अत: मांसाहार त्याज्य है।

५. मांसाहार : विभिन्न रोगों का जन्मदाता है - वैज्ञानिक खोजों से आज यह प्रमाणित हो चुका है कि मांसाहार शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी हानिकारक है। शाकाहार में तंतुमय पदार्थ अधिक होते हैं। उनसे पेट को साफ रखने में मदद मिलती है। शरीर में विषाक्त पदार्थों का जमाव नहीं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)

होता, जिसके कारण बीमारियाँ कम होती हैं। जबकि मांसाहार के सेवन से हृदयरोग, कैंसर जैसी अनेक असाध्य बीमारियों को निमंत्रण मिलता है।

हृदयरोग एवं उच्च ताप - हृदयरोग का मुख्य कारण है रक्त-वाहिनियों की भीतरी दीवारों पर कोलेस्टेरोल की तहों का जमना। अण्डों में सबसे अधिक कोलेस्टेरोल होता है। मांस एवं जानवरों से प्राप्त वसा में भी काफी मात्रा में होता है। जो व्यक्ति मांस या अण्डे खाते हैं, उनके शरीर में 'रिस्पटरों' की संख्या में कमी हो जाती है, इससे रक्त के अन्दर कोलेस्टेरोल की मात्रा अधिक हो जाती है। जिससे हृदयरोग, गुर्दे के रोग एवं पथरी जैसी बीमारियों को बढ़ावा मिलता है।

मांसाहार से कैंसर - सभी प्राणियों के शरीर में विषैले पदार्थ तैयार होते हैं। वे केवल मल-मूत्र द्वारा ही शरीर से बाहर निकल सकते हैं। जब कोई जानवर मारा जाता है और यदि उसके मांस में ऐसे पदार्थ रह जाएँ तो उनके बाहर निकलने का कोई रास्ता नहीं रह जाता। हृदय की क्रिया बंद होने के बाद शरीर के सारे अवयव पूर्ण रूप से निष्क्रिय हो जाते हैं अत: मृत जानवरों के मांस में विषैले पदार्थ भारी मात्रा में जमा रह जाते हैं। जो व्यक्ति उसे खाता है, वह सारा विषैला तत्त्व उसके शरीर में पहुँच जाता है, जिससे कैंसर जैसी बीमारी हो जाती है। आँतों का अल्सर, अपैन्डिसाइटिस, आँतों और मलद्वार का कैंसर रोग शाकाहारियों की अपेक्षा मांसाहारियों में अधिक पाए जाते हैं।

इसके अतिरिक्त मांसाहार से अनेक असाध्य रोगों की संभावना बनी रहती है, जैसे– मिर्गी, गुर्दे की बीमारियाँ, गठिया, त्वचा के रोग, एग्जीमा, मुँहासे आदि। अत: मांसाहार नहीं करना चाहिए।

❋ प्रकृति ने मनुष्य की शरीर रचना हाथ, पांव, दांत, आंतों की बनावट तथा खाने-पीने का ढंग मांसाहारी जीवों से भिन्न शाकाहारी पशुओं– गाय, घोड़ा, ऊँट आदि के समान की है अत: उसे शाकाहार करना चाहिए।

❋ शाकाहार अधिक पौष्टिक एवं गुणकारी आहार है। इसका प्रमाण है कि हाथी, घोड़ा, बैल, ऊँट आदि सभी पशु शाकाहारी हैं और वे शक्ति सम्पन्न भी हैं। शाकाहारी पदार्थों में प्रोटीन एवं अन्य स्वास्थ्य वर्धक तत्त्व पर्याप्त मात्रा में होते हैं। फाइबर की मात्रा तथा विटामिन्स भी मांसाहार की अपेक्षा शाकाहार में अधिक हैं अत: शाकाहार करना चाहिए।

❋ आर्थिक दृष्टि से भी शाकाहार सस्ता है। मांस के द्वारा एक किलोग्राम प्रोटीन प्राप्त करने के लिए पशु को सात से आठ किलोग्राम तक प्रोटीन खिलाना पड़ता है। एक मांसाहारी में लगे अर्थ व्यय से २० शाकाहारी का भोजन हो सकता है।

❋ मांसाहार से मस्तिष्क की सहनशीलता एवं स्थिरता का ह्रास होता है। वासना एवं उत्तेजना बढ़ती है। क्रूरता एवं निर्दयता भी बढ़ती है। परिणामत: नैतिकता और आध्यात्मिकता का पतन होता है।

जैन धर्म अहिंसा पर आधारित है। जहाँ जानवरों को बांधना, दुःख पहुँचाना, मारना, अधिक भार लादना भी पाप माना जाता है, वहाँ मांसाहार का तो प्रश्न ही नहीं हो सकता। संक्षेप में कहा जा सकता है कि मांसाहार में हिंसा होने के कारण, क्रूरता उत्पन्न होने के कारण, नरक देने वाला होने के कारण, असाध्य रोगों का जनक होने के कारण त्याज्य है तथा शाकाहार अध्यात्म एवं व्यवहार दोनों दृष्टियों से उपयोगी है।

प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

१. अध्यात्म को परिभाषित करते हुए जैन दर्शन के अनुसार अध्यात्म के सूत्रों का विवेचन करें?
२. सिद्ध करें कि जैन दर्शन के सिद्धान्त वैज्ञानिक हैं?
३. जैन दर्शन में मनोविज्ञान विषय पर प्रकाश डालें?
४. जैन दर्शन के अनुसार समाज-व्यवस्था के सूत्रों का प्रतिपादन करें?
५. जैन दर्शन में लोकतंत्र संबंधी सिद्धान्तों पर प्रकाश डालिए?
६. जैन दर्शन के अर्थशास्त्र की अवधारणा को स्पष्ट करें?
७. जैन दर्शन में वर्णित पर्यावरण-संतुलन के उपायों का विवेचन करें?
८. 'जैन दर्शन और शाकाहार' पर एक निबंध लिखें?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई-४

जीवन विज्ञान और मूल्य विकास

शिक्षा संस्कार परिमार्जन की एक प्रक्रिया है। इसके साथ जीवन की समग्रता जुड़ी हुई है। शिक्षा मूल्य विकास का आधार है। समस्याओं का समाधान तथा सारे समाज का निर्माण शिक्षा से होता है। शिक्षा का उद्देश्य सर्वांगीण विकास है। आज की शिक्षा प्रणाली में शारीरिक और बौद्धिक विकास पर ध्यान दिया जा रहा है किन्तु मानसिक और भावनात्मक विकास उपेक्षित है। इसलिए शिक्षा के द्वारा जो परिणाम आना चाहिए, वह नहीं आ रहा है। शिक्षा के द्वारा जिन जीवन-मूल्यों का विकास होना चाहिए, उन मूल्यों से उतनी ही दूरी बढ़ती जा रही है।

शिक्षा प्रणाली में सुधार लाने हेतु समय-समय पर अनेक आयोग गठित किये गए। नैतिक मूल्यों के सिद्धान्तों को भी पाठ्यक्रम में शामिल किया गया, किन्तु प्रयोग के अभाव में जो निष्पत्ति आनी चाहिए, वह नहीं आ सकी। इसके समाधान हेतु आचार्य तुलसी एवं आचार्य महाप्रज्ञ ने शिक्षा जगत को एक अभिनव अवदान दिया–जीवन विज्ञान। जीवन विज्ञान मूल्यपरक शिक्षा का सैद्धान्तिक और प्रायोगिक पाठ्यक्रम है। शिक्षा में जो भावनात्मक परिवर्तन तथा चरित्र निर्माण का पक्ष गौण है, उसकी पूर्ति जीवन विज्ञान से होती है।

१. शिक्षा का नया आयाम : जीवन विज्ञान

मनुष्य को सही अर्थ में मनुष्य बनाना शिक्षा का प्रमुख कार्य है। शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का सशक्त माध्यम है। यह दर्शन और चिन्तन को क्रियान्विति तक ले जाती है। सम्पूर्ण विकास का आधार बनती है। पिछले दशकों में नैतिक शिक्षा की तीव्र अनुभूति की गई। अनेक राज्य सरकारों ने इसे आवश्यक माना। शिक्षा आयोग ने भी इसके विकास के लिए अनेक सुझाव दिए।

आज शिक्षा जगत में विकास तथा जीविकोपार्जन के लिए अनेक विद्या शाखाएँ हैं। पर जीवन मूल्यों की स्थापना, आध्यात्मिक विकास, भावनात्मक विकास, आन्तरिक रूपान्तरण हेतु विद्या शाखा का नितान्त अभाव है। इसका दुष्परिणाम है कि शिक्षा जगत में अनैतिकता, भ्रष्टाचार, उच्छृंखलता, उद्दंडता, तोड़-फोड़, चरित्रहीनता, मादक द्रव्यों का सेवन इत्यादि तेजी के साथ बढ़ते जा रहे हैं। शिक्षा जगत् के सामने प्रश्न है कि क्या आज की शिक्षा मनुष्य को सही अर्थों में मनुष्य बना रही है? इस प्रश्न के समाधान के लिए अपेक्षा है कि ऐसी विद्या शाखा विकसित हो, जो शिक्षा को जीवनोन्मुखी बना सके। व्यक्ति के भावनात्मक पक्ष एवं आध्यात्मिक पक्ष को उजागर कर सके, क्योंकि आध्यात्मिक विकास और भावनात्मक विकास ही नैतिकता और चरित्र का मूल आधार है।

इस रिक्तता की पूर्ति के लिए आचार्य तुलसी एवं आचार्य महाप्रज्ञ ने शिक्षा जगत को एक अभिनव अवदान दिया। शिक्षा जगत में एक नई विद्या शाखा का बीजारोपण किया। वह विद्या शाखा 'जीवन विज्ञान' के नाम से अंकुरित व पल्लवित हो रही है।

जीवन विज्ञान : समन्वित पद्धति

जीवन विज्ञान एक संतुलित एवं परिपूर्ण विद्या शाखा है। संतुलित इसलिये है कि इसमें शारीरिक व बौद्धिक विकास के साथ-साथ मानसिक व भावनात्मक विकास का संतुलन स्थापित किया गया है। परिपूर्ण इसलिए है कि इसमें सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ-साथ प्रायोगिक अभ्यास भी अनिवार्य रूप से कराया जाता है। शिक्षा का अर्थ है–ग्रहण (जानना) तथा आसेवन करना। आसेवन अर्थात् अभ्यास के बिना शिक्षा परिपूर्ण नहीं हो सकती, अधूरी रहती है। इस विद्या शाखा में ज्ञान के साथ-साथ आचरण और अभ्यास पर बहुत बल दिया गया है। विभिन्न प्रायोगिक अभ्यासों द्वारा इसे संपादित किया गया है। आचार्य महाप्रज्ञजी कहते हैं–''जीवन विज्ञान समन्वित पद्धति का नाम है। इसमें अहिंसा की शिक्षा, नैतिक शिक्षा और आन्तरिक परिवर्तन की शिक्षा, तीनों का समन्वय है। इसे शिक्षा के क्षेत्र में 'अणुव्रत' और 'प्रेक्षाध्यान' के समन्वय से विकसित किया गया है।''

जीवन विज्ञान : नियमों की खोज

विज्ञान का अर्थ है–नियमों की खोज। भौतिक विज्ञान में भौतिक पदार्थों के अध्ययन के द्वारा नियमों की खोज की जाती है। रसायन विज्ञान में रासायनिक पदार्थों के अध्ययन के द्वारा नियमों की खोज की जाती है। इसी प्रकार ''जीवन विज्ञान'' में जीवन के विभिन्न पक्षों के अध्ययन द्वारा नियमों की खोज की जाती है। जिससे उसके उपयोग द्वारा जीवन के सभी पक्षों का विकास किया जा सके। इस तथ्य को उजागर करते हुए आचार्य महाप्रज्ञ कहते हैं–''जीवन विज्ञान का अर्थ है–जीवन के नियमों की खोज।'' जीवन विज्ञान के तीन मुख्य पक्ष हैं–ज्ञानात्मक पक्ष, भावनात्मक पक्ष एवं क्रियात्मक पक्ष।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

१. जीवन के उन नियमों की खोज, जिनसे इन तीनों पक्षों का परिष्कार किया जा सके।

२. जीवन के उन नियमों की खोज, जिनसे भावनात्मक विकास और बौद्धिक विकास में संतुलन स्थापित किया जा सके।

३. जीवन के उन नियमों की खोज, जिनसे प्रज्ञा को, अन्तःकरण को, शुद्ध चेतना को जगाया जा सके। अचेतन मन को परिष्कृत किया जा सके।

जीवन विज्ञान की परिभाषा

आचार्य महाप्रज्ञ ने समय-समय पर जीवन विज्ञान के विविध पहलुओं को प्रकाशित किया है। उस विवेचन के अनुसार जीवन विज्ञान का स्वरूप इस प्रकार सामने आता है–

१. जीवन विज्ञान सम्यक् जीवन जीने की कला के विज्ञान का प्रशिक्षण है।

२. जीवन विज्ञान अहिंसा की शिक्षा, नैतिकता की शिक्षा, आन्तरिक परिवर्तन की शिक्षा पद्धति का नाम है।

३. शिक्षा में 'अणुव्रत' और 'प्रेक्षाध्यान' की समन्वित पद्धति का नाम जीवन विज्ञान है।

४. जीवन के नियमों की खोज का नाम जीवन विज्ञान है।

५. जीवन के मुख्य अंगों पर विचार एवं प्रयोग का नाम है–जीवन विज्ञान।

जीवन विज्ञान के विभिन्न पहलुओं के आधार पर इस 'नई विद्या शाखा' को समग्रता से इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है– ''जीवन विज्ञान वह विज्ञान है, जो जीवन के मुख्य अंग, उनके विकास के साधन एवं उनका जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अनुप्रयोग का वैज्ञानिक अध्ययन करता है, जिसकी परिणति संतुलित जीवन, मानवीय मूल्य एवं सर्वांगीण व्यक्तित्व के विकास के रूप में होती है।

''Science of living is a science which studies the fundamentals of living, techniques for their development and their application in different fields of life, ultimately to bring about the development of a balanced life, human values and integrated personality.''

जीवन विज्ञान : लक्ष्य एवं उद्देश्य

''जीवन विज्ञान'' शिक्षा क्षेत्र में एक नयी विद्या शाखा के रूप में उभर रही है। इसके सामने अनेक प्रश्न एवं जिज्ञासाएँ हैं। उनका समाधान प्रयोग एवं प्रशिक्षण द्वारा खोजा जाता है। ''जीवन विज्ञान'' के सामने प्रश्न यह है कि किस प्रकार जीवन में मानवीय मूल्यों का विकास हो और कैसे जीवन को स्वस्थ एवं संतुलित बनाया जा सके? जीवन का परिष्कार कैसे हो? जीवन का समग्र विकास कैसे हो? किस प्रकार व्यक्ति सफल और संतुष्ट जीवन जी सके? इनका समाधान अनेकान्त दृष्टि, अहिंसात्मक सदाचार, अणुव्रत की न्यूनतम आचार संहिता, प्रेक्षाध्यान पद्धति के प्रयोगों एवं उनके वैज्ञानिक अध्ययन व अनुसंधान द्वारा खोजा जाता है।

जीवन विज्ञान के निम्नलिखित लक्ष्य हैं–

१. जीवन के परिष्कार द्वारा आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व का निर्माण करना।

२. जीवन की शारीरिक, मानसिक एवं चैतसिक प्रक्रियाओं पर योग एवं प्रेक्षाध्यान की प्रक्रियाओं के प्रभावों का वैज्ञानिक अध्ययन करना।

३. जीवन के उन नियमों एवं प्रक्रियाओं का अध्ययन एवं अन्वेषण करना, जिससे जीवन के ज्ञानात्मक, भावात्मक एवं क्रियात्मक पक्ष का परिष्कार होता है।

४. स्वस्थ समाज की संरचना के लिए ऐसे व्यक्तित्व (प्रशिक्षक) का निर्माण करना, जो जीवन के विभिन्न क्षेत्रों हेतु स्वस्थ जीवन की प्रायोगिक और अभ्यासात्मक प्रक्रियाओं को वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत कर सकें। इसके माध्यम से वह समग्र व्यक्तित्व एवं स्वस्थ समाज के निर्माण में सहभागी बन सके।

आचार्य महाप्रज्ञजी ने जीवन विज्ञान के निम्न उद्देश्य बताये हैं–

१. बौद्धिक और भावनात्मक विकास में संतुलन स्थापित करना।

२. विवेक और संवेग में सामंजस्य स्थापित करना।

३. वैयक्तिकता और सामाजिकता में सामंजस्य स्थापित करना।

४. नैतिक मूल्यों का विकास करना।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

५. आत्मानुशासन की क्षमता का विकास करना।

६. मानवीय संबंधों में परिवर्तन करना।

शिक्षा में संतुलन की प्रणाली : जीवन विज्ञान

जीवन विज्ञान संतुलित एवं परिपूर्ण शिक्षा पद्धति है। शिक्षा के चार आयाम हैं– १. शारीरिक विकास, २. बौद्धिक विकास, ३. मानसिक विकास, ४. भावनात्मक विकास।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली में शारीरिक और बौद्धिक विकास पर ब्हुत ध्यान दिया जा रहा है किन्तु मानसिक और भावनात्मक विकास उपेक्षित है। जीवन विज्ञान संतुलित शिक्षा प्रणाली है क्योंकि इसमें शारीरिक और बौद्धिक विकास के साथ-साथ मानसिक और भावनात्मक विकास पर भी ध्यान दिया जाता है।

आचार्य महाप्रज्ञजी की दृष्टि में शिक्षा प्रणाली में संतुलन स्थापित करने वाले चार तत्त्व हैं– १. प्राणधारा का संतुलन, २. जैविक संतुलन, ३. क्षमता की आस्था का जागरण, ४. परिष्कार–दृष्टिकोण, भावना एवं व्यवहार का परिष्कार।

१. प्राणधारा का संतुलन- मानसिक और भावनात्मक विकास के लिए प्राणधारा का विकास और संतुलन आवश्यक है। प्राण के दो प्रवाह हैं–ईड़ा और पिंगला। ये प्राचीन योगशास्त्रीय नाम हैं। आज की शरीरशास्त्रीय भाषा में एक का नाम है–अनुकम्पी नाड़ीतंत्र और दूसरी का नाम है–परानुकम्पी नाड़ीतंत्र।

प्राण के इन दोनों प्रवाहों में जब तक संतुलन नहीं होता, तब तक हम जिस प्रकार के विद्यार्थी की परिकल्पना करते हैं, वह परिकल्पना सार्थक नहीं होती। जब प्राण का एक प्रवाह अधिक सक्रिय हो जाता है तो उद्दण्डता और उच्छृंखलता पनपती है, हिंसक और तोड़-फोड़ की वृत्ति बढ़ती है। यह सारा कार्य दाईं प्राणधारा की सक्रियता का परिणाम है। यदि प्राणधारा का बायां प्रवाह सक्रिय होता है तो व्यक्ति में हीन भावना का विकास होता है, भय की वृत्ति बढ़ती है, दुर्बलता आती है। दोनों का संतुलन सधने पर संतुलित व्यक्तित्व का निर्माण होता है। इसके लिए समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा का अभ्यास बहुत महत्त्वपूर्ण है।

२. जैविक संतुलन - व्यक्तित्व का मौलिक रूप जैविक निर्धारकों (Biological factors) पर निर्भर करता है। इस मौलिक स्वरूप का विकास विभिन्न तरह से परिस्थिति के अनुसार होता है। व्यक्ति में जिन अंगों के द्वारा व्यक्तित्व संबंधी मौलिक तत्त्व अभिव्यक्ति पाते हैं, उनमें प्रमुख हैं– १. शरीर-रचना (Physique), २. अन्तःस्रावी ग्रंथियाँ (Endocrine Glands), ३. तन्त्रिका तन्त्र (Nervous System), ४. बुद्धि (Intelligence)। इन सभी जैविक तत्त्वों का संतुलन स्वस्थ व्यक्तित्व निर्माण के लिए एक आवश्यक शर्त है। प्रेक्षाध्यान के प्रयोगों से इनमें संतुलन स्थापित किया जाता है।

हमारे मस्तिष्क के दो पटल (Hemisphere) हैं–दायां पटल तथा बायां पटल। बायां भाग तर्क, गणित, भाषा से संबंधित है तथा दायां भाग अध्यात्म, अन्तश्चेतना, आन्तरिक गुणों से संबंधित है। आधुनिक शिक्षा में बायें पटल को सक्रिय करने वाले अनेक तत्त्व हैं किन्तु दायां पटल निष्क्रिय अवस्था में रहता है, उसको सक्रिय करने वाले तत्त्व आज की शिक्षा में नहीं हैं। जीवन विज्ञान इन दोनों में संतुलन स्थापित करता है।

३. क्षमता की आस्था का जागरण - व्यक्ति के भीतर अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द है लेकिन व्यक्ति अपनी क्षमताओं से अनभिज्ञ होने के कारण उसका सही उपयोग नहीं कर पाता। आस्था का निर्माण करना बहुत बड़ी निष्पत्ति है। जब आस्था लड़खड़ा जाती है, तब व्यक्ति के घुटने टिक जाते हैं। जीवन-विज्ञान के द्वारा व्यक्ति में इस आस्था का जागरण किया जाता है कि उसमें अनन्त क्षमताएँ हैं। उन्हें जागृत किया जा सकता है तथा उचित प्रयत्न, दृढ़ अध्यवसाय और उचित साधन-सामग्री के प्रयोग से प्रत्येक कार्य को संभव बनाया जा सकता है।

४. मनोवृत्तियों का परिष्कार - मनोविज्ञान में चौदह मौलिक मनोवृत्तियों का उल्लेख मिलता है, जो प्राणी मात्र में होती हैं। बुरी वृत्तियों के परिष्कार और अच्छी वृत्तियों के निर्माण हेतु जीवन विज्ञान में अनुप्रेक्षा, लेश्याध्यान आदि के प्रयोग करवाये जाते हैं। क्योंकि परिष्कार के बिना शिक्षा-प्रणाली को संतुलित नहीं कहा जा सकता। शिक्षा के साथ परिष्कार के सूत्र अवश्य जुड़े होने चाहिए, ताकि विद्यार्थी के अपरिष्कृत दृष्टिकोण, व्यवहार और भाव परिष्कृत बनते जाएँ। मिथ्या दृष्टिकोण, मिथ्या व्यवहार और मिथ्या भावना–ये तीनों मनुष्य को पतन की ओर ले जाते हैं तथा सम्यग् दृष्टिकोण, सम्यग् व्यवहार और सम्यग् भाव उत्थान की ओर ले जाते हैं। जीवन विज्ञान में इस बात पर विचार किया गया है कि हमारे दृष्टिकोण, व्यवहार और भाव पर हाइपोथेलेमस और अन्तःस्रावी ग्रन्थियों का नियंत्रण है। पीनियल और पिच्यूटरी–ये ग्रंथियाँ इनको संचालित करती हैं अतः इन ग्रंथियों के स्राव को परिष्कृत कर हम दृष्टिकोण, व्यवहार और भाव को परिष्कृत कर सकते हैं। चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा, लेश्या ध्यान एवं भावना के प्रयोग स्राव परिष्कार के महत्त्वपूर्ण प्रयोग हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जीवन विज्ञान की कल्पना आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व के निर्माण की कल्पना है। इस पाठ्यक्रम में विज्ञान और अध्यात्म का समुचित प्रबन्धन है। आचार्य महाप्रज्ञजी के शब्दों में–अध्यात्म और विज्ञान एक-दूसरे के पूरक हैं। दोनों का सापेक्ष विकास जरूरी है। उनकी दृष्टि में आध्यात्मिक व्यक्तित्व की कसौटियाँ हैं– १. आत्मौपम्य की भावना का विकास। २. इन्द्रिय और मन पर संयम। ३. दमित वासनाओं का परिष्कार। ४. अनासक्ति का विकास। वैज्ञानिक व्यक्तित्व की कसौटी है–सत्य की खोज, चेतना की खोज, मानव की खोज।

अध्यात्म और विज्ञान दोनों ही सत्य की खोज के मार्ग हैं। वैज्ञानिक युग में वैज्ञानिक दृष्टि अपेक्षित है और शांतिपूर्ण जीवन के लिए आध्यात्मिकता भी अनिवार्य है। आध्यात्मिकता + वैज्ञानिकता = आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व। आज की अपेक्षा है विद्यार्थी न कोरा आध्यात्मिक बने और न कोरा वैज्ञानिक बने अपितु आध्यात्मिक-वैज्ञानिक बने। इन दोनों का योग ही शिक्षा की समस्या का समाधान है और यही जीवन विज्ञान का प्रस्थान है।

२. जीवन विज्ञान के सात अंग

जीवन क्या है? - जीवन क्या है? यह सबसे पहला और सबसे बड़ा प्रश्न है। पहला इसलिए कि जीवन के होने पर सब कुछ होता है और जीवन के न होने पर कुछ भी नहीं होता। मनुष्य की सारी प्रवृत्तियाँ जीवन के पीछे चलती हैं। जीवन की समाप्ति का अर्थ है–मानसिक, वाचिक, कायिक सभी प्रवृत्तियों की समाप्ति। बड़ा इसलिए कि जीवन के अस्तित्वकाल में जिन वस्तुओं का मूल्य होता है, जीवन की समाप्ति के साथ वे वस्तुएँ उसके लिए मूल्यहीन हो जाती हैं। जीवन विज्ञान में समग्र जीवन का विश्लेषण किया गया और जीवन की व्याख्या के सात सूत्र दिये गए। इन सात अंगों का समुच्चय ही हमारा जीवन है। जीवन के सात अंग हैं– १. शरीर, २. श्वास, ३. प्राण, ४. मन, ५. भाव/आभामंडल/लेश्या, ६. कर्म, ७. चित्त-चेतना। इन सात अंगों की समष्टि का नाम है–जीवन। किसी एक कोण से होने वाली जीवन की परिभाषा पूर्ण नहीं हो सकती। जीवन की समग्र परिभाषा एवं विकास के लिए इन सातों बिन्दुओं पर ध्यान देना आवश्यक है। ये अंग साधक भी बनते हैं, बाधक भी बनते हैं। जीवन के विकास के हेतु भी बनते हैं और अवरोधक भी बनते हैं। यदि इन्हें शिक्षित कर लिया जाता है तो यह साधक बन सकते हैं। अशिक्षित रहते हैं तो बाधक भी बन जाते हैं। अतः 'जीवन विज्ञान' में इन सातों अंगों पर विचार और 'प्रेक्षाध्यान' के प्रयोग किए गए हैं।

१. शरीर (Body)- जीवन का पहला घटक तत्त्व है–शरीर। शरीर को परिभाषित करते हुए कहा गया–**'सुखदुःखानुभव साधनं शरीरम्'** अर्थात् सुख और दुःख के अनुभव के साधन को शरीर कहते हैं। जैन दर्शन में शरीर के पांच प्रकार माने गए हैं–

१. औदारिक शरीर–हाड, मांस, मज्जा आदि सप्त धातुओं से निर्मित शरीर।

२. वैक्रिय शरीर–नाना रूप बनाने में समर्थ शरीर।

३. आहारक शरीर–विचार संवाहक संप्रेषक शरीर।

४. तैजस शरीर–तापमय या विद्युत शरीर।

५. कार्मण शरीर–कर्ममय शरीर।

अच्छा जीवन जीने के लिए शरीर को समझना तथा उसे स्वस्थ रखना बहुत आवश्यक है। शरीर के दस तंत्र हैं–

१. अस्थि तंत्र (Skeletal System)	२. मांसपेशीय तंत्र (Muscular System)
३. त्वचा तंत्र	४. पाचन तंत्र (Digestive System)
५. रक्त परिसंचरण तंत्र (Blood Circulatory System)	६. श्वसन तंत्र (Respiratory System)
७. उत्सर्जन तंत्र (Excretory System)	८. तंत्रिका तंत्र (Nervous System)
९. अन्तःस्रावी ग्रंथि तंत्र (Endocrine System)	१०. प्रजनन तंत्र (Reproductive System)

ये आरे तंत्र एक साथ संगठित होकर मानव शरीर की रचना करते हैं। इन तंत्रों को प्रशिक्षित किया जा सकता है। इनका सम्बन्ध केवल शारीरिक क्रिया से ही नहीं है, मानवीय व्यवहार से भी गहरा सम्बन्ध है। हिंसा, साम्प्रदायिकता, उत्तेजना, शांति और कलह, सौहार्द और वैमनस्य–इन सबके लिए केवल मन और भाव ही उत्तरदायी नहीं हैं अपितु शरीर भी उत्तरदायी है।

हमारा शरीर बहुत रहस्यमय है। शरीर के विषय में आज मेडिकल साइंस ने बहुत खोज की है किन्तु जो खोजा गया है, वह एक बिन्दु जितना है। हमारा ज्ञान का जगत बहुत छोटा-सा है। अज्ञान एक महासागर है। मनुष्य अपने मस्तिष्क और इन्द्रियों से बहुत खोज करता है किन्तु सत्य अनंत है। उसके कुछेक पर्याय (अवस्थाएँ) ही सामने आ पाते हैं। एक चिकित्सक चिकित्सा की दृष्टि से शरीर को समझता है। वह नाड़ीतंत्र और ग्रंथितंत्र दोनों को समझने का प्रयत्न करता है किन्तु जीवन विज्ञान के संदर्भ में शरीर को पढ़ना होता है तो पढ़ने का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

दृष्टिकोण बदल जाता है। हमारे शरीर में कुछ ऐसे केन्द्र हैं, जहाँ चेतना सघन रूप से केन्द्रित है। 'प्रेक्षाध्यान' की भाषा में उन्हें 'चैतन्य केन्द्र' कहा जाता है। उन पर ध्यान के प्रयोग कराये जाते हैं। यदि आध्यात्मिक शक्ति को जानना है तो दर्शन केन्द्र पर ध्यान का प्रयोग करना होता है। संतुलित, अनुशासित और आत्म-नियंत्रित होना है तो विशुद्धि केन्द्र पर ध्यान करना होता है। नशामुक्ति के लिए अप्रमाद केन्द्र पर ध्यान करते हैं।

प्रेक्षाध्यान के संदर्भ में शरीर को पढ़ने से यह भी समझ में आता है कि भावात्मक परिवर्तन के केन्द्र शरीर में कहाँ-कहाँ हैं? उन केन्द्रों पर ध्यान के ऐसे प्रयोग कराए जाते हैं, जिनसे एकाग्रता बढ़ती है, भावात्मक समस्याएँ समाहित होती हैं। शरीर स्वस्थ बनता है।

शारीरिक प्रशिक्षण के साधन हैं–

- ❋ आसन, यौगिक क्रियाएँ
- ❋ तपस्या
- ❋ कायोत्सर्ग
- ❋ शरीरप्रेक्षा
- ❋ अनुप्रेक्षा–सुझाव और संकल्प का प्रयोग।

२. श्वास (Breath) - जीवन का दूसरा घटक तत्त्व है–श्वास। श्वास हमारे शरीर, इन्द्रिय, मन और भाव–इन सबको प्रभावित करता है। श्वास और जीवन दोनों पयार्यवाची हैं। जब तक श्वास तब तक जीवन और जब तक जीवन तब तक श्वास–यह कहा जा सकता है। प्रत्येक प्राणी को जीवित रहने के लिए ऑक्सीजन की आवश्यकता होती है। ऑक्सीजन की प्राप्ति वातावरण से होती है। ऑक्सीजन के अंतर्ग्रहण का कार्य श्वसनतंत्र करता है। श्वसन क्रिया के द्वारा शरीर की प्रत्येक कोशिका ऑक्सीजन की संपूर्ति (Supply) करती है तथा ऑक्सीजन उत्पादनों (Products of Oxidation) से मुक्ति पाती है।

श्वसन क्रिया में श्वास नाक से आता है और मुँह बंद रखा जाता है। ऐसा करने से हवा में रहे कीटाणु रजकण तथा अन्य प्रदूषण नासिकाओं के भीतर रही हुई श्लेष्मा झिल्ली की स्थिरता के कारण तथा नाक में स्थित बालों के कारण वहीं रोक दिए जाते हैं।

श्वसन क्रिया में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि श्वास लेते समय पेट को फुलाना चाहिए तथा श्वास छोड़ते समय पेट को सिकोड़ना चाहिए। सम्यक् श्वास से ऑक्सीजन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होने से शरीर भी स्वस्थ रहता है। आचार्य महाप्रज्ञजी लिखते हैं– श्वास का केवल शारीरिक मूल्य ही नहीं अपितु आध्यात्मिक मूल्य भी है। चेतना को शरीर में अभिव्यक्त करने का माध्यम श्वास है। यह एक ऐसा सेतु है, जिसके द्वारा नाड़ी संस्थान, मन और प्राणशक्ति तक पहुँचा जा सकता है। श्वासप्रेक्षा के द्वारा चेतना का ऊर्ध्वारोहण, अतीन्द्रिय ज्ञान की प्राप्ति एवं सतत जागरण (अप्रमाद) की अवस्था प्राप्त होती है।

श्वास प्रशिक्षण के साधन हैं– १. प्राणायाम, २. लयबद्ध श्वास, ३. दीर्घश्वास प्रेक्षा, ४. कायोत्सर्ग।

३. प्राण (Vital energy) - जीवन का तीसरा घटक तत्त्व है–प्राण। यह अस्तित्व का मूलाधार है। प्राण को परिभाषित करते हुए कहा गया–**जीवनीशक्तिः प्राणः**। प्राण जीवनी शक्ति है, सम्पूर्ण शरीर को चलाने वाली ऊर्जा है। इसके संयोग से जीव जीवन को प्राप्त होता है तथा वियोग से मृत्यु को प्राप्त होता है। प्राणशक्ति का मूल स्रोत है–तैजस शरीर। तैजस के परमाणु आकाश मंडल में व्याप्त हैं। जब उन परमाणुओं का आकर्षण अधिक मात्रा में होता है तो तैजस शरीर पुष्ट होता है और कम मात्रा में होता है तो तैजस शरीर क्षीण होता है।

प्राण के प्रकार - प्राण सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर के बीच का संबंध सूत्र है। यह स्थूल शरीर को सूक्ष्म शरीर से जोड़ता है। पूरे शरीर में एक ही प्राणशक्ति है, उसे विभाजित नहीं किया जा सकता किन्तु सम्पूर्ण शरीर में परिभ्रमण करती हुई यह प्राणशक्ति अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग कार्य करती है, जिसके आधार पर उसके अनेक प्रकार हो जाते हैं। जैनदर्शन के अनुसार प्राण के दस प्रकार हैं– १. श्रोत्रेन्द्रिय प्राण, २. चक्षुरिन्द्रिय प्राण, ३. घ्राणेन्द्रिय प्राण, ४. रसनेन्द्रिय प्राण, ५. स्पर्शनेन्द्रिय प्राण, ६. मनोबल प्राण, ७. वचनबल प्राण, ८. कायबल प्राण, ९. श्वासोच्छ्वास प्राण, १०. आयुष्य प्राण।

प्राणशक्ति के महत्त्व को बताते हुए आचार्य महाप्रज्ञजी लिखते हैं–प्राणशक्ति के बिना चेतना का उपयोग नहीं हो सकता, चैतन्य केन्द्रों को सक्रिय नहीं किया जा सकता।

प्राण हमारी जीवनीशक्ति का मुख्य स्रोत है। शरीर प्राण से संचालित है। श्वास प्राण से संचालित है। मन और वाणी भी मनोबल और वचनबल प्राण से संचालित हैं। प्राण का संतुलन पूरे जीवन को व्यवस्थित करता है। उसका असंतुलन होने पर शारीरिक स्वास्थ्य गड़बड़ा जाता है, पूरी जीवन प्रणाली अस्त-व्यस्त हो जाती है। 'प्रेक्षाध्यान पद्धति' में प्राण को संतुलित रखने के साधन हैं– १. समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा, २. शरीरप्रेक्षा, ३. तैजसकेन्द्र प्रेक्षा, ४. विशुद्धिकेन्द्र प्रेक्षा।

इनके अतिरिक्त उपवास, संकल्प शक्ति, आसन, प्राणायाम, सूर्य की आतापना आदि भी प्राण-संवर्धन के उपाय हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

४. मन (Mind)

जीवन का चौथा घटक तत्त्व है–मन। मन का एक विशाल साम्राज्य है। योग का प्रसिद्ध सूक्त है–**यत्र पवनस्तत्र मन:** अर्थात् जहाँ पवन है, वहाँ मन है। मन को परिभाषित करते हुए लिखा गया–**इन्द्रियसापेक्षं सर्वार्थग्राहि त्रैकालिक संज्ञानं मन:** अर्थात् मन ज्ञान का एक स्तर है। उसकी व्याख्या तीन विशेषणों से की जाती है–

१. **इन्द्रिय सापेक्ष**–मन इन्द्रियों के द्वारा गृहीत विषयों में प्रवृत्त होता है, अत: इद्रिय सापेक्ष है।

२. **सर्वार्थग्राहि**–मन शब्द, रूप, रस आदि सब विषयों को जानता है, अत: सर्वार्थग्राही है।

३. **त्रैकालिक**–मन भूत, भविष्य और वर्तमान–तीनों कालों को जानता है अत: त्रैकालिक है।

स्मृति, कल्पना और चिन्तन मन के कार्य हैं। मन की क्रिया का संचालन मस्तिष्क के द्वारा होता है। इसलिए यह यांत्रिक क्रिया है। यदि किसी का मस्तिष्क खराब हो जाए तो मन की क्रिया नहीं हो सकती।

मन की अधिक चंचलता, अधिक समस्याएँ उत्पन्न करती है। मन की एकाग्रता अनेक समस्याओं का समाधान है। प्रेक्षाध्यान में मन की एकाग्रता के लिए अनेक प्रयोग कराए जाते हैं। स्मृति, कल्पना और चिंतन–तीनों मन के कार्य हैं। तीनों ही जीवन के लिए आवश्यक हैं। किन्तु व्यक्ति जब अनावश्यक स्मृति, कल्पना और चिंतन करने लग जाता है, तब मानसिक तनाव बढ़ता है। एकाग्रता की साधना होने पर उनका अनावश्यक प्रयोग समाप्त हो जाता है।

मन की दो अवस्थाएँ हैं–चंचलता और एकाग्रता। चंचल मन असफलता के लिए उत्तरदायी है और एकाग्र मन सफलता का महाद्वार है। एकाग्रता के साधन हैं–

१. दीर्घ श्वासप्रेक्षा–लयबद्ध दीर्घश्वास।
२. विधियुक्त श्वास-संयम (कुंभक)।
३. प्राणकेन्द्र प्रेक्षा।
४. दर्शनकेन्द्र प्रेक्षा।
५. अनिमेष प्रेक्षा।
६. विचार प्रेक्षा।
७. अनुप्रेक्षा।

इसके अतिरिक्त मन की शुद्धि के लिए दृढ़ संकल्प, एकाग्र दृष्टि, विकल्पों की उपेक्षा, इष्ट-ध्यान आदि उपाय भी बताए गए हैं।

५. भाव (Emotion)

जीवन का पांचवां घटक तत्त्व है–भाव (संवेग)। शरीर, इन्द्रिय, मन, श्वास–ये सब पौद्गलिक हैं। भाव चेतना से जुड़ा होने के कारण चैतसिक है। मन का संचालक भाव है। मन अपने आप में अच्छा या बुरा नहीं होता। जैसा भाव होता है, वैसा मन हो जाता है। अच्छा भाव अच्छा मन और बुरा भाव बुरा मन। भाव को परिभाषित करते हुए कहा गया–कर्म के उदय, उपशमन, क्षय और क्षयोपशम से होने वाला जीव का स्पन्दन भाव है।

भाव का स्रोत

भावों के बीज हमारे स्थूल शरीर में नहीं हैं। वे हमारे सूक्ष्मतम शरीर (कार्मण शरीर) में है। वहाँ से छनकर वे स्थूल शरीर में आते हैं और शरीर, मन तथा वाणी को प्रभावित करते हैं। भाव निर्माण की प्रक्रिया बताते हुए आचार्य महाप्रज्ञजी लिखते हैं–आत्मा के चारों ओर कषाय तंत्र का वलय है। आत्मा के स्पंदन जब कषाय तंत्र को पार कर बाहर आते हैं तो अध्यवसाय तंत्र का निर्माण होता है। अध्यवसाय तंत्र के स्पंदन जब आगे बढ़कर तैजस शरीर के संपर्क में आते हैं तब उसकी अनेक रश्मियाँ फूटती हैं। उसकी एक धारा जो रंग के परमाणुओं के साथ जुड़कर भावों का निर्माण करती है, वह है हमारा लेश्यातंत्र या भावतंत्र। जितने भी अच्छे-बुरे भाव हैं, वे लेश्यातंत्र द्वारा निर्मित हैं। वे भाव ही निमित्त पाकर अभिव्यक्त हो जाते हैं। इस प्रकार चैतन्य तंत्र, कषाय तंत्र एवं अध्यवसाय तंत्र तक मात्र तरंगें हैं। वहाँ क्रोध की तरंग है, क्रोध का भाव नहीं है। तरंगों का सघन रूप भाव है और भावों का सघन रूप क्रिया है। जिसे हम संवेग कह सकते हैं। मनोविज्ञान में भाव और संवेग को एक ही माना गया है।

लेश्या और भाव

हमारे भावों को उत्पन्न करने का सशक्त तंत्र है–लेश्यातंत्र। छ: प्रकार की लेश्याएँ मानी गयी हैं, जिनमें प्रथम तीन अप्रशस्त और अन्तिम तीन प्रशस्त लेश्याएँ हैं। लेश्या का सिद्धान्त भावों को समझने का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। जब लेश्या अप्रशस्त बनती हैं तो भाव भी अशुभ बन जाते हैं और जब लेश्या प्रशस्त बनती है तो भाव भी शुभ बन जाते हैं। लेश्याएँ रंगीन होती हैं। रंग हमारे भावों को प्रभावित करते

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हैं। जब मन में कृष्ण, नील, कापोत लेश्याओं के स्पंदन जागते हैं तो हमारे भीतर हिंसा, झूठ, चोरी, ईर्ष्या, शोक, घृणा और भय के भाव जागते हैं और जब तेजो लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या के स्पंदन जागते हैं तो भाव निर्मल बनते हैं। अभय, मैत्री, शान्ति, जितेन्द्रियता, क्षमा आदि पवित्र भावों का निर्माण होता है। उत्तराध्ययन सूत्र में किस लेश्या की प्रधानता से कौन-सा भाव उत्पन्न होता है, इसका सुन्दर विश्लेषण किया गया है। आज शरीर के बारे में बहुत सोचा जा रहा है, मन के बारे में कम सोचा जा रहा है किन्तु भाव के विषय में बिल्कुल नहीं सोचा जा रहा है जबकि विचार का मुख्य पहलू होना चाहिए सबसे पहले भाव, फिर मन और फिर शरीर। जीवन को सबसे अधिक प्रभावित करने वाला तत्त्व भाव है। जैसा भाव वैसा मन, जैसा मन वैसा शरीर। अत: भावों को समझना और उसका परिष्कार करना साधना का मूल आधार है। भावात्मक स्वास्थ्य या भाव-विशुद्धि के प्रयोग हैं– १. लेश्याध्यान, २. प्रतिपक्ष भावना का अभ्यास, ३. मैत्री की अनुप्रेक्षा, ४. करुणा की अनुप्रेक्षा, ५. सहिष्णुता की अनुप्रेक्षा।

६. कर्म (Karma)

जीवन का छठा घटक तत्त्व है–कर्म। प्राय: सभी धर्म-दर्शनों में यह माना गया है कि जीवन में जो कुछ घटित होता है, वह आकस्मिक या अहेतुक नहीं होता। हर घटना के पीछे कोई हेतु होता है और वह है–कर्म। सभी यह मानते हैं–आत्मा ने जैसे कर्म किए हैं, उसी के अनुसार फल मिलता है। किये गये कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलता। इस सन्दर्भ में आचार्य महाप्रज्ञजी का मंतव्य है कि 'सब कुछ कर्म से ही घटित होता है' यह स्वीकृति उचित नहीं। कर्म का साम्राज्य तब तक ही चलता है, जब तक आत्मा अपनी शक्ति के प्रति जागरूक नहीं होता। आत्मा का अपना स्वभाव है–चैतन्य, आनन्द और शक्ति। इनका विकास किसी भी कर्म के उदय से नहीं अपितु कर्म के विलय से होता है। कर्म में वह शक्ति नहीं कि वह आत्मा में ज्ञान, शक्ति और आनन्द की पर्यायों को उत्पन्न कर सके। आत्मा में वह शक्ति है कि वह अपने पर्यायों को उत्पन्न कर सकता है। आश्चर्य है शरीर की एक-एक कोशिका और जैविक रसायन की खोज करने वाले शरीरशास्त्री आत्मा की खोज में आगे नहीं बढ़े। आत्मा की खोज का पहला रूप है–कर्म की खोज। कर्म मानवीय पुरुषार्थ की प्रक्रिया है। वर्तमान का पुरुषार्थ पुरुषार्थ कहलाता है और अतीत का पुरुषार्थ कर्म कहलाता है। मनुष्य जीवन को प्रभावित करने वाले तत्त्वों में कर्म एक प्रमुख तत्त्व है। इस अदृश्य शक्ति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। पर इसे सर्वोपरि भी नहीं माना जा सकता। इसमें परिवर्तन किया जा सकता है। कर्म को परिवर्तित करने के सूत्र हैं–

१. निर्विचार अथवा निर्विकल्प ध्यान।
२. अपाय विचय।
३. विपाक विचय।
४. लेश्याध्यान।
५. चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा।
६. जप।

७. चित्त (Psyche)

जीवन का सातवां घटक तत्त्व है–चित्त। साधारणतया चित्त और मन को एकार्थक माना जाता है। मनोविज्ञान में चित्त के अर्थ में मुख्यतया मन का ही प्रयोग किया गया है। चित्त और मन को व्यवहार में एक मानने से कोई कठिनाई नहीं आती किन्तु ध्यान-साधना के क्षणों में यह कठिनाई उभर कर सामने आती है क्योंकि निर्विकल्प ध्यान में मन विलीन हो जाता है, चित्त की वृत्तियाँ विलीन हो जाती हैं किन्तु चित्त विलीन नहीं होता अत: साधना के संदर्भ में चित्त को समझना बहुत आवश्यक है।

योग साहित्य में चेतना अथवा चित्त पर बहुत लिखा गया है। आचार्य जिनभद्र के अनुसार स्थिर अध्यवसाय ध्यान है और अस्थिर अध्यवसाय चित्त है। आचार्य महाप्रज्ञजी के अनुसार हमारा चैतन्य अखण्ड सूर्य है और चित्त उस सूर्य की एक रश्मि है। हमारा चित्त सूक्ष्म शरीर के द्वारा संचालित होता है। भाव और मन–ये दोनों चित्त के उत्पाद हैं। सूक्ष्म शरीर के कुछ स्पन्दन चित्त तक पहुँचते हैं। चित्त हमारे मस्तिष्क के साथ कार्य करने वाली चेतना है। जब ये स्पन्दन आते हैं तो चित्त भावों का निर्माण करता है और उन भावों की क्रिया को संचालित करने के लिए चित्त एक तंत्र का निर्माण करता है और वह तंत्र है–मन। इस प्रकार भाव और मन चित्त के द्वारा निष्पन्न किये हुए तत्त्व हैं। चित्त अपनी चेतनात्मक प्रवृत्ति शरीर, वाणी और मन के माध्यम से करता है। प्रेक्षाध्यान का मुख्य उद्देश्य है–चित्त शुद्धि। इसके लिए कषाय, चंचलता एवं बाह्य निमित्त–तीनों पर ध्यान देना आवश्यक है। प्रेक्षाध्यान साधना के अन्तर्गत निमित्तों से बचाव के लिए संकल्प, व्रत एवं प्रतिसंलीनता की साधना करवायी जाती है। चंचलता को दूर करने के लिए कायोत्सर्ग, श्वासप्रेक्षा आदि के प्रयोग करवाये जाते हैं। कषाय मुक्ति के लिए शरीर प्रेक्षा, चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा, लेश्या ध्यान, अनुप्रेक्षा एवं भावना के प्रयोग निर्दिष्ट हैं। चित्त शुद्धि के मुख्य उपाय निम्न बताये गए हैं–

१. चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा,
२. राग-द्वेष मुक्त क्षण का अनुभव,
३. शुद्ध चैतन्य का अनुभव,
४. निर्विचार प्रेक्षा,
५. ज्ञाता-दृष्टा भाव का प्रयोग,
६. भावक्रिया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जीवन के अनगिनत रहस्यों को समझने और जीवन में परिवर्तन लाने के लिए इन सात पक्षों पर 'प्रेक्षाध्यान' के प्रभाव का वैज्ञानिक उपकरणों एवं मनोवैज्ञानिक परीक्षणों से अध्ययन करना ही 'जीवन विज्ञान' का उद्देश्य और लक्ष्य है। जीवन को समग्रता से समझने के लिए उक्त सात बिन्दुओं पर ध्यान देना और उनके परिष्कार की चेष्टा करना मानवीय मूल्यों के विकास का प्रथम सोपान है।

३. जीवन विज्ञान और मूल्य विकास

मूल्य आधारित शिक्षा को प्रारम्भ से ही शिक्षा जगत् में महत्त्व दिया जाता रहा है, परन्तु वे सामान्यतया अभ्यास में लाए जाने वाले बाहरी मूल्यों पर ही ध्यान देते हैं। अधिकतर आज मूल्य आधारित शिक्षा जबरदस्ती या थोपी हुई प्रतीत होती है। मूल्य आधारित शिक्षा को अधिक प्रभावी बनाने के लिए आवश्यक है कि शिक्षा में उन मौलिक, शाश्वत तथा आध्यात्मिक मूल्यों को सम्मिलित किया जाए जो हृदय की गहराइयों से उत्पन्न होती हों। इससे न केवल जीवन स्तर में बल्कि जीवन की गुणवत्ता में निश्चित रूप से सुधार आएगा तथा जीवन के भौतिक एवं आध्यात्मिक पहलुओं में भी संतुलन होगा।

जीवन विज्ञान शिक्षा का सर्वांगीण दर्शन है। सर्वांगीण दर्शन वह होता है, जिसमें विभिन्न स्तरीय मूल्यों का सामंजस्य होता है। जीवन विज्ञान मूल्यपरक शिक्षा की समन्वयात्मक प्रयोग पद्धति है। इसमें सोलह मूल्य निर्धारित किये गए हैं, जिनका वर्गीकरण आचार्य महाप्रज्ञ ने इस प्रकार किया है–

१. **सामाजिक मूल्य**– १. कर्त्तव्यनिष्ठा, २. स्वावलम्बन।

२. **बौद्धिक मूल्य**– ३. सत्य, ४. समन्वय, ५. सम्प्रदाय निरपेक्षता, ६. मानवीय एकता।

३. **मानसिक मूल्य**– ७. मानसिक संतुलन, ८. धैर्य।

४. **नैतिक मूल्य**– ९. प्रामाणिकता, १०. करुणा, ११. सह-अस्तित्व।

५. **आध्यात्मिक मूल्य**– १२. अनासक्ति, १३. सहिष्णुता, १४. मृदुता, १५. अभय, १६. आत्मानुशासन।

सामाजिक मूल्य

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। व्यक्तिगत जीवन जीते हुए भी उसे समाज में रहना और सामाजिक रीति-नीति का निर्वाह करना पड़ता है अत: उसके लिए सामाजिक मूल्यों को विकसित करना आवश्यक है। शिक्षा के द्वारा ही जीवन में मूल्यों का विकास हो सकता है अत: शिक्षा में सामाजिक मूल्यों का होना अनिवार्य है। आचार्य महाप्रज्ञजी ने कर्त्तव्यनिष्ठा और स्वावलम्बन की भावना को सामाजिक मूल्य के रूप में स्थापित किया है।

१. **कर्त्तव्यनिष्ठा**– कर्त्तव्यनिष्ठा की भावना स्वस्थ समाज एवं राष्ट्र की जन्मदात्री है। एक कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति व्यक्तिगत आकांक्षाओं को मूल्य नहीं देता। वह जाति, रंग, भाषा एवं राष्ट्रीयता की भिन्नता में भी सब मानवों में अभिन्नता देखता है। कर्त्तव्य के प्रति जागरूक व्यक्ति अकरणीय कार्य नहीं करता। कदाचित् उसके चरण अकरणीय कार्य की ओर बढ़ते भी हैं तो कर्त्तव्य की प्रेरणा उन्हें रोक देती है। जिस समाज मे कर्त्तव्यबोध नहीं होता, वह समाज स्वस्थ समाज नहीं होता। जिस समाज मे कर्त्तव्य और दायित्व-बोध की चेतना जाग जाती है, वह स्वस्थ समाज होता है। कर्त्तव्यनिष्ठ जीवन एक प्रशस्त जीवन पद्धति ही नहीं देश की बहुत बड़ी शक्ति है। यह शक्ति देश को चारित्रिक संपदा से समृद्ध कर सकती है।

२. **स्वावलम्बन**– स्वावलम्बन सामाजिक विकास का मूल आधार है। स्वावलम्बन शब्द का तात्पर्य है– स्वयं का आलम्बन लेना। कोई भी व्यक्ति, समाज और राष्ट्र दूसरों के सहारे सम्मानपूर्वक नहीं जी सकता। स्वावलम्बन एक ऐसा मानवीय गुण है, जिससे व्यक्ति के जीवन में अनेकानेक शक्ति के स्रोत उद्घाटित हो सकते हैं। इस यांत्रिक युग ने आज मनुष्य को इतना अधिक सुविधाभोगी और परवश बना दिया है कि वह पूर्णत: उन यंत्रों पर आश्रित है पर वस्तुत: स्वावलम्बन का जीवन में बहुत महत्त्व है। मनुष्य के अतिरिक्त प्राय: सभी प्राणी स्वावलम्बन का जीवन जीते हैं किन्तु मनुष्य समाज का एक बहुत बड़ा भाग श्रमहीन बन गया है। यह एक सचाई है कि शरीर के जिस अवयव को श्रम नहीं मिलता, वह अंग निकम्मा, चेतना-शून्य और रुग्ण हो जाता है अत: इस अकर्मण्यता की बीमारी से बचना चाहिए। अपने पुरुषार्थ पर विश्वास कर अधिक से अधिक स्वावलम्बन का जीवन जीना चाहिए।

बौद्धिक मूल्य

मूल्यबोध की चेतना के जागरण के लिए बौद्धिक विकास अपेक्षित है। जिस व्यक्ति को मूल्यों का ज्ञान नहीं होता, वह उसका आचरण भी नहीं कर सकता। अत: मूल्य-बोध की स्पष्टता और उसकी सीमा का बोध अत्यन्त आवश्यक है। आचार्य महाप्रज्ञजी ने चार बौद्धिक मूल्य निर्धारित किए हैं–सत्य, समन्वय, सम्प्रदाय निरपेक्षता और मानवीय एकता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

३. सत्य–सत्य एक महत्त्वपूर्ण जीवन मूल्य है। यह जीवन की आधारशिला और मानवीय विश्वास का आधार है। भगवान महावीर ने सत्य को भगवान की संज्ञा दी है। सत्य का अर्थ है–किसी भी परिस्थिति में झूठ का प्रयोग नहीं करना। सत्य का संबंध केवल वाणी से नहीं अपितु अपना अभिप्राय जताने की हर चेष्टा से है। जो सदा सत्य बोलता है, उसकी वाक्शुद्धि हो जाती है। उसके मुख से निकली हर बात सच होती है। जो व्यक्ति सत्य बोलता है, उसका तेज प्रतिदिन बढ़ता है। व्यक्ति को चाहिए वह किसी भी परिस्थिति में या प्रलोभनवश असत्य का आचरण नहीं करे। सत्य पर सदा अडिग रहे।

४. समन्वय–बौद्धिक विकास के लिए समन्वय की भावना का अभ्यास आवश्यक है। जहां अनेक व्यक्ति होते हैं, वहाँ परस्पर अपने-अपने विचारों की स्वतंत्रता एवं अधिकारों के लिए संघर्ष भी होता है। संघर्ष से बुद्धि का ह्रास होता है। अत: संघर्ष निवारण के लिए समन्वय की बहुत आवश्यकता है।

भगवान महावीर ने कहा प्रत्येक पदार्थ में अनन्त विरोधी धर्म होते हैं और वे पदार्थ में एक साथ रहते हैं। यह समन्वय का सिद्धान्त है। जहाँ समन्वय की चेतना का विकास होता है, वहाँ विरोध भी विरोध प्रतीत नहीं होता अत: आज अपेक्षा है कि अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय हो, विचार और व्यवहार में समन्वय हो तथा चेतन और अचेतन में भी समन्वय हो।

५. सम्प्रदाय निरपेक्षता–धर्म और सम्प्रदाय–ये दो चीजें हैं, दोनों का अपना-अपना मूल्य है। धर्म है–आध्यात्मिक चेतना का जागरण अर्थात् भीतरी चेतना का जागरण। सम्प्रदाय से तात्पर्य है–चेतना के जागरण में सहयोग देने वाला संस्थान। आज धर्म और सम्प्रदाय को एक माना जा रहा है जो कि ठीक नहीं है। कुछ लोग कहते हैं तुम मेरे सम्प्रदाय में आ जाओ तो तुम्हारी मुक्ति हो जाएगी अन्यथा नहीं। उनका यह कथन उचित नहीं। धर्म की आराधना सम्प्रदायातीत और सत्याभिमुख होकर ही की जा सकती है। सम्प्रदाय एक साधन है, वह स्वयं धर्म नहीं। धर्म की आराधना सम्प्रदायनिरपेक्ष होकर ही की जा सकती है।

६. मानवीय एकता–भगवान महावीर ने कहा–**एक्का मणुस्स जाइ** अर्थात् मनुष्य जाति एक है। शूद्र और ब्राह्मण में रंग और आकृति की दृष्टि से कोई भेद नहीं दिखाई देता। दोनों की गर्भाधान विधि और जन्म पद्धति भी एक ही तरह की है। गाय और भैंस में जैसे जातिकृत भेद है, वैसे शूद्र और ब्राह्मण में नहीं है। जाति, रंग, भाषा, सम्प्रदाय आदि के आधार पर मानव-मानव को बांटना उचित नहीं। मनुष्य जाति एक है। अत: हमें संकल्प करना चाहिए–मैं जाति के आधार पर किसी को अस्पृश्य नहीं मानूँगा और जाति के आधार पर किसी का ऊंच-नीच नहीं मानूंगा, घृणा नहीं फैलाऊंगा।

मानसिक मूल्य

मनसिक मूल्यों के अभाव में भी व्यक्ति स्वस्थ जीवन नहीं जी सकता। मानसिक संतुलन और धैर्य–ये दो मानसिक मूल्य हैं।

७. मानसिक संतुलन–मानसिक असंतुलन के अनेक कारण हैं। उनमें मुख्य है–तनाव, निराशा, कुण्ठा, अस्वस्थता आदि। इनके कारण मानसिक संतुलन अस्त-व्यस्त हो जाता है। संतुलन के अभाव में समस्याएँ पैदा होती हैं। पारिवारिक कलह, सामाजिक संघर्ष आदि असंतुलन की ही देन हैं। साधना का अर्थ है–संतुलन। प्रतिकूल परिस्थिति को सहन न कर पाना और अनुकूल परिस्थिति में फूलकर कुप्पा हो जाना, दोनों ही असंतुलन के परिणाम हैं। लाभ-अलाभ, सुख-दु:ख, जीवन-मरण, निंदा-प्रशंसा, मान-अपमान आदि सभी परिस्थितियों में संतुलित रहने के लिए मन को प्रशिक्षित करना आवश्यक है। भावक्रिया का अभ्यास तथा दीर्घश्वास प्रेक्षा मन को संतुलित रखने के महत्त्वपूर्ण उपाय हैं।

८. धैर्य–धैर्य एक बहुत बड़ी मानसिक शक्ति है। धैर्य का विकास उसी में होता है जो सुविधा को महत्त्व न देकर कष्ट सहिष्णुता को महत्त्व देता है। जिस प्रकार जो पौधे प्रारम्भ में तूफानों के प्रहारों को सह लेते हैं, वे मजबूत हो जाते हैं। जो पौधे बांध दिये जाते हैं वे उस तूफान से तो बच जाते हैं, पर जीवन भर कमजोर रह जाते हैं। भगवान महावीर को संगम नामक देव ने एक रात में बीस मारणान्तिक कष्ट दिए पर महावीर उन कष्टों में विचलित नहीं हुए। समभावपूर्वक धैर्य से सहन किया। अन्त में संगम उनके चरणों में झुक गया और माफी मांगी। धैर्य का फल सदैव मीठा होता है। धैर्यवान व्यक्ति ही जीवन में सफल होता है।

नैतिक मूल्य

प्राचीन शिक्षा-प्रणाली में नैतिकता का बहुत मूल्य था और उसकी चर्चा भी उपलब्ध होती है। आज नैतिक शिक्षा के स्थान पर 'मूल्यपरक शिक्षा' यह शब्द प्रस्थापित हो गया है। नैतिक मूल्यों के वर्गीकरण के अन्तर्गत तीन मूल्यों का समावेश किया गया है–प्रामाणिकता, करुणा और सह-अस्तित्व।

९. प्रामाणिकता–प्रामाणिकता जीवन का आधार है। इससे व्यक्तित्व निखरता है। नैतिकता का एक अर्थ है–प्रामाणिकता। प्रामाणिकता तीन प्रकार की होती है–वचन की प्रामाणिकता, अर्थ की प्रामाणिकता और व्यवहार की प्रामाणिकता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

वचन की प्रामाणिकता से तात्पर्य जो बात मुँह से कह दी वह लोह की लकीर बन गई। प्राण जाए पर वचन को नहीं तोड़ना। अर्थ की प्रामाणिकता से तात्पर्य अपने व्यक्तिगत कार्य के लिए किसी संस्थान के पैसे का उपयोग नहीं करना। आचार्य नरेन्द्रदेव वाइस चांसलर थे। एक दिन वे तांगे से जा रहे थे। लोगों ने पूछा – आपके पास कार है, फिर तांगे से क्यों जा रहे हैं। उन्होंने कहा – कार विश्व विद्यालय की है। अभी मैं अपने व्यक्तिगत कार्य से जा रहा हूँ। यह है आर्थिक प्रामाणिकता।

व्यवहार की प्रामाणिकता से तात्पर्य ऐसा व्यवहार करना, जिससे सबमें विश्वास पैदा हो। जब व्यवहार में अप्रामाणिकता आ जाती है तब समाज स्वस्थ नहीं रहता। नैतिकता का मूल आधार प्रामाणिकता है।

१०. करुणा – नैतिकता का दूसरा मूल आधार करुणा है। करुणा का संबंध संवेदनशीलता से है। मनुष्य जितना ज्यादा संवेदनशील होगा, उतनी ही उसमें करुणा विकसित होगी। जितना असंवेदनशील होगा, उतनी ही क्रूरता विकसित होगी। क्रूरता का सबसे बड़ा कारण है – लोभ। जब तक लोभ की भावना प्रबल रहेगी, क्रूरता को मिटाया नहीं जा सकेगा। अत: आवश्यक है आवेग-आवेश को कम किया जाए। करुणा केवल मनुष्य के प्रति नहीं अपितु प्राणी मात्र के प्रति होनी चाहिए। यह भीतर से फूटने वाला एक अमृत का झरना है। जब करुणा का प्रारम्भ हृदय से होता है, तभी व्यक्ति दीन-दु:खियों की सेवा कर सकता है।

११. सह-अस्तित्व – इस जगत् में जितने भी जड़-चेतन पदार्थ हैं, वे एक-दूसरे का सहयोग लेते भी हैं और सहयोग देते भी हैं। इसका कारण है कि वे परस्पर विरोधी होते हुए भी उनका सह-अस्तित्व है। सामान्यत: यह माना जाता है कि दो विरोधी धर्म एक साथ नहीं रह सकते। भगवान महावीर ने एक सिद्धान्त दिया कि दो विरोधी धर्म एक साथ रह सकते हैं। वस्तुत: जिन्हें हम विरोधी मानते हैं, वे सर्वथा विरोधी नहीं हैं। एक-दूसरे के पूरक हैं। दोनों साथ रहते हैं और एक-दूसरे का सहयोग करते हैं।

परिवार, समाज, राष्ट्र में भी शांत सहवास हो सके इसके लिए सह-अस्तित्व की चेतना का जागरण अत्यन्त अपेक्षित है। जहाँ इस चेतना का जागरण हो जाता है, वहाँ अनेक समस्याएँ स्वत: समाहित हो जाती हैं।

आध्यात्मिक मूल्य

अन्तर्जगत की पहचान कराने के लिए जिस विद्या का विकास हुआ, उस विद्या का नाम है – अध्यात्म विद्या। आत्मा को केन्द्र में रखकर जो भी क्रिया की जाती है, वे सभी आध्यात्मिक क्रियाएँ हैं। आत्मा को कर्म से मुक्त कर आत्म-स्वरूप में स्थिर करना ही अध्यात्म साधना का उद्देश्य है। आचार्य महाप्रज्ञजी ने आध्यात्मिक विकास के लिए पांच आध्यात्मिक मूल्य निर्धारित किए हैं – अनासक्ति, सहिष्णुता, मृदुता, अभय और आत्मानुशासन।

१२. अनासक्ति – आसक्ति दु:ख का मूल कारण है। अत: जैन दर्शन का मुख्य ध्येय अनासक्ति की चेतना का विकास रहा है। भगवान महावीर ने कहा – इन्द्रिय विषयों के प्रति आसक्ति एवं उनका भोग क्षणमात्र सुख देते हैं किन्तु उनका परिणाम दु:खद ही होता है, दीर्घकाल तक भोगना पड़ता है। अत: पदार्थों का उपयोग आवश्यकतावश करना चाहिए, आसक्ति के साथ नहीं।

गीता का नवनीत है – अनासक्त योग। अनासक्त चेतना वाला पुरुष क्रिया करते हुए भी कर्म के बंधन में नहीं बंधता जबकि आसक्त चेतना वाला पुरुष हर क्रिया के साथ गाढ़ कर्म को बांधता है। अनासक्ति की चेतना जाग जाने पर व्यक्ति वस्तु का उपयोग इस होश के साथ करता है कि मुझे आवश्यकतावश इस वस्तु का उपयोग करना पड़ रहा है। किन्तु जब वस्तु में आसक्ति होती है तो वह पदार्थ के प्रति मूर्च्छित हो उसका उपभोग करता है। जिस प्रकार काठ को छेदने की क्षमता रखने वाला भंवरा कमल में आसक्त होने के कारण उसकी कोमल पंखुडियों को छेदकर बाहर नहीं निकल पाता, उसमें बंद हो जाता है और हाथी के द्वारा उदरस्थ कर लिया जाता है। उसी प्रकार भोगों में आसक्त व्यक्ति उसमें लिप्त हो संसार जाल में फंसा रहता है। दु:ख मुक्ति के लिए आवश्यक है – अनासक्त चेतना का विकास करना।

१३. सहिष्णुता – सहिष्णुता हमारी चेतना की एक बहुत बड़ी शक्ति है। अध्यात्म-साधक को कष्ट सहिष्णु होना चाहिए। सहिष्णुता के अभाव में अध्यात्म का विकास संभव नहीं हो सकता। आज व्यक्ति-व्यक्ति के बीच जातियों और वर्गों के बीच, राष्ट्र-राष्ट्र के बीच जो झगड़े हो रहे हैं, उसका मूल कारण है – असहिष्णुता। यदि व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एक-दूसरे को सहन करना सीख जाएँ तो झगड़े समाप्त हो सकते हैं। भगवान महावीर की साधना का मुख्य आधार था – कष्ट-सहिष्णुता। सहिष्णुता का अर्थ है – सर्दी को सहन करना, गर्मी को सहन करना, भूख-प्यास को सहन करना, हर अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति को सहन करना। भगवान महावीर ने सहन किया, इसलिए वे अध्यात्म के शिखर पर पहुँच गए। आज सहिष्णुता का अभाव दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है, जिसके कारण तलाक बढ़ते जा रहे हैं, संयुक्त परिवार टूटते जा रहे हैं।

सहिष्णुता का विकास शक्ति का विकास है। इस शक्ति के सहारे दूसरों की कमियों को भी सहा जा सकता है और दूसरे की विशेषताओं को भी सहा जा सकता है। हर परिस्थिति में संतुलन स्थापित रखा जा सकता है। सहनशील व्यक्ति ही क्षमा के महान् आदर्श

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

तक पहुँच सकता है। आध्यात्मिक विकास के लिए सहिष्णुता जहाँ अनिवार्य है, वहीं व्यावहारिक जीवन में भी कष्टों को सहे बिना आगे नहीं बढ़ा जा सकता। शिक्षा, समाज-सेवा, व्यवसाय, खेल या राजनीति कोई भी क्षेत्र हो, इनमें महान वही बनता है, जो सहिष्णु होता है।

१४. मृदुता - कोमलता का नाम मृदुता है। ज्ञान, पूजा, जाति, कुल, बल, रूप, ऋद्धि से सम्पन्न होने पर भी इनका अहंकार न करना मृदुता है। अतः अहंकार का नाश एवं मृदुता का विकास करना चाहिए। मृदु व्यक्ति हर परिस्थिति को अपने अनुकूल बना लेता है। बहुत बार कठोर अनुशासन से जो कार्य नहीं होता वह मृदु व्यवहार से हो सकता है। हर प्राणी प्रेमपूर्ण मृदु व्यवहार चाहता है। वैज्ञानिकों ने वनस्पति जगत पर प्रयोग कर यह सिद्ध कर दिया कि जिन पौधों को प्रेमपूर्ण भावना से पानी सींचा गया, वे पौधे विकसित हो गए और जिनकी उपेक्षा की गई, वे मुरझा गए।

मृदुता का अर्थ है—विनम्र व्यवहार, अहंकारमुक्त व्यवहार। इस व्यवहार से प्राणी मात्र के रसायन परिवर्तित हो जाते हैं। वृक्ष अधिक फल देने लग जाते हैं, गायें अधिक दूध देने लग जाती हैं, हिंसक पशु भी शांत हो जाते हैं। मृदुता के विकास से प्राणीमात्र के प्रति मैत्री-भाव विकसित हो जाता है।

१५. अभय - मनोविज्ञान में भय को एक मौलिक मनोवृत्ति माना गया है। भय का मूल कारण अज्ञान है। अनिष्ट की आशंका, इष्ट का वियोग, अनिष्ट का संयोग आदि अनेक मानसिक विप्लव भय के कारण बनते हैं।

आचार्य महाप्रज्ञजी का मानना है कि भय से भय बढ़ता है और अभय से अभय बढ़ता है। अभय रहकर ही व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक शक्तियों का विकास कर सकता है। भगवान महावीर ने प्रमाद को भय और अप्रमाद को अभय कहा है। प्रमत्त व्यक्ति को चारों ओर से भय सताता रहता है, अप्रमत्त व्यक्ति को किसी का भय नहीं सताता। वह मृत्यु से भी भयभीत नहीं होता। अध्यात्म का प्रथम और अंतिम बिन्दु भी अभय की साधना ही है। भयभीत व्यक्ति आध्यात्मिक नहीं हो सकता।

१६. आत्मानुशासन - आत्मानुशासन अर्थात् स्वयं पर स्वयं का अनुशासन। अनुशासन दो प्रकार का होता है—आत्मानुशासन और परानुशासन। आध्यात्मिक व्यक्ति आत्मानुशासित होता है, वह दूसरे के अनुशासन की अपेक्षा नहीं रखता।

जनतंत्र का मूल आधार है—स्वतंत्रता। उसका मूल आधार है—व्यक्ति का आत्मानुशासन। जब तक व्यक्ति अपने आप पर नियंत्रण नहीं रख सकता तब तक वह स्वतंत्रता की लौ प्रज्वलित नहीं कर सकता। संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं, वे आत्मानुशासन के विकास से ही हुए हैं। भगवान महावीर ने भी यही कहा—शत्रुओं को वश में करना, उन्हें पराजित करने वाला विजयी नहीं होता अपितु जो आत्मानुशासित होता है, आत्म-शत्रुओं—क्रोध, मान, माया और लोभ को जीतता है, वह परम विजयी होता है। अतः आध्यात्मिक विकास की अनिवार्य शर्त है—आत्मानुशासन की चेतना का जागरण।

इन पांचों वर्गों के सोलह मूल्यों का विकास करना जीवन विज्ञान का ध्येय है। किसी एक वर्ग के मूल्यों से स्वस्थ समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। कभी-कभी मनुष्य एकांगी दृष्टि से कह देता है कि अर्थ (धन) की पूर्ति से समाज सुव्यवस्थित चल सकता है। पर यह कहना ठीक नहीं है। जहाँ आर्थिक मूल्यों को अतिरिक्त मूल्य दिया जाता है, वहाँ असंतोष और पागलपन बढ़ता है। जहाँ आध्यात्मिक मूल्यों को अतिरिक्त स्थान दिया जाता है, वहाँ गरीबी बढ़ सकती है, परतंत्रता भी आ सकती है। अध्यात्म में लीन रहने मात्र से स्वयं का और परिवार का पोषण नहीं हो सकता। इसलिए यह आवश्यक है कि आदमी का दृष्टिकोण यथार्थवादी बने। जिसका, जिस स्तर पर जितना मूल्य हो उसको उतना मूल्य दिया जाए। शरीर के स्तर पर मूल्य भोजन का है और अध्यात्म के स्तर पर मूल्य भक्ति-भजन का है। अतः कब किसका महत्त्व अधिक है, इसे अपेक्षाभेद से समझना चाहिए। जैसे—शारीरिक स्तर पर भोजन का मूल्य अधिक है और आध्यात्मिक स्तर पर भक्ति का मूल्य अधिक है। अतः सर्वांगीण विकास के लिए सभी मूल्यों का विकास अपेक्षित है।

मूल्य विकास की प्रक्रिया अनुप्रेक्षा

मूल्यों के विकास के लिए अनुप्रेक्षा के प्रयोगों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। प्रेक्षा के बाद मन की मूर्च्छा को तोड़ने वाले विषयों का अनुचिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। जिस विषय का अनुचिन्तन बार-बार किया जाता है, उससे मन प्रभावित होता है। अनुप्रेक्षा का प्रयोग सुझाव पद्धति का प्रयोग है। सुझाव दो प्रकार से दिया जा सकता है—स्वयं व्यक्ति स्वयं को सुझाव देता है या अन्य व्यक्ति के सुझाव को सुनता है। यह ब्रेन वाशिंग का प्रयोग है। एक ही बात की बार-बार पुनरावृत्ति करने से एक क्षण ऐसा आता है कि पुराने विचार छूट जाते हैं और नए विचार चित्त में जम जाते हैं। हमारे शारीरिक अवयव भी उसी प्रकार की क्रिया करने लग जाते हैं। आचार्य महाप्रज्ञजी ने उपर्युक्त सोलह मूल्यों के विकास के लिए सोलह अनुप्रेक्षाओं के प्रयोग बतलाए हैं। जीवन विज्ञान में सिद्धान्त एवं प्रयोग दोनों अपेक्षित हैं। प्रयोग शून्य सिद्धान्त जहाँ जीवन को स्व की अनुभूति से दूर रखता है, वहाँ सिद्धान्त शून्य प्रयोग मंजिल को भटकाव देता है। जीवन विज्ञान में इन मूल्यों के सिद्धान्त एवं प्रयोग दोनों का समन्वय किया गया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अनुप्रेक्षा की प्रक्रिया के चार चरण

आचार्य महाप्रज्ञजी लिखते हैं – प्रेक्षाध्यान में जो अनुप्रेक्षा के प्रयोग किए जाते हैं, उनमें चार तत्त्व प्रमुख हैं –

१. पहला तत्त्व है – उद्देश्य का निर्णय, निर्धारण। अर्थात् क्या प्राप्त करना चाहते हैं।

२. दूसरा तत्त्व है – एकाग्रता का विकास। जो उद्देश्य बनाया है, उस पर पूर्ण एकाग्र बनना।

३. तीसरा तत्त्व है – मन और मस्तिष्क पर आदेश का गहराई से प्रयोग करना। उदाहरणत: अभय का विकास करना है तो हाइपोथेलेमस, जो भावधारा का मुख्य केन्द्र है, को सुझाव दें – तुम ऐसे स्रावों का प्रयोग करो, जिससे अभय की वृत्ति विकसित हो जाए।

४. चौथा तत्त्व है – अनुभूति। मस्तिष्क को आदेश देने के बाद अनुभूति को उसके साथ जोड़ना, भावना के साथ जोड़ना। इन चार चरणों में अनुप्रेक्षा का प्रयोग करने से परिवर्तन निश्चित घटित होगा।

अनुप्रेक्षा की प्रक्रिया

अनुप्रेक्षा के प्रयोग में शरीर की शिथिलता और स्थिरता अनिवार्य होती है। इसके साथ ही श्वास का सम्यग् नियोजन तथा आस-पास के वातावरण की शुद्धि भी आवश्यक है। इसीलिए अनुप्रेक्षा से पूर्व महाप्राणध्वनि, लयबद्ध दीर्घश्वास एवं कायोत्सर्ग के प्रयोग किए जाते हैं। इनकी विस्तृत प्रक्रिया अमूर्त्त चिन्तन पुस्तक में उपलब्ध है। यहाँ इनकी संक्षिप्त प्रक्रिया ही प्रस्तुत की जा रही है। प्रथम आठ अनुप्रेक्षाओं के प्रयोग की विधि इस प्रकार है –

१. महाप्राण ध्वनि – २ मिनिट

२. लयबद्ध दीर्घश्वास प्रेक्षा (या सूक्ष्म भस्त्रिका) – ५ मिनिट

३. कायोत्सर्ग – ५ मिनिट

इसके पश्चात् भिन्न-भिन्न प्रयोगों में निर्दिष्ट चैतन्य केन्द्रों पर निर्दिष्ट शब्दावली को १२ मिनिट तक दोहराया जाता है, जिनमें ४ मिनिट बाह्य उच्चारण पूर्वक, ४ मिनिट मंद उच्चारण पूर्वक तथा ४ मिनिट मानसिक अनुचिंतन के रूप में शब्दावली की अनुप्रेक्षा चलती है।

अनुप्रेक्षा	चैतन्य केन्द्र	शब्दावली
१. कर्त्तव्यनिष्ठा	शान्ति केन्द्र	'मैं अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक रहूँगा।' कर्त्तव्य में बाधक क्रोध, लोभ, भय आदि को अनुशासित रखने का अभ्यास करूँगा।
२. स्वावलम्बन	शान्ति केन्द्र	'मैं स्वावलम्बी रहूँगा' अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए स्वयं की शक्ति का उपयोग करूँगा।
३. सत्य	शान्ति केन्द्र	'मैं सत्य के प्रति आस्थावान रहूँगा।' असत्य नही बोलूंगा, पूर्वाग्रह से बचूंगा।
४. समन्वय	दर्शन केन्द्र	'मैं विरोधी बातों और घटनाओं में संबंध खोजने का प्रयत्न करूँगा। मैं सर्वांगीण दृष्टि का विकास करूँगा।'
५. सम्प्रदाय	आनन्द केन्द्र	'मैं साम्प्रदायिक कट्टरता से बचूंगा।' मैं विभिन्न मान्यताओं और सम्प्रदायों के प्रति सद्भावना का विकास करूँगा।
६. मानवीय एकता	विशुद्धि केन्द्र	'मैं मानवीय एकता में विश्वास करूँगा।' जाति, रंग आदि के आधार पर किसी को ऊँच-नीच नहीं मानूँगा।

आगे की अनुप्रेक्षाओं के प्रयोग की विधि इस प्रकार है –

१. महाप्राण ध्वनि – २ मिनिट

२. कायोत्सर्ग – ५ मिनिट

३. अनुभव करें चारों ओर निर्दिष्ट रंग के परमाणु फैले हुए हैं। प्रत्येक श्वास के साथ निर्दिष्ट रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे हैं, ऐसा अनुभव करें।

४. निर्दिष्ट चैतन्य केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित कर निर्दिष्ट शब्दावली का नौ बार बोलकर उच्चारण और नौ बार मानसिक उच्चारण करें।

५. निर्दिष्ट शब्दावली के साथ तदनुरूप अनुचिंतन करें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अनुप्रेक्षा	श्वास का रंग	केन्द्र	शब्दावली
७. मानसिक संतुलन	हरा	दर्शनकेन्द्र	आवेश अनुशासित हो रहा है। मानसिक संतुलन बढ़ रहा है।
८. धैर्य	पीला	प्राणकेन्द्र	मैं परिस्थितियों को झेलने की क्षमता का विकास करूँगा। मैं हर परिस्थिति में अपराजित रहूँगा।
९. प्रामाणिकता	सफेद	ज्योतिकेन्द्र	मेरी संकल्प शक्ति का विकास हो रहा है।
१०. करुणा	गुलाबी	आनन्दकेन्द्र	सम्यग् दृष्टिकोण का विकास हो रहा है। करुणा का भाव पुष्ट हो रहा है।
११. सहअस्तित्व	सफेद	आनन्दकेन्द्र	'मैं शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का अभ्यास करूँगा।' विध्वंसात्मक और आक्रामक प्रवृत्ति का समर्थन नहीं करूँगा।
१२. अनासक्ति	नीला	शांतिकेन्द्र	अनासक्ति का विकास हो रहा है। पदार्थ के प्रति मूर्च्छा का भाव क्षीण हो रहा है।
१३. सहिष्णुता	नीला	ज्योतिकेन्द्र	सहिष्णुता का भाव पुष्ट हो रहा है। मानसिक संतुलन बढ़ रहा है।
१४. मृदुता	हरा	शांतिकेन्द्र	मृदुता का भाव पुष्ट हो रहा है। अहं का भाव क्षीण हो रहा है।
१५. अभय	गुलाबी	आनन्दकेन्द्र	अभय का भाव पुष्ट हो रहा है। भय का भाव क्षीण हो रहा है।
१६. आत्मानुशासन	पीला	शांतिकेन्द्र	नियन्त्रण की क्षमता बढ़ रही है। मन की चंचलता कम हो रही है।

इस प्रकार जीवन विज्ञान में इन सोलह मूल्यों के विकास के लिए अनुप्रेक्षा के प्रयोग करवाये जाते हैं। तीन-चार महीने तक विधिवत् लगातार श्रद्धा के साथ निर्धारित अनुप्रेक्षा का प्रयोग करने से व्यक्ति के भीतर वह मूल्य विकसित होता है।

४. अहिंसा और अहिंसा-प्रशिक्षण

मानव जीवन के दो आधार स्तम्भ हैं–आचार और विचार। आचार जीवन का व्यावहारिक पक्ष है और विचार सैद्धान्तिक। आदमी जैसा सोचता है, वैसा करता है और जैसा करता है, वैसा सोचता भी है। आचार और विचार–दोनों एक-दूसरे पर आधारित हैं। जैन दर्शन की आचार-मीमांसा अहिंसा पर आधारित है। **अहिंसा परमो धर्म:** उनका मुख्य घोष है। अहिंसक आचार-विचार में ही मानव का विकास निहित है। सत्य, अचौर्य आदि व्रत अहिंसा के ही पोषक हैं। जैन धर्म में अहिंसा को सर्वभूतक्षेमंकरी और मातृ-स्थानीय माना गया है। जैन आचार-विधि का सम्पूर्ण क्षेत्र अहिंसा से व्याप्त है। सभी नैतिक नियम और मर्यादाएँ इसके अन्तर्गत हैं। अत: अच्छे आचार का पालन करने के लिए अहिंसा के स्वरूप को समझना आवश्यक है और अहिंसा को समझने के लिए सबसे पहले हिंसा के स्वरूप को समझना आवश्यक है।

हिंसा की परिभाषा

तत्त्वार्थ सूत्र में आचार्य उमास्वाति ने हिंसा को परिभाषित करते हुए लिखा है–**'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा'** अर्थात् प्रमादवश जो प्राणघात होता है, वह हिंसा है। जैन दर्शन में दस प्राण माने गए हैं, यथा–श्रोत्रेन्द्रिय प्राण, चक्षुरिन्द्रिय प्राण, घ्राणेन्द्रिय प्राण, रसनेन्द्रिय प्राण, स्पर्शनेन्द्रिय प्राण, मनोबल प्राण, वचनबल प्राण, कायबल प्राण, श्वासोच्छ्वास प्राण, आयुष्य प्राण। श्रोत्रेन्द्रिय आदि इन्द्रियों का जो बाहरी रूप है, उसे द्रव्यप्राण कहते हैं और उनके भीतर सुनने, देखने आदि की जो क्षमता है, उसे भावप्राण कहते हैं। इन दस प्राणों में से किसी भी प्राण का घात करना हिंसा है। हिंसा की उपर्युक्त परिभाषा से यह भी स्पष्ट होता है कि हिंसा में सर्वप्रथम मन का व्यापार होता है, फिर वचन का और फिर काय का। प्रमादवश व्यक्ति के मन में प्रतिशोध की भावना जागती है, जो हिंसा करने के उद्देश्य को जन्म देती है, फिर वह कष्टदायक वचन का प्रयोग करता है और यदि इससे भी आगे बढ़ता है तो जिसके प्रति उसके मन में प्रमाद जागृत हुआ था, उस जीव का प्राणघात करता है।

हिंसा का स्वरूप

हिंसा की परिभाषा से स्पष्ट है कि हिंसा के दो रूप होते हैं–भावहिंसा और द्रव्यहिंसा। मन में किसी के प्रति राग-द्वेष का भाव आना या किसी प्राणी को मारने का संकल्प करना भावहिंसा है। जहाँ किसी को मारने का मन में संकल्प नहीं किया जाता किन्तु अनायास किसी के प्राणों का घात हो जाता है, वहाँ द्रव्यहिंसा है। इस प्रकार मन में हिंसा के भाव आना भावहिंसा है तथा भावहिंसा के परिणामस्वरूप जो भी घटनाएँ

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

घटती हैं, वे द्रव्यहिंसा की कोटि में आती हैं।

जैन दर्शन में भावहिंसा और द्रव्यहिंसा को लेकर हिंसा के चार विकल्प किये गए हैं–

१. भावहिंसा और द्रव्यहिंसा। २. भावहिंसा पर द्रव्यहिंसा नहीं।

३. भावहिंसा नहीं पर द्रव्यहिंसा। ४. न भावहिंसा और न द्रव्यहिंसा।

इन चारों विकल्पों को उदाहरण से समझ सकते हैं। पहले विकल्प का उदाहरण–जैसे कोई व्यक्ति सर्प को मारने के उद्देश्य से डंडा लेता है और सर्प को मार डालता है। यहाँ सर्प को मारने का उद्देश्य भावहिंसा है और सर्प को मार डालना द्रव्यहिंसा है।

यदि किसी व्यक्ति ने सर्प को मारने के उद्देश्य से डंडा उठाया पर सर्प भाग गया, सर्प का प्राणघात वह नहीं कर पाया। यहाँ भावहिंसा है पर द्रव्यहिंसा नहीं।

यदि कोई व्यक्ति कटे हुए धान के पौधों को पीट रहा है और संयोगवश उसके पीटने से पौधों के नीचे बैठा हुआ सर्प अनजाने में चोट खाकर मर जाए तो वहाँ पर भावहिंसा नहीं पर द्रव्यहिंसा है। क्योंकि धान पीटने वाले व्यक्ति के मन में सर्प को मारने की कोई भावना नहीं थी। यदि कोई व्यक्ति सर्प को देखकर यह सोचता है कि यह भी एक प्राणी है अत: स्वच्छन्द विचरण कर रहा है। उसे न तो मारने की सोचता है और न मारता है तो यहाँ न भावहिंसा है और न द्रव्यहिंसा है।

सामान्यतया द्रव्यहिंसा को ही हिंसा माना जाता है। मन में भले ही बुरे विचार हैं, मारने का संकल्प है पर जब तक वह किसी को शारीरिक हानि नहीं पहुंचाता, तब तक वह हिंसा करने का दोषी नहीं समझा जाता। किन्तु जैन दर्शन में हिंसा का बहुत सूक्ष्म विश्लेषण किया गया और कहा गया–भावहिंसा ही वास्तविक हिंसा है, कर्म-बंधन का कारण है। भावहिंसा के बिना यदि मात्र द्रव्य हिंसा होती है तो वह कर्म-बंधन का कारण नहीं बनती है।

हिंसा के भेद

जैन विचारकों ने हिंसा के चार भेद बताये हैं–

१. आरम्भजा–जीवन निर्वाह के निमित्त भोजन आदि तैयार करने में जो हिंसा होती है, उसे आरम्भजा हिंसा कहते हैं।

२. उद्योगजा–खेती-बाड़ी, आजीविका के उपार्जन अथवा उद्योग एवं व्यवसाय के निमित्त जो हिंसा होती है, उसे उद्योगजा हिंसा कहते हैं।

३. विरोधजा–समाज, राष्ट्र आदि पर हुए शत्रुओं या अत्याचारियों के आक्रमण का विरोध करने में जो हिंसा होती है, उसे विरोधजा हिंसा कहते हैं।

४. संकल्पजा–संकल्पपूर्वक या पहले से सोच-विचार कर मारने का उद्देश्य बनाकर किसी के प्राण का हनन करना संकल्पजा हिंसा है।

प्रथम तीन प्रकार की हिंसा को गृहस्थ पूर्णत: नहीं छोड़ सकता, आंशिक रूप से छोड़ता है किन्तु संकल्पजा हिंसा उसके लिए सर्वथा वर्जनीय है।

अहिंसा की परिभाषा

अहिंसा शब्द का सीधा-सा अर्थ है–हिंसा न करना। संसार के सभी जीव स्थावरकाय और त्रसकाय के भेद से दो भागों में विभक्त हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति–ये स्थावर जीव हैं तथा जिनमें चलने-फिरने का सामर्थ्य होता है, वे त्रस-जीव हैं। त्रस या स्थावर किसी भी जीव की हिंसा न करना ही अहिंसा है।

अहिंसा को परिभाषित करते हुए लिखा गया–**'प्राणानामनतिपात: सर्वभूतेषु संयम: अप्रमादो वा अहिंसा'**। अहिंसा की इस परिभाषा से तीन बातें फलित होती हैं–

१. प्राणों का हनन न करना–जैन दर्शन में श्रोत्रेन्द्रिय आदि दस प्राण माने गए हैं। उनमें से किसी भी प्राण का हनन न करना अहिंसा है।

२. प्राणीमात्र के प्रति संयम रखना–सब जीवों के प्रति संयमपूर्ण जीवन-व्यवहार अहिंसा है।

३. अप्रमत्त रहना–प्रमाद हिंसा और अप्रमाद अहिंसा है।

अप्रमत्त अवस्था में जागरूकता इतनी बढ़ जाती है कि वह प्रमादवश कोई भी हिंसा नहीं करता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इस प्रकार जैन दर्शन में हिंसा का संबंध मात्र प्राण-वियोजन करने से नहीं है, उसका व्यापक अर्थ है। किसी भी जीव को उत्पीड़ित करना, शोषण करना, अतिरिक्त श्रम लेना, अनुचित लाभ उठाना, मर्मभेदी कटु शब्द बोलना, अपमानित करना, दूसरों के अधिकार में कटौती करना आदि-आदि विषम व्यवहार भी हिंसा है। असद् चिन्तन एवं असत्प्रवृत्ति मात्र हिंसा है। सद् चिन्तन और सत्प्रवृत्ति मात्र अहिंसा है।

जैन दर्शन में हिंसा और अहिंसा के भेद का आधार राग-द्वेष है। जहाँ राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति है, वहाँ किसी भी प्राणी के प्राण का वियोजन न होने पर भी भाव-हिंसा है और जहाँ पर राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति नहीं है। वहाँ पर किसी भी प्राणी के प्राण का वियोजन हो जाने पर भी भावहिंसा नहीं है। मात्र द्रव्यहिंसा है।

अहिंसा के प्रकार

अहिंसा का शब्दानुसारी अर्थ हिंसा न करने से लिया जाता है, किन्तु इसके पारिभाषिक अर्थ निषेधात्मक और विधेयात्मक दोनों हैं अत: निषेधात्मक और विधेयात्मक के भेद से अहिंसा के दो प्रकार हो जाते हैं। राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति नहीं करना, प्राण-वध नहीं करना या प्रवृत्ति मात्र का निरोध करना निषेधात्मक अहिंसा है।

जैन दर्शन के अनुसार तीन योग (मन, वचन, काय) और तीन करण (करना, करवाना, अनुमोदन करना) से हिंसा न करना ही पूर्ण अहिंसा है। इन तीन योग और तीन करण के संयोग से नौ प्रकार बन जाते हैं, जो इस प्रकार हैं–

१. मन से हिंसा न करना।
२. मन से हिंसा न करवाना।
३. मन से हिंसा का अनुमोदन न करना।
४. वचन से हिंसा न करना।
५. वचन से हिंसा न करवाना।
६. वचन से हिंसा का अनुमोदन न करना।
७. काय से हिंसा न करना।
८. काय से हिंसा न करवाना।
९. काय से हिंसा का अनुमोदन न करना।

इन नौ प्रकारों से किसी भी प्राणी का घात न करना ही अहिंसा है। यह अहिंसा का निषेधात्मक स्वरूप है। अहिंसा का यह निषेधात्मक रूप ही अधिक प्रचलित है किन्तु अहिंसा का विधेयात्मक रूप भी है।

सत्प्रवृत्ति करना, स्वाध्याय करना, दान करना, दया करना, ज्ञान-चर्चा आदि-आदि आत्महितकारी क्रिया करना विधेयात्मक अहिंसा है। निषेधात्मक अहिंसा में केवल हिंसा का वर्जन होता है और विधेयात्मक अहिंसा में सत्प्रवृत्ति और सत्प्रवृत्यात्मक सक्रियता होती है।

जैन दर्शन के अनुसार सब जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता अत: सब जीवों को अपने समान समझो और किसी को हानि मत पहुँचाओ। इस कथन में अहिंसा का द्वयर्थी सिद्धान्त – विधेयात्मक और निषेधात्मक सन्निहित है। विधेयात्मक में एकता का संदेश है – 'सबमें अपने आपको देखो।' निषेधात्मक उससे उत्पन्न होता है – 'किसी को भी हानि मत पहुँचाओ।' सबमें अपने आपको देखने का अर्थ है – सबको हानि पहुँचाने से बचाना। यह हानि से बचाना, सबमें एक की कल्पना करने से विकसित होती है। अत: अहिंसा का केवल निषेधात्मक स्वरूप ही नहीं विधेयात्मक स्वरूप भी है।

अहिंसा का पालन क्यों ?

अहिंसा पालन करने का व्यावहारिक हेतु यह है कि सभी जीव जीना चाहते हैं, सभी को अपना जीवन प्रिय होता है। मरना कोई नहीं चाहता। मारने से उन्हें कष्ट पहुँचता है। किसी को कष्ट पहुँचाना उचित नहीं अत: अहिंसा का पालन करना चाहिए। अहिंसा पालन करने का यह व्यावहारिक कारण है, प्रधान कारण नहीं। अहिंसा-पालन करने का नैश्चयिक या प्रधान कारण है –आत्म कल्याण। हिंसा करने वाला व्यक्ति दूसरों का अहित करने से पहले अपना अहित करता है। हिंसा का भाव मन में लाकर वह अपनी आत्मा का पतन करता है, क्योंकि मन में हिंसा के भाव आने मात्र से पाप कर्म का बंधन हो जाता है, आत्मा मलिन हो जाती है। हिंसा करने वाला व्यक्ति दूसरों से वैरभाव बढ़ाकर उन्हें अपना शत्रु बना लेता है। इसके विपरीत अहिंसा का पालन करने वाला सभी प्राणियों को समान दृष्टि से देखता है, मन में किसी के प्रति द्वेषभाव नहीं लाता। मन के दूषित न होने पर उसकी आत्मा भी शुद्ध एवं पवित्र रहती है। आत्मशुद्धि के कारण वह मोक्षमार्ग पर अग्रसर होता है। अहिंसा के पालन से वह जन्म-मरण के बंधन से छूटकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार अहिंसा पालन करने के दो कारण हैं। व्यावहारिक कारण है – अन्य प्राणियों के प्रति उपकार और नैश्चयिक कारण है – आत्मकल्याण या मोक्षप्राप्ति।

अहिंसा प्रशिक्षण

अहिंसा के विकास के लिए अहिंसा के सिद्धान्त को समझना ही पर्याप्त नहीं अपितु उसके लिए प्रयोग करना आवश्यक है। आज विश्व में हिंसा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

के प्रशिक्षण के लिए अरबों-खरबों रुपये खर्च किये जा रहे हैं। विधिवत् हिंसा का प्रशिक्षण दिया जा रहा है किन्तु अहिंसा-प्रशिक्षण पर ध्यान नहीं दिया जा रहा है। परिणामस्वरूप समस्याएँ बढ़ती जा रही हैं। आचार्य तुलसी के अनुसार हिंसा के मुकाबले में अहिंसा की शक्ति कम नहीं है, अपेक्षा है उस शक्ति को जगाने की। उनका मानना है मनुष्य के मस्तिष्क में जो हिंसा के केन्द्र हैं, उनका परिष्कार करने के लिए और अहिंसा के केन्द्र को जागृत करने के लिए प्रशिक्षण और प्रयोग की आवश्यकता है। प्रशिक्षण का संबंध उपदेश से नहीं, आचरण से है। हिंसा मत करो यह उपदेश है किन्तु जीवन व्यवहार में अहिंसा का होना आचरण है। आचरण के लिए अहिंसा का विधिवत् प्रशिक्षण होना आवश्यक है। आचार्य महाप्रज्ञ ने अहिंसा-प्रशिक्षण के चार आयाम प्रस्तुत किये हैं।

अहिंसा-प्रशिक्षण के चार आयाम

अहिंसा-प्रशिक्षण के मुख्य चार आयाम हैं–

१. हृदय-परिवर्तन
२. दृष्टिकोण-परिवर्तन
३. जीवनशैली-परिवर्तन
४. आजीविका – शुद्धि-प्रशिक्षण

१. हृदय-परिवर्तन

अहिंसा-प्रशिक्षण का प्रथम आयाम है – हृदय-परिवर्तन। हृदय का साधारणतया अर्थ हार्ट (Heart) किया जाता है। यहाँ हृदय-परिवर्तन का अर्थ है – भाव-परिवर्तन। आयुर्वेद के अनुसार हृदय दो हैं – एक फुफ्फुस के नीचे और दूसरा मस्तिष्क में। हमारे भावों का उद्गम स्थल मस्तिष्क का एक भाग लिम्बिक संस्थान है अत: हृदय परिवर्तन को मस्तिष्कीय प्रशिक्षण भी कहा जा सकता है।

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार हृदय परिवर्तन का तात्पर्य निषेधात्मक भावों को समाप्त कर विधायक भावों को जगाने से है। राग-द्वेष, घृणा, ईर्ष्या आदि निषेधात्मक भाव हैं। मैत्री, करुणा, दया, प्रेम आदि विधेयात्मक भाव हैं। निषेधात्मक भाव हिंसा को जन्म देते हैं। सामान्यतया यह समझा जाता है कि आदमी परिस्थितिवश हिंसा करता है। पर वास्तव में परिस्थिति ही हिंसा का कारण नहीं है। बहुत बार परिस्थिति होने पर भी व्यक्ति उत्तेजित-हिंसक नहीं बनता और बहुत बार परिस्थिति नहीं होने पर भी व्यक्ति उत्तेजित-हिंसक बन जाता है। इससे स्पष्ट है कि परिस्थिति हिंसा का मूल कारण नहीं है, वह निमित्त कारण बन सकती है। मूल कारण है मनुष्य के निषेधात्मक भाव। इन्हें मनुष्य की मौलिक मनोवृत्तियाँ (Instinct) कहा जा सकता है। इन वृत्तियों (भावों) का परिष्कार ही हृदय परिवर्तन है।

भावनात्मक परिवर्तन में अनुप्रेक्षा के प्रयोगों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। अनुप्रेक्षा में मस्तिष्क और पूरे शरीर को शिथिल कर सुझाव दिये जाते हैं, साथ साथ रंगों का ध्यान भी किया जाता है। ध्वनि और रंग – ये दोनों अवचेतन मन को प्रभावित करते हैं। इनसे पुराने संस्कारों, अर्जित आदतों एवं निषेधात्मक भावों का क्षय होता है। नए संस्कारों, नई आदतों और शुभ भवों का निर्माण होता है।

निषेधात्मक भावों का एक मुख्य कारण आहार भी है। आज व्यक्ति के आहार में वे पदार्थ अधिक हैं जो भावात्मक असंतुलन पैदा करते हैं। पहले कहा जाता था जैसा अन्न, वैसा मन। आज कहा जाता है जैसा आहार, वैसा न्यूरोट्रान्समीटर। जैसा न्यूरोट्रान्समीटर वैसा व्यवहार। हम जो भोजन करते हैं, उससे शरीर में अनेक प्रकार के रसायन बनते हैं, मस्तिष्क में न्यूरोट्रान्समीटर बनते हैं, जो तन्त्रिका तन्त्र के संप्रेषक होते हैं। इनके द्वारा मस्तिष्क शरीर का संचालन करता है। भोजन के द्वारा अनेक विषैले तत्त्व भी शरीर में बनते हैं अत: किस प्रकार के भोजन से विषैले तत्त्व अधिक बनते हैं, इसका प्रशिक्षण भी आवश्यक है। जिस भोजन से विष अधिक बनता है, वह भावों को भी दूषित बनाता है। अत: भाव-परिवर्तन के लिए हिताहार और मिताहार का प्रशिक्षण भी आवश्यक है।

२. दृष्टिकोण-परिवर्तन

अहिंसा-प्रशिक्षण का दूसरा आयाम है – दृष्टिकोण का परिवर्तन। गलत दृष्टिकोण के कारण मिथ्या धारणाएँ, निरपेक्ष चिन्तन और एकांगी आग्रह पनपते हैं। मिथ्या धारणाएँ, निरपेक्ष चिन्तन और एकांगी आग्रह ही हिंसा के मुख्य कारण बनते हैं।

आज मनुष्य के भीतर अनेक मिथ्या धारणाएँ घर कर गई हैं। **'न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्'** उपनिषद् के इस वाक्य के आधार पर यह मान लिया गया कि मनुष्य सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। परिणाम यह हुआ कि उसने यह मान लिया कि सारी सृष्टि उसके उपभोग के लिए है। वह भोक्ता है। इस मिथ्या दृष्टिकोण के कारण उसने आवश्यकता से अधिक प्रकृति का दोहन किया। प्रसाधन के लिए जीवित प्राणियों के अवयवों और चमड़े का उपयोग किया। पर्यावरण को प्रदूषित किया।

मानवीय संबंधों में आज जो कटुता दिखलाई दे रही है, उसका हेतु भी व्यक्ति का निरपेक्ष दृष्टिकोण है। निरपेक्ष चिन्तन का स्वरूप है – मैंने पीया, मेरे बैल ने पीया, अब चाहे कुआं ढह पड़े। लेकिन जहां सापेक्ष दृष्टिकोण होता है, वहां व्यक्ति सोचता है – मैं भूखा नहीं हूँ, पर यदि मेरा पड़ोसी भूखा है तो उसका परिणाम मेरे लिए अच्छा नहीं होगा। भूखा व्यक्ति चोरी करेगा, हिंसा करेगा, अपराध करेगा और मुझ पर भी आक्रमण करेगा अत:

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

मुझे उसके प्रति निरपेक्ष नहीं बनना चाहिए।

जहाँ दृष्टिकोण मिथ्या होता है, वहाँ अपनी बात को सत्य मानने का आग्रह होता है और आग्रहयुक्त मनोवृत्ति साम्प्रदायिक उत्तेजना के लिए उत्तरदायी है।

सम्यक् दृष्टिकोण के प्रशिक्षण का उपाय है – अनेकान्त का प्रशिक्षण। अनेकान्त का प्रशिक्षण व्यक्ति को मिथ्या धारणा, निरपेक्ष चिन्तन और आग्रह से मुक्त करता है। परिवर्तन केवल जानने से नहीं होता। इसके लिए दीर्घकालिक अभ्यास अपेक्षित है। सम्यक् दृष्टिकोण को विकसित करने के लिए निम्न निर्दिष्ट अनेकान्त के सिद्धान्त और प्रायोगिक अभ्यास – अनुप्रेक्षाओं का प्रशिक्षण आवश्यक है –

सिद्धान्त	प्रयोग
१. सप्रतिपक्ष	सामंजस्य की अनुप्रेक्षा
२. सह-अस्तित्व	सह-अस्तित्व की अनुप्रेक्षा
३. स्वतन्त्रता	स्वतन्त्रता की अनुप्रेक्षा
४. सापेक्षता	सापेक्षता की अनुप्रेक्षा
५. समन्वय	समन्वय की अनुप्रेक्षा

३. जीवनशैली-परिवर्तन

अहिंसा प्रशिक्षण का तीसरा आयाम है – जीवनशैली का परिवर्तन। आज व्यक्ति अहिंसक बनना चाहता है किन्तु जीवनशैली को बदलना नहीं चाहता। अहिंसक बनने के लिए आवश्यक है परिग्रह का परिमाण करना और परिग्रह के परिमाण के लिए आवश्यक है भोगों पर नियंत्रण करना। अनियंत्रित भोग हिंसा को बढ़ावा देते हैं। जीवनशैली को बदलने का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है – सुविधावादी जीवनशैली में परिवर्तन। सुविधावादी जीवनशैली प्रदूषण पैदा कर रही है। आज इस वैज्ञानिक युग में समाज सुविधा छोड़ नहीं सकता किन्तु वह असीम न बने – यह विवेक आवश्यक है। अहिंसक बनने के लिए आवश्यक है जीवनशैली में संयम को प्रतिष्ठा मिले, सुविधा को नहीं। वास्तव में संयम ही जीवन है और संयम में ही हिंसा का समाधान है। अहिंसा के विकास के लिए आवश्यक है जीवनशैली श्रम प्रधान और व्यसनों से मुक्त हो। श्रम किये बिना पैसा प्राप्त करने की मनोवृत्ति हिंसा और अपराध को बढ़ाती है। मादक द्रव्यों का सेवन भी अपराध चेतना को बढ़ाने में निमित्त बनती है। इस प्रकार जीवनशैली के परिवर्तन के लिए संयम, श्रम, स्वावलम्बन एवं व्यसनमुक्त जीवन का सैद्धान्तिक प्रशिक्षण अपेक्षित है। अणुव्रत की आचार-संहिता भी जीवनशैली के परिवर्तन में बहुत बड़ा आलम्बन है। इसके साथ-साथ निम्नलिखित अनुप्रेक्षाओं का अभ्यास भी जीवनशैली के परिवर्तन के लिए अपेक्षित है।

१. अहिंसा की अनुप्रेक्षा,
२. सत्य, अचौर्य की अनुप्रेक्षा,
३. ब्रह्मचर्य की अनुप्रेक्षा,
४. इच्छापरिमाण की अनुप्रेक्षा,
५. स्वावलम्बन की अनुप्रेक्षा,
६. व्यसनमुक्ति के प्रयोग।

४. आजीविका-शुद्धि और आजीविका-प्रशिक्षण

अहिंसा प्रशिक्षण का चौथा आयाम है – आजीविका-शुद्धि और आजीविका-प्रशिक्षण। मनुष्य के पास शरीर है, परिवार है अतः उसे उसका पोषण और संरक्षण भी करना पड़ता है। इसलिए उसके पास कोई-न-कोई आजीविका हो यह अत्यन्त आवश्यक है, किन्तु हिंसा प्रधान आजीविका का निषेध होना चाहिए। ऐसे व्यापार, जिसमें महाहिंसा होती है, उनका वर्जन करना चाहिए, जैसे – जंगल कटवाना, मांस का विक्रय करना आदि। इस दृष्टि से सम्यक् आजीविका का प्रशिक्षण अहिंसा का महत्त्वपूर्ण पहलू बन जाता है। आजीविका प्राप्त करके भी उरो अनैतिक नहीं बनने देना भी अहिंरा का ही एक प्रयोग है। कुछ लोग अपनी आजीविका रो इतना अधिक अर्जन कर लेते हैं कि बहुत राारे गरीब लोगों को रोटी मिलना भी मुश्किल हो जाता है। इसलिए अहिंसा प्रशिक्षण में आजीविका का सम्यक् प्रयोग जहां व्यक्ति को परिग्रह से मुक्त करता है, वहीं अन्य लोगों की आजीविका की रक्षा भी करता है। इस प्रकार अहिंसा प्रशिक्षण के ये चार महत्त्वपूर्ण आयाम हैं। हृदय-परिवर्तन से दृष्टिकोण का परिवर्तन होता है। दृष्टिकोण के परिवर्तन होने से जीवनशैली में परिवर्तन होता है। जीवनशैली में संयम की प्रतिष्ठा होने से आजीविका की शुद्धि होती है। अहिंसा में विश्वास रखने वाले सभी लोगों के लिए यह आवश्यक है कि वे स्वयं इनका प्रशिक्षण लें और दूसरों को भी प्रशिक्षण लेने की प्रेरणा प्रदान करें। इस प्रशिक्षण से निश्चित रूप से अहिंसा का वर्चस्व स्थापित हो सकता है।

५. अनेकान्त और जीवन व्यवहार

मनुष्य बहुआयामी जीवन जीता है। इसलिए वह परिवार, समाज, राज्य, धर्म आदि से कटकर नहीं जी सकता। सभी जगह वह सफल जीवन जीना चाहता है। सफलता का पहला बिन्दु है – उसका व्यवहार। व्यक्ति के मूल्यांकन का आधार बनता है – व्यवहार। इसलिए कहा गया

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

Behaviour is greater then religion. व्यक्तित्व निर्माण की जितनी कसौटियाँ हैं, उनमें प्रमुख कसौटी है – व्यावहारिक होना। एक पढ़ा-लिखा व्यक्ति जीवन में जितना सफल नहीं होता, उतना व्यवहार-कुशल व्यक्ति सफल हो सकता है। जीवन-व्यवहार में सफल होने के लिए आवश्यक है – अनेकान्त के दर्शन को समझना और उसका जीवन-व्यवहार में प्रयोग करना।

अनेकान्त क्या है?

प्रत्येक दर्शन का एक मौलिक और विशिष्ट सिद्धान्त होता है, जिसके आधार पर उसके विचारों का भव्य प्रासाद खड़ा होता है। अनेकान्तवाद जैन दर्शन का मुख्य मौलिक सिद्धान्त है, जिसकी सुदृढ़ नींव पर जैन दर्शन के आचार और विचार का भव्य प्रासाद खड़ा है।

अनेकान्त शब्द अनेक + अन्त – इन दो शब्दों से बना है। अनेक का अर्थ है – एक से अधिक और अन्त का अर्थ है – धर्म (स्वभाव)। वस्तु में नित्य-अनित्य, एक-अनेक, सामान्य-विशेष, वाच्य-अवाच्य आदि अनेक विरोधी धर्मों के समूह को स्वीकार करना अनेकान्त है। जैनदर्शन के अनुसार एक ही वस्तु में एक ही समय में अनन्त विरोधी धर्म एक साथ रहते हैं, यह अनेकान्त दर्शन की महत्त्वपूर्ण स्वीकृति है। अनन्त ज्ञान के द्वारा वस्तु के अनन्त धर्मों को जाना तो जा सकता है किन्तु सीमित भाषा के द्वारा उन अनन्त धर्मों का प्रतिपादन (कथन) नहीं किया जा सकता। अनन्त धर्मों का क्रमिक प्रतिपादन करने के लिए जैन चिन्तकों ने स्याद्वाद के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया।

स्याद्वाद

स्याद्वाद शब्द स्यात् और वाद – दो शब्दों से बना है। स्यात् का अर्थ है – दृष्टिकोण या अपेक्षा। वाद का अर्थ है – कथन या प्रतिपादन। स्याद्वाद का अर्थ है – सापेक्ष प्रतिपादन।

अनन्त धर्मात्मक वस्तु के प्रतिपादन की शैली का नाम स्याद्वाद है। यह पदार्थ के भिन्न-भिन्न धर्मों का भिन्न-भिन्न अपेक्षा से सापेक्ष कथन करता है। उदाहरण के लिए एक ही व्यक्ति पिता, पुत्र, भाई, चाचा, मामा, नाना आदि अनेक रूपों में दिखाई देता है। यहाँ पर पिता, पुत्र आदि धर्मों में विरोध प्रतीत होने पर भी विरोध नहीं है। वह अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है तथा अपने पुत्र की अपेक्षा पिता भी है। वस्तु स्वरूप के साथ जुड़ी अपेक्षा को जब नहीं समझा जाता तब वह कथन विरोधी प्रतीत होता है।

सप्तभंगी

अनेकान्तवाद तथा स्याद्वाद का विस्तृत रूप सप्तभंगी में दृष्टिगोचर होता है। वस्तु में स्थित अनन्त विरोधी धर्मों को व्यक्त करने के सात तरीके हैं, जिन्हें सप्तभंगी कहा जाता है। सप्तभंगी अभिव्यक्ति की एक ऐसी विधा है, जो वस्तु में विवक्षित धर्म का प्रतिपादन करती है किन्तु अविवक्षित धर्मों की उपेक्षा नहीं करती। सात भंग निम्नलिखित हैं –

१. **स्यात् अस्ति** – वस्तु किसी अपेक्षा से है।

२. **स्यात् नास्ति** – वस्तु किसी अपेक्षा से नहीं है।

३. **स्यात् अस्ति स्यात् नास्ति** – किसी अपेक्षा से है, किसी अपेक्षा से नहीं है।

४. **स्यात् अवक्तव्य** – 'है' और 'नहीं है' दोनों को एक साथ कहने की अपेक्षा से अवक्तव्य है।

५. **स्यात् अस्ति, स्यात् अवक्तव्य** – किसी अपेक्षा से है, किसी अपेक्षा से अवक्तव्य है।

६. **स्यात् नास्ति, स्यात् अवक्तव्य** – किसी अपेक्षा से नहीं है, किसी अपेक्षा से अवक्तव्य है।

७. **स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अवक्तव्य** – वस्तु किसी अपेक्षा से है, किसी अपेक्षा से नहीं है, किसी अपेक्षा से अवक्तव्य है।

प्रश्न हो सकता है कि भंग सात ही हो सकते हैं या ज्यादा कम भी हो सकते हैं? इसका समाधान है भंग सात ही हो सकते हैं। कम या ज्यादा नहीं हो सकते। क्योंकि वस्तु के किसी एक धर्म के संदर्भ में सात ही प्रश्न हो सकते हैं, उदाहरणत: एक व्यक्ति ने स्वस्थता-अस्वस्थता को धर्म मानकर अपने मित्र से पूछा – आपकी तबीयत कैसी है? इसका उत्तर सात रूपों में ही दिया जा सकता है।

१. पहला विकल्प – ठीक है। यहाँ स्वस्थता की प्रधानता है।

२. दूसरा विकल्प – पूरा ठीक नहीं है। यहाँ अस्वस्थता की प्रधानता है।

३. तीसरा विकल्प – कुछ ठीक है, पूरा ठीक नहीं है।

४. चौथा विकल्प – कुछ नहीं कह सकता।

५. पाँचवां विकल्प – अभी कुछ ठीक है, फिर भी कहा नहीं जा सकता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

६. छठा विकल्प – अभी ठीक नहीं है, फिर भी कुछ कहा नहीं जा सकता।

७. सातवां विकल्प – कुछ ठीक है, पूरा ठीक नहीं है, फिर भी आगे का कहा नहीं जा सकता।

यह उत्तर देने वाले की भिन्न-भिन्न मानसिक स्थितियाँ हैं। कभी उसके सामने स्वस्थता प्रमुख है और अस्वस्थता गौण है। कभी अस्वस्थता प्रमुख है, स्वस्थता गौण है। कभी एक साथ दोनों प्रमुख हैं और कभी क्रमशः गौण है। इस प्रकार भंग सात ही हैं। इनमें प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ – ये तीन मूल भंग हैं। शेष चार इनके संयोग से बने हैं।

जीवन व्यवहार हेतु अनेकान्त के चार सूत्र

अनेकान्त जीवन की एक प्रशस्त पद्धति है। इसकी मुख्य चार निष्पत्तियाँ हैं, जिसके माध्यम से इसे और अधिक स्पष्टता से समझा जा सकता है और जीवन व्यवहार में उसका उपयोग कर सफल, स्वस्थ और शांति का जीवन जीया जा सकता है। वे हैं – १. सापेक्षता, २. सह-अस्तित्व, ३. समन्वय, ४. समानता।

१. सापेक्षता

स्याद्वाद में प्रयुक्त 'स्यात्' शब्द सापेक्षता का सूचक है। एक वस्तु में अनन्त विरोधी धर्म एक साथ रहते हैं पर वे निरपेक्ष होकर नहीं सापेक्ष होकर रहते हैं। जिस समय पदार्थ के जिस धर्म की विवक्षा होती है, वह प्रधान बन जाता है, शेष सारे धर्म गौण बन जाते हैं। प्रधानता और गौणता वस्तु का धर्म नहीं, किन्तु यह वक्ता की विवक्षा है। उदाहरणतः जब व्यक्ति चलता है तो एक पैर आगे रहता है, दूसरा पैर पीछे रहता है तब गतिक्रिया संभव हो पाती है। यदि दोनों पैर आगे रहने का आग्रह करें तो गतिक्रिया नहीं हो सकती। उसी प्रकार वस्तु के जिस गुण का कथन किया जाता है, वह प्रधान बन जाता है। शेष धर्म गौण हो जाते हैं। यदि सभी धर्म प्रधान बनने का आग्रह करें तो भाषा के द्वारा एक साथ सभी को प्रधानता नहीं दी जा सकती। यह सापेक्षता का सिद्धान्त वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझने के लिए ही नहीं अपितु जीवन व्यवहार के लिए भी उपयोगी है। व्यक्ति अकेला नहीं जीता, वह परिवार और समाज में संबंधों का जीवन जीता है। मानवीय संबंधों में दरार डालने वाला तत्त्व है – आग्रह और निरपेक्ष चिन्तन। जब व्यक्ति अपनी बात को ही सत्य मानने का आग्रह करता है, उसका चिन्तन ऐकान्तिक और निरपेक्ष होता है, तब वह न सत्य को समझ सकता है और न संबंधों में मधुरता बनाए रख सकता है। सत्य को समझने तथा व्यवहार में मधुरता बनाये रखने के लिए आवश्यक है सापेक्ष दृष्टिकोण का विकास। वस्तु के संबंध में मेरा ज्ञान सीमित है, मैं उसके एक पक्ष को जान रहा हूँ, किन्तु उसी वस्तु के दूसरे पक्ष भी हैं, जिनका ज्ञान दूसरे व्यक्ति कर रहे हैं। इस प्रकार अपेक्षाभेद को समझने वाला अपनी बात को सत्य मानने का आग्रह नहीं करता। इस सापेक्ष दृष्टि को हम एक उदाहरण से समझ सकते है। दो व्यक्तियों ने एक ही समय मे एक ही घड़े का पानी पिया। एक को वह पानी बहुत ठण्डा लगा, दूसरे को वह पानी गरम लगा। पानी समान होते हुए भी दोनों की अनुभूति में इतना अन्तर क्यों? इस अन्तर के पीछे छिपी अपेक्षा को न समझकर यदि अपनी बात को सत्य मानने का आग्रह किया जाये तो सत्य को समझा नहीं जा सकता। दोनों व्यक्तियों की अनुभूति में अन्तर का कारण सापेक्षता है। पहला व्यक्ति नल का गरम पानी पीकर आया था, नल के गरम पानी की अपेक्षा घड़े का पानी उसे ठंडा लग रहा था। दूसरा व्यक्ति फ्रीज का पानी पीकर आया था। फ्रीज के पानी की अपेक्षा उसे घड़े का पानी गरम लग रहा था। इस अपेक्षाभेद को जहाँ समझ लिया जाता है, वहाँ दो विरोधी प्रतीत होने वाले धर्मों में भी कोई संशय नहीं होता, कोई आग्रह नहीं होता। सापेक्षता का यह सिद्धान्त हमारे जीवन के मार्ग को भी प्रशस्त करता है। आग्रह को दूर करता है और राग-द्वेष को कम करता है। अतः हमें वस्तु या किसी घटना के एक पक्ष को देखकर निर्णय नहीं लेना चाहिए। घटना के सभी पक्षों में सत्यांश को ढूंढने का प्रयास करना चाहिए।

२. सह-अस्तित्व

अनेकान्त सिद्धान्त के अनुसार वस्तु में अनन्त विरोधी धर्म होते हैं और उनका सह-अस्तित्व होता है। यदि विरोधी धर्म न हों तो वस्तु का अस्तित्व ही नहीं हो सकता। चेतन का अस्तित्व तब है जब अचेतन है। अचेतन का अस्तित्व तब है जब चेतन है। चेतन के बिना अचेतन का और अचेतन के बिना चेतन का अस्तित्व ही नहीं हो सकता। समूची प्रकृति की व्यवस्था में विरोधी युगलों का अस्तित्व है। सुख है तो दुःख भी है, ज्ञान है तो अज्ञान भी है, जीवन है तो मृत्यु भी है। इस पक्ष-प्रतिपक्ष की स्वीकृति से ही अनेकान्त का विकास होता है। जैन चिन्तकों ने इन विरोधी धर्मों की सह-अवस्थिति को एक उदाहरण से समझाया –

'एक स्वर्णकार स्वर्णकलश को तोड़कर स्वर्णमुकुट बना रहा था। उसके पास तीन ग्राहक आए। एक को स्वर्णकलश चाहिए था, दूसरे को स्वर्णमुकुट चाहिए था और तीसरे को केवल स्वर्ण चाहिए था। स्वर्णकार की प्रवृत्ति को देखकर पहले व्यक्ति को दुःख हुआ क्योंकि वह स्वर्णकलश का विनाश देख रहा था, दूसरे को हर्ष हुआ क्योंकि वह स्वर्णमुकुट को उत्पन्न होते देख रहा था और तीसरा तटस्थ रहा क्योंकि उसे सोना ही दिखाई दे रहा था। तात्पर्य यह हुआ कि एक ही स्वर्ण में पहला व्यक्ति विनाश देश रहा है, दूसरा व्यक्ति उत्पाद देख रहा है और तीसरा व्यक्ति ध्रौव्य (स्थिरता)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

देख रहा है। उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य जो परस्पर विरोधी प्रतीत हो रहे हैं, इनका एक ही वस्तु में सह-अस्तित्व है। इस सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को जीवन व्यवहार के साथ जोड़ा जाये तो आज जातिवाद, रंग-भेद आदि के नाम पर जो दूरियाँ बढ़ रही हैं, वे समाप्त हो सकती हैं।

जिस प्रकार एक ही परिवार में कांग्रेसी, कम्युनिष्ट, सर्वोदयी, जनसंघी आदि भिन्न-भिन्न पार्टियों के सदस्य होते हैं, फिर भी एक घर में सहवास करते हैं, उनमें किसी का हित किसी के विरोध में नहीं होता क्योंकि प्रतिपक्ष का आदर करना अस्तित्व की सुरक्षा का महत्त्वपूर्ण बिन्दु है। लोकसभा और विधानसभा में विपक्ष का सम्माननीय स्थान है। दो विरोधी विचार वाले एक साथ रहते हैं और विकास की बात सोचते हैं। हमारे जीवन में और समूची प्रकृति में विरोधी युगलों का अस्तित्व है। यदि विरोधी युगल समाप्त हो जाएँ तो हमारा जीवन ही समाप्त हो जाए। जब व्यक्ति इस सह-अस्तित्व को समझ लेता है तब जीवन और सत्य को व्याख्यायित करना सरल हो जाता है। विरोधी को मिटाने की भावना समाप्त हो जाती है।

३. समन्वय

अनेकान्त का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है – समन्वयवाद। जैन चिन्तकों ने विरोधी धर्मों का एक साथ होना असंभव नहीं माना। उन्होंने विरोधी विचारों को स्वीकार ही नहीं किया अपितु उन विरोधी विचारों के बीच भी समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया। उन्होंने कहा – ये परस्पर विरोधी दिखाई देने वाले धर्म विरोधी नहीं अपितु एक-दूसरे के पूरक हैं। एक वस्तु को अनेक लोग अपनी-अपनी दृष्टि से देखते हैं, व्याख्यायित करते हैं। अपनी-अपनी दृष्टि से समझी गई वस्तु का स्वरूप एक समान नहीं हो सकता पर उनके बीच समन्वय को ढूंढा जा सकता है।

उदाहरण के लिए पाँच अंधों ने हाथी को जानना चाहा। पहले अंधे ने हाथी के पैरों को पकड़ा और कहा – हाथी खम्भे जैसा होता है। दूसरे ने हाथी की पूँछ को पकड़ा और कहा – हाथी खम्भे जैसा नहीं अपितु रस्सी जैसा होता है। तीसरे ने हाथी के पेट को छुआ और कहा – हाथी तो दीवार जैसा होता है। चौथे ने उसकी सूंड को पकड़ा और कहा – हाथी तो पेड़ की शाखा जैसा होता है। पाँचवें ने हाथी के कान को पकड़ा और कहा – तुम सब गलत हो, हाथी तो छाज जैसा होता है। पांचों अपनी-अपनी बात को सत्य साबित करने का आग्रह करने लगे। विवाद बढ़ गया। एक बुद्धिमान व्यक्ति ने उनके बीच समन्वय स्थापित कर उस विवाद को समाप्त किया। उसने कहा – आप सभी हाथी के एक अंश को जानकर उसे पूर्ण हाथी समझ रहे हैं, जो कि ठीक नहीं। पांचों ने जो जाना है, उसका समन्वय करके ही आप हाथी के सही रूप को समझ सकते हैं।

जिस प्रकार सत्य को समन्वय के आधार पर ही समझा जा सकता है उसी प्रकार जीवन-व्यवहार का भी एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है – समन्वय। एक परिवार में अनेक सदस्य होते हैं। उनकी रुचि स्वार्थ, अपेक्षाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं, फिर भी समन्वय के आधार पर वे शांत-सहवास को बनाये रखते हैं। यदि समन्वय का सूत्र हाथ में न हो तो परिवार बिखर जाता है। उनमें परस्पर सामंजस्य नहीं रहता। शरीर के विभिन्न अवयवों में परस्पर समन्वय होता है। हाथ में लड्डू है पर हाथ यह नहीं कहता, मैं ही इसे रखूँगा, दूसरों को नहीं दूँगा। वह तत्काल मुँह में डाल देता है। मुँह चबाकर पेट में डाल देता है। वहाँ से रक्त बनकर सारे शरीर को पोषण देता है। सारा जीवन व्यवहार परस्पर समन्वय और सामंजस्य से ही चलता है। सारी दुनियाँ में एक सामंजस्य है। व्यक्ति और विश्व परस्पर जुड़े हुए हैं। कहीं वृक्ष से एक पत्ता भी टूटता है तो उससे पूरा विश्व प्रभावित होता है। एक जगह भूकम्प आता है तो पूरी सृष्टि का संतुलन बिगड़ता है। शरीर का एक अवयव बीमार पड़ता है तो उसका प्रभाव पूरे शरीर पर पड़ता है। मशीन काएक छोटा-सा पुर्जा भी खराब होता है तो पूरी मशीन प्रभावित होती है। उसी प्रकार एक व्यक्ति के मन में भी निषेधात्मक भाव आते हैं तो उसका प्रभाव पूरे विश्व पर पड़ता है। क्योंकि सब सापेक्ष हैं, समन्वय की डोर से बंधे हुए हैं। इस समन्वय के सूत्र को यदि जीवन-व्यवहार से जोड़ लिया जाये तो वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान हो सकता है।

४. समानता

अनेकान्त का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है – समानता। वस्तु में अनन्त विरोधी धर्म होते हैं लेकिन उन सबका अस्तित्व समान है। कोई भी धर्म श्रेष्ठ या निम्नकोटि का नहीं है। यह समानता की अनुभूति यदि जीवन व्यवहार में आ जाये तो बहुत सारी समस्याओं का समाधान हो सकता है। समानता की अनुभूति से तात्पर्य है दुनियां के हर प्राणी को अपने समान समझो। जैसे मैं जीना चाहता हूँ, वैसे ही दुनियां का हर प्राणी जीना चाहता है। जैसे कोई दूसरा मुझे कष्ट देता है, अपमान करता है तो मुझे अच्छा नहीं लगता, वैसे ही मैं किसी को कष्ट देता हूँ, अपमान करता हूँ तो उसे भी अच्छा नहीं लगता। भगवान महावीर ने कहा – 'णो हीणे णो आइरित्ते' चेतना की दृष्टि से कोई हीन नहीं है और कोई अतिरिक्त नहीं है। सब समान हैं। कहते हैं कबीर का बेटा कमाल जंगल में घास काटने गया। शाम तक घर नहीं लौटा। कबीर चिन्तित हुए और ढूँढते हुए जंगल में पहुँचे। वहाँ कमाल पागल की तरह खड़ा घास को देख रहा है पर काट नहीं रहा है। कबीर ने उसे झकझोरा और पूछा – क्या कर रहे हो? अभी तक घास काटी नहीं। कमाल बोला – किसे काटूँ? क्या अपने आपको काटूँ? जैसी प्राणधारा मेरे भीतर प्रवाहित हो रही है, वैसी ही अब मैं घास नहीं काट सकता। यह है समानता की अनुभूति। जहाँ यह अनुभूति जाग जाती है, वहाँ सब प्राणियों के प्रति अपनापन होता है। उसके व्यवहार में क्रूरता नहीं अपितु करुणा, प्रेम और मैत्री की धारा प्रवाहित होती है। अनेकान्त को जीवन व्यवहार में प्रतिष्ठित करने के लिए पहली आवश्यकता है – आग्रह को छोड़ सापेक्ष दृष्टिकोण का विकास करना। सापेक्ष दृष्टि का विकास होने पर परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले भी विरोधी प्रतीत नहीं होते। वे समन्वय के साथ एक-दूसरे के पूरक होकर रहते हैं। अनेकान्त

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

दृष्टि का मूल आधार जीवन व्यवहार की समस्याओं का निराकरण करना है। एकान्तिक मान्यता न व्यावहारिक होती है और न सत्य स्वरूप को प्रस्तुत करती है अत: कहा जा सकता है कि अनेकान्त जीवन-व्यवहार का दर्शन है।

६. अणुव्रत आंदोलन और नैतिकता

भगवान महावीर ने दो प्रकार के धर्म का प्रतिपादन किया – गृहस्थ धर्म और मुनि धर्म। उन्होंने मुनि के लिए अहिंसा, सत्य आदि पांच महाव्रतों के पालन का विधान किया तथा गृहस्थ के लिए अहिंसा, सत्य आदि बारह अणुव्रतों का विधान किया। ये अणुव्रत तत्कालीन समाज-व्यवस्था में व्याप्त विकारों को दूर करने में सक्षम थे। युग-परिवर्तन के साथ-साथ मूल्य भी बदलते गये। समस्याओं ने भी नवीन रूप धारण कर लिया। उनके निराकरण के लिए प्राचीन अणुव्रतों का विश्लेषण करना आवश्यक था। भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित उसी अणुव्रत धर्म को आचार्य तुलसी ने युगीन संदर्भों में प्रस्तुत कर अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन किया, जो कि नैतिकता का आन्दोलन है।

अणुव्रत आन्दोलन : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

आज से लगभग पांच दशक पूर्व तक, भारतवर्ष राजनैतिक दासता के घेरे में बंदी था। कुछ चिन्तनशील महापुरुषों ने देश को दासता की गिरफ्त से मुक्त कराने का संकल्प किया और उनके अथक प्रयासों के बाद भारत स्वतंत्र हुआ। स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए भारतवासियों में जो एकता थी, आजादी के बाद वह टूट गई। परिणामस्वरूप जातिवाद, अस्पृश्यता, साम्प्रदायिकता, अमीरी-गरीबी, मंहगाई आदि मौलिक समस्याओं के साथ-साथ अनुशासनहीनता, पद की लालसा, महत्त्वाकांक्षा, प्रान्तीयता और भाषायी विवाद जैसी समस्याओं से जनता का चरित्र विकृत और मानस उत्पीड़ित हो उठा। नैतिकता का ह्रास होने लगा। परिणाम स्वरूप एक नैतिक आन्दोलन की आवश्यकता महसूस की गई।

अणुव्रत आंदोलन का सूत्रपात

१५ अगस्त, १९४७ को भारत स्वतंत्र हुआ। कॉंग्रेस और मुस्लिम लीग ने संयुक्त रूप से शासन संभाला। हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए। इन दंगों में लाखों आदमी मौत के घाट उतरे। जातीयता का नग्न रूप सामने आया। स्त्रियों और बच्चों के साथ निर्दयतापूर्ण व्यवहार किया गया। ऐसी स्थिति उत्पन्न की गई कि आखिर हिन्दुस्तान विभक्त हो गया। चरित्र-पतन और अनुशासनहीनता से सभी का धैर्य विचलित हो रहा था। ऐसी विषम परिस्थितियों में 'अणुव्रत आंदोलन' सामने आया। आचार्य तुलसी ने प्रथम स्वतंत्रता दिवस पर 'असली आजादी अपनाओ' का शंखनाद किया। असली आजादी का अर्थ है – नैतिक विकास। उसका प्रायोगिक रूप है – अणुव्रत आन्दोलन। २ मार्च, १९४९ को सरदारशहर में आचार्य तुलसी ने अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन किया। अणुव्रत की आचार-संहिता निर्धारित की और यह आह्वान किया कि यदि अणुव्रत की आचार-संहिता का पालन करने वाले कम से कम पचीस व्यक्ति मुझे मिल जाएँ तो मेरा विश्वास है कि इससे नैतिकता का नया आयाम खुलेगा। प्रथम आह्वान में ही इकहत्तर व्यक्ति अणुव्रती बने। प्रथम बार अणुव्रती बनने वालों के नाम उन्होंने स्वयं अपने हाथ से लिखे।

अणुव्रत असाम्प्रदायिक धर्म है

प्रत्येक धर्म के साथ सम्प्रदाय जुड़ा हुआ है। अणुव्रत का किसी सम्प्रदाय के साथ संबंध नहीं है। यह एक ऐसे धर्म की परिकल्पना है, जो धर्म हो, किन्तु सम्प्रदाय से जुड़ा हुआ न हो। अणुव्रत का संबंध नैतिकता से है नैतिकता साम्प्रदायिक नहीं है। वह सबके लिए समान रूप से समादरणीय है।

अणुव्रत असाम्प्रदायिक धर्म है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है, अनेक सम्प्रदाय के लोगों द्वारा अणुव्रत की स्वीकृति। इस आन्दोलन में हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई सभी सम्मिलित हुए और उन्हें यह प्रतीत हुआ कि इसमें हमारे सम्प्रदाय अथवा धर्म से कोई विरुद्ध बात नहीं है। एक मुसलमान भाई ने आचार्य तुलसी से पूछा – मैं अणुव्रत की आचार-संहिता स्वीकार करूँ तो क्या नमाज पढ़ सकता हूँ। आचार्य तुलसी ने कहा – उपासना में आप स्वतंत्र हैं, उससे हमारा कोई लेना-देना नहीं है। आपकी प्रतिबद्धता नैतिकता की आचार-संहिता के साथ है, किसी सम्प्रदाय के साथ नहीं है। अपने-अपने देव-गुरु-धर्म के प्रति आस्था रखते हुए व्यक्ति अणुव्रती बन सकता है। इसमें जाति, धर्म, रंग, स्त्री, पुरुष आदि का कोई विचार नहीं किया जाता है। जो भी एक अच्छा इन्सान और मानव बनना चाहता है, वह इसे स्वीकार कर सकता है। लाखों लोगों ने इसे स्वीकार किया।

अणुव्रत : नैतिकता का आन्दोलन है

धर्म और नैतिकता का परस्पर संबंध है, किन्तु लगता है आज नैतिकता विहीन धर्म को मान्यता मिल गई है। इसीलिए धार्मिक व्यक्ति भी अपने व्यापार या व्यवसाय में अप्रामाणिकता बरतता है। अणुव्रत ने इस भ्रान्ति को तोड़ने का प्रयास किया और एक नया स्वर दिया कि नैतिक बने बिना व्यक्ति धार्मिक नहीं बन सकता है। अणुव्रत नैतिकता का आन्दोलन है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अणुव्रत के आधार पर नैतिकता का मानदण्ड है – संयम। जहाँ-जहाँ संयम है, वहाँ-वहाँ नैतिकता है। संयम के अभाव में नैतिकता नहीं हो सकती। इसीलिए इसका मूल मंत्र है – **'संयमः खलु जीवनम्'** संयम ही जीवन है। संयम के विकास के लिए आवश्यक है – मैत्री का विकास, इच्छाओं का सीमाकरण, भोगोपभोग का संयम, प्रामाणिकता और करुणा का विकास।

अणुव्रत : अर्थ एवं परिभाषा

शाब्दिक दृष्टि से अणु का अर्थ है 'छोटा' और व्रत का अर्थ है 'नियम'। अणुव्रत छोटे-छोटे नियमों की एक आचार-संहिता है। भावात्मक दृष्टि से अणुव्रत का अर्थ है –

* चरित्र निर्माण की प्रक्रिया
* सर्वसम्मत मानव-जीवन की आचार-संहिता
* सम्प्रदाय विहीन धर्म का प्रयोग

'अणुव्रत' में सम्प्रदाय गौण है और धर्म तथा चरित्र मुख्य है। केवल अगले जीवन की चिन्ता गौण है, प्रायोगिक जीवन प्रधान है। साम्प्रदायिक मतवाद का आग्रह गौण है, सब धर्म-सम्प्रदायों के साथ सद्भाव का प्रयत्न मुख्य है।

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार – अणुवत चरित्र विकास के लिए किये जाने वाले छोटे-छोटे संकल्प हैं।

अणुव्रत का लक्ष्य

अणुव्रत आन्दोलन का मुख्य लक्ष्य है – जीवन-मूल्यांकन के दृष्टिकोण और उसकी उच्चता के मापदण्ड को बदलना। चरित्र का न्यूनतम विकास सबमें हो क्योंकि चारित्रिक उच्चता के बिना मानव समाज की सभ्यता और संस्कृति उच्च नहीं बन सकती।

अणुव्रत का लक्ष्य है –

* जाति, रंग, सम्प्रदाय, देश और भाषा का भेदभाव न रखते हुए मनुष्य मात्र को आत्म-संयम की प्रेरणा देना।
* मैत्री, एकता, शान्ति, आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा करना।
* अहिंसक समाज की संरचना करना।

अणुव्रत के निदेशक तत्त्व

आंदोलन के प्रारम्भ में नियमों की संख्या तेरह थी, जो बढ़कर छियासी हो गई। सन् १९५८ में अणुव्रतों की संख्या में फिर परिवर्तन किया गया। इस अवसर पर व्रतों की भाषा का परिष्कार किया गया। अणुव्रतियों के लिए तीन श्रेणियाँ बनाई गई – प्रवेशक अणुव्रती, अणुव्रती और विशिष्ट अणुव्रती। प्रवेशक अणुव्रती के लिए ग्यारह नियमों का विधान किया गया। अणुव्रती के लिए अणुव्रतों के साथ उसके शील और चर्या का पालन भी करना होता है। विशेष संयम का जीवन जीने वाले विशिष्ट अणुव्रती कहलाए।

अणुव्रत के निदेशक तत्त्व, अणुव्रत की आचार-संहिता तथा वर्गीय अणुव्रत निम्नलिखित हैं –

निदेशक तत्त्व

अणुव्रत के निम्नलिखित नौ निदेशक तत्त्व हैं, जिनके आधार पर अणुव्रत का विकास हुआ –

१. दूसरों के अस्तित्व के प्रति संवेदनशीलता २. मानवीय एकता
३. सह-अस्तित्व की भावना
४. साम्प्रदायिक सद्भावना
५. अहिंसात्मक प्रतिरोध
६. व्यक्तिगत संग्रह और भोगोपभोग की सीमा
७. व्यवहार में प्रामाणिकता
८. साधन-शुद्धि में आस्था
९. अभय, तटस्थता और सत्यनिष्ठा

अणुव्रत : आचारसंहिता

यह मानव मात्र की न्यूनतम आचार-संहिता है। यदि मानव मात्र इस आचार संहिता को स्वीकार कर लें तो नैतिकता का विकास हो सकता है तथा नैतिकता का विकास होने पर अनेक समस्याओं का समाधान हो सकता है। अणुव्रत : आचारसंहिता के निम्नलिखित ग्यारह नियम हैं –

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

१. मैं किसी भी निरपराध प्राणी का संकल्प पूर्वक वध नहीं करूँगा।

* आत्म-हत्या नहीं करूँगा।
* भ्रूण-हत्या नहीं करूँगा।

२. मैं आक्रमण नहीं करूँगा।

* आक्रामक नीति का समर्थन नहीं करूँगा।
* विश्व-शांति तथा नि:शस्त्रीकरण के लिए प्रयत्न करूँगा।

३. मैं हिंसात्मक एवं तोड़-फोड़ मूलक प्रवृत्तियों में भाग नहीं लूँगा।

४. मैं मानवीय एकता में विश्वास करूँगा।

* जाति, रंग आदि के आधार पर किसी को ऊँच-नीच नहीं मानूँगा।
* अस्पृश्य नहीं मानूँगा।

५. मैं धार्मिक सहिष्णुता रखूँगा।

* साम्प्रदायिक उत्तेजना नहीं फैलाऊँगा।

६. मैं व्यवसाय और व्यवहार में प्रामाणिक रहूँगा।

* अपने लाभ के लिए दूसरों को हानि नहीं पहुंचाऊँगा।
* छलनापूर्ण व्यवहार नहीं करूँगा।

७. मैं ब्रह्मचर्य की साधना और संग्रह की सीमा का निर्धारण करूँगा।

८. मैं चुनाव के संबंध में अनैतिक आचरण नहीं करूँगा।

९. मैं सामाजिक कुरूढ़ियों को प्रश्रय नहीं दूँगा।

१०. मैं व्यसनमुक्त जीवन जीऊँगा।

* मादक तथा नशीले पदार्थ – शराब, गांजा, चरस, हेरोइन, भांग, तम्बाकू आदि का सेवन नहीं करूँगा।

११. मैं पर्यावरण की समस्या के प्रति जागरूक रहूँगा।

* हरे-भरे वृक्ष नहीं काटूँगा।
* पानी का अपव्यय नहीं करूँगा।

(अणुव्रती के लिए संबंधित वर्गीय अणुव्रतों का पालन अनिवार्य है।)

विद्यार्थी अणुव्रत

* मैं परीक्षा में अवैध उपायों का सहारा नहीं लूँगा।
* मैं हिंसात्मक एवं तोड़फोड़-मूलक प्रवृत्तियों में भाग नहीं लूँगा।
* मैं अश्लील शब्दों का प्रयोग नहीं करूँगा, अश्लील साहित्य नहीं पढ़ूँगा तथा अश्लील चलचित्र नहीं देखूँगा।
* मैं मादक तथा नशीले पदार्थों का सेवन नहीं करूँगा।
* मैं चुनाव के सम्बन्ध में अनैतिक आचरण नहीं करूँगा और न भाग लूँगा।
* मैं दहेज से अनुबंधित एवं प्रदर्शन से युक्त विवाह नहीं करूँगा।
* मैं बड़े वृक्ष नहीं काटूँगा और प्रदूषण नहीं फैलाऊँगा।

शिक्षक अणुव्रत

* मैं विद्यार्थी के बौद्धिक-विकास के साथ चरित्र-विकास में भी सहयोगी बनूँगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

❊ मैं विद्यार्थी को उत्तीर्ण करने में अवैध उपायों का सहारा नहीं लूँगा।

❊ मैं अपने लिए विद्यार्थियों में दलगत राजनीति को प्रश्रय नहीं दूंगा। न इसके लिए विद्यार्थियों को प्रोत्साहित करूँगा।

❊ मैं मादक और नशीले पदार्थों का सेवन नहीं करूँगा।

❊ मैं अणुव्रत-प्रसार में अपना योग दूँगा।

अधिकारी/कर्मचारी अणुव्रत

१. मैं रिश्वत नहीं लूँगा।

२. मैं अपने प्राप्त अधिकारों का अनुचित प्रयोग नहीं करूँगा।

३. मैं अपने कर्त्तव्य-पालन में जान-बूझकर विलम्ब या अन्याय नहीं करूँगा।

४. मैं मादक और नशीले पदार्थों का सेवन नहीं करूँगा।

श्रमिक अणुव्रत

१. मैं अपने कार्य में प्रामाणिकता रखूँगा।

२. मैं हिंसात्मक उपद्रवों एवं तोड़फोड़-मूलक प्रवृत्तियों में भाग नहीं लूँगा।

३. मैं मद्यपान एवं धूमपान नहीं करूँगा तथा नशीले पदार्थों का सेवन नहीं करूँगा।

४. मैं जुआ नहीं खेलूँगा।

इस प्रकार अणुव्रत आन्दोलन का मूल आधार नैतिक विकास है। यह एक असाम्प्रदायिक और नैतिकता का आन्दोलन है। इसकी आचार-संहिता को स्वीकार करने वाला एक अच्छा और नैतिक इन्सान बन सकता है तथा स्वस्थ समाज की संरचना में अपना योगदान दे सकता है।

निबन्धात्मक प्रश्न

१. जीवन विज्ञान को परिभाषित करते हुए यह सिद्ध करें कि यह सर्वांगीण विकास की प्रक्रिया है।

२. जीवन विज्ञान के अंगों का विवेचन करें।

३. जीवन विज्ञान में निर्धारित मूल्यों का विवेचन करें।

४. अहिंसा को परिभाषित करते हुए अहिंसा-प्रशिक्षण के उपायों पर प्रकाश डालें।

५. जीवन-व्यवहार में अनेकान्त की उपयोगिता को समझाएँ।

६. 'अणुव्रत आन्दोलन नैतिकता का आंदोलन है' इस विषय पर एक निबंध लिखें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई-५

प्रेक्षाध्यान और प्रबन्धन

आज के युग में व्यक्तित्व विकास की बहुत चर्चा है। अपने व्यक्तित्व को आकर्षक बनाने के लिए व्यक्ति विविध उपाय करता है किन्तु उसके अधिकांश प्रयास बाह्य व्यक्तित्व को आकर्षक बनाने के लिए होता है। आन्तरिक व्यक्तित्व के अभाव में बाह्य व्यक्तित्व बहुत ज्यादा प्रभावी नहीं होता अत: आवश्यक है बाह्य व्यक्तित्व के साथ-साथ आंतरिक व्यक्तित्व के विकास पर भी ध्यान दिया जाए। आंतरिक व्यक्तित्व के विकास का एक महत्त्वपूर्ण उपाय है – ध्यान। वर्षों की सघन साधना के बाद आचार्य महाप्रज्ञजी ने आगमों पर आधारित एक वैज्ञानिक ध्यान-पद्धति की प्रक्रिया प्रस्तुत की, जिसे प्रेक्षाध्यान के नाम से जाना जाता है। प्रेक्षाध्यान सर्वांगीण विकास की प्रक्रिया है। सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक है समय का सदुपयोग, लक्ष्य का निर्धारण, अच्छा स्वास्थ्य, तनावमुक्ति, व्यसनमुक्ति और कषायमुक्ति। प्रेक्षाध्यान के प्रयोगों द्वारा इनका प्रबन्धन किया जा सकता है।

१. प्रेक्षाध्यान : स्वरूप और उद्देश्य

प्रेक्षा : अर्थ व्यंजना

'प्रेक्षा' शब्द ईक्ष धातु से बना है। इसका अर्थ है – देखना। प्र + ईक्षा = प्रेक्षा। इसका अर्थ है गहराई में उतर कर देखना। प्रेक्षाध्यान पद्धति केवलदर्शन और केवलज्ञान की पद्धति है। समाधि और सामायिक की पद्धति है। दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है – **'संपिक्खए अप्पगमप्पएणं'** आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो। 'देखना' ध्यान का मूल तत्त्व है, इसलिए इस ध्यान-पद्धति का नाम प्रेक्षाध्यान रखा गया है। आचार्य महाप्रज्ञजी लिखते हैं – भगवान महावीर ने साधना के जो सूत्र दिए हैं, उनमें 'जानो' और 'देखो' ही मुख्य है। चिन्तन, विचार या पर्यालोचन करो – यह बहुत गौण और प्रारम्भिक है। ये साधना के क्षेत्र में बहुत आगे नहीं ले जाते। 'आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो' – यह अध्यात्म चेतना के जागरण का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। इसका अभ्यास हम श्वास से प्रारम्भ करते हैं। श्वास शरीर का ही एक अंग है। इसलिए सर्वप्रथम श्वास को देखें। शरीर के भीतर होने वाले स्पन्दनों, कंपनों, हलचलों और घटनाओं को देखें। इन्हें देखते-देखते मन पटु हो जाता है, सूक्ष्म हो जाता है। भीतर जो वृत्तियाँ या संस्कार हैं, जब वे उभरते हैं, तब उनके स्पन्दन स्पष्ट होने लग जाते हैं।

प्रेक्षाध्यान का ध्येय

'संपिक्खए अप्पगमप्पएणं' आत्मा के द्वारा आत्मा को देखें, यह प्रेक्षाध्यान पद्धति का ध्येय सूत्र है। विचारों के सिलसिले को रोकने का प्रथम एवं अन्तिम साधन है – देखना। भगवान महावीर की साधना का यही मुख्य सूत्र है। विचार या पर्यालोचन साधना के क्षेत्र में बहुत आगे नहीं ले जा सकते। ये प्रारम्भिक बिन्दु हो सकते हैं। दर्शन इससे आगे की भूमिका है। यहां देखने का तात्पर्य है – राग-द्वेष रहित होकर, तटस्थ भाव से गहराई में उतरकर देखना। खुली आँखों से नहीं बंद आँखों से देखना। देखने की क्रिया में केवल चैतन्य जागृत रहता है।

प्रेक्षाध्यान का मुख्य ध्येय – आध्यात्मिक विकास है। आचार्य महप्रज्ञजी के शब्दों में आध्यात्मिक विकास की अनेक रेखाएँ हैं, यथा –

१. मन को निर्मल करना।
२. सुप्त चेतना और शक्ति को जागृत करना।
३. वर्तमान में रहने का अभ्यास करना।
४. मस्तिष्क की तरंगों पर नियंत्रण करना।
५. स्वत: चालित नाड़ी संस्थान पर नियंत्रण करना।
६. विपाक या अन्त:स्रावी रसायनों पर नियंत्रण करना।
७. प्राणशक्ति का विकास, प्राण का ऐच्छिक प्रेषण करना।

प्रेक्षाध्यान की उपसंपदा

ध्यान की साधना काल-प्रतिबद्ध है। व्यक्ति एक घंटा, दो घंटा, चार-पांच घंटा ध्यान कर सकता है, चौबीस घंटे नहीं। आचार्य महाप्रज्ञजी ने साधना की एक ऐसी प्रक्रिया भी हमारे सामने प्रस्तुत की, जिसका अभ्यास और प्रयोग चौबीस घंटे किया जा सकता है, वह है उपसंपदा की साधना। उपसंपदा का अभ्यास ध्यान-साधना की पृष्ठभूमि है। उपसंपदा के पांच सूत्र बतलाए गए हैं – १. भावक्रिया, २. प्रतिक्रियाविरति, ३. मैत्री, ४. मित-आहार, ५. मित-भाषण।

१. भावक्रिया

जिस क्रियाकाल में जो भाव है, वह भाव पूर्ण क्रियाकाल में बना रहे। इसी का नाम भावक्रिया है। भावक्रिया के तीन अर्थ उपलब्ध होते हैं – १. वर्तमान में रहना, २. जानते हुए करना, ३. सतत अप्रमत्त रहना।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

१. वर्तमान में रहना – भावक्रिया का पहला अर्थ है – वर्तमान में रहना। वर्तमान में रहने का अर्थ है क्रिया के साथ भावधारा और मन का संयोजन बनाए रखना। यदि क्रियाकाल में भावक्रिया न रहे और मन अन्यत्र चक्कर लगाता रहे तो उस स्थिति में क्रिया, भाव और मन का वियोजन होने से तनाव पैदा होता है। कार्य में सफलता भी नहीं मिलती है।

२. जानते हुए करना – भावक्रिया का दूसरा अर्थ है – जो कार्य करें, जानते हुए करें अर्थात् क्रियाकाल में मन, की जाने वाली क्रिया में लगा रहे।

३. सतत अप्रमत्त रहना – भावक्रिया का तीसरा अर्थ है – ध्येय के प्रति सतत अप्रमत्त और जागरूक रहना। जिस क्रिया का प्रारम्भ किया है, आदि से अन्त तक उस कार्य की स्मृति बनी रहना।

वर्तमान में अधिकांश व्यक्ति केवल क्रिया नहीं करते उसके साथ अनेक धारणाएँ काम करती हैं, जिसके कारण हम उसे पूर्णता से नहीं कर पाते। इसलिए सफलता की साधना का बहुत बड़ा सूत्र है – भावक्रिया। केवल करना, केवल देखना, केवल चलना, दूसरा कोइ विचार-विकल्प नहीं। भावक्रिया करने पर एकाग्रता रहती है, शक्ति का कम खर्च होता है, तनाव कम पैदा होता है।

२. प्रतिक्रिया विरति

उपसंपदा का दूसरा सूत्र है – क्रिया करना, प्रतिक्रिया नहीं करना। आज व्यक्ति क्रिया कम करता है, प्रतिक्रिया ज्यादा करता है। स्वतंत्र चेतना से देखना या सुनना ही स्वतंत्र क्रिया है किन्तु हमारे भीतर स्थित संस्कार प्रतिक्रिया पैदा करते हैं। आचार्य महाप्रज्ञजी लिखते हैं – क्रिया, प्रतिक्रिया और विक्रिया – ये तीन शब्द प्रवृत्ति से जुड़े हुए हैं। जहाँ-जहाँ चित्त शुद्धि से शून्य क्रिया होती है, वहाँ-वहाँ प्रतिक्रिया होती है और जहाँ-जहाँ प्रतिक्रिया होती है, वहाँ-वहाँ विक्रिया भी निश्चित होती है। जहाँ कषाय की प्रबलता होती है, वहाँ प्रतिक्रिया की एक शृंखला बन जाती है और जहाँ कषाय उपशान्त होता है, वहाँ प्रतिक्रिया होती है, किन्तु उसकी शृंखला नहीं बन पाती। वह प्रतिक्रिया शीघ्र ही अप्रतिक्रिया में बदल जाती है। प्रतिक्रिया कायिक, वाचिक और मानसिक – इन तीनों स्तरों पर होती है। वह अनुकूल और प्रतिकूल – दोनों प्रकार की होती है। मनोविज्ञान ने प्रतिक्रिया को आंतरिक और बाह्य व्यक्तित्व का समायोजन माना है। उद्दीपनों के कारण भीतर में कोई प्रज्वलन होता है और व्यक्ति बाहर में प्रतिक्रिया कर लेता है। प्रतिक्रिया का आंतरिक कारण कषाय की प्रबलता है। बाह्य कारण पदार्थ, परिस्थिति आदि प्रतिक्रिया के उद्दीपन बनते हैं। कषाय और उद्दीपन – दोनों का योग होने पर प्रतिक्रिया अनन्त बन जाती है। अत: निष्पत्ति पर विचार करना चाहिए। इसी तथ्य को लक्ष्य कर उपाध्याय विनयविजयजी ने लिखा – किसी व्यक्ति के द्वारा अहित किए जाने पर हुई प्रतिक्रिया को लंबाओ मत। यह सोचो, थोड़े से जीवन के लिए दूसरों के प्रति शत्रु बुद्धि रखकर क्यों खिन्न बनूँ?

३. मैत्री

उपसंपदा का तीसरा सूत्र है – मैत्री। आचार्य महाप्रज्ञजी लिखते हैं – मित्र और शुत्र – ये दोनों व्यवहार की भूमिका पर चलने वाले शब्द हैं। प्रिय व्यक्ति मित्र और अप्रिय व्यक्ति शत्रु बन जाता है। अध्यात्म की भाषा में मित्र का अर्थ है – हितचिन्तक और मैत्री का अर्थ है – हितचिन्तन। दूसरे के अहित का चिन्तन करने वाला ध्यान का अधिकारी नहीं हो सकता। इसलिए ध्यान साधना के साथ-साथ मैत्री का अभ्यास आवश्यक है। मैत्री का अर्थ है – सबमें आत्मौपम्य बुद्धि का विकास, आत्मानुभूति का विकास। जैसी आत्मा मेरे में है, वैसी ही आत्मा दूसरे में है। इस प्रकार की आत्मतुला का अनुभव ही यथार्थ रूप में मैत्री है।

४. मिताहार

उपसंपदा का चौथा सूत्र है – मिताहार। साधना में परिमित भोजन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतिमात्रा में भोजन करने वाला साधना के क्षेत्र में आगे नहीं बढ सकता क्योंकि भोजन का प्रभाव केवल शरीर पर ही नहीं मन, भाव और आत्मा पर भी पडता है अत: आहार का संबंध केवल शरीर को पोषण और जीभ को स्वाद देने से नही अपितु आत्मशक्तियों को जागृत करने से है। इसलिए कौन-सा भोजन क्या परिणाम लाएगा, यह विवेक होना आवश्यक है। हमारा भोजन कैसा होना चाहिए, इस संदर्भ में आचार्य महाप्रज्ञजी लिखते हैं – जिस भोजन से शारीरिक विकास, मानसिक स्वास्थ्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, चित्तवृत्ति का परिमार्जन – इन पाँचों का विकास हो, वही भोजन करणीय है। साधना का मूल प्रयोजन है – रूपान्तरण। रूपान्तरण के लिए आहार-शुद्धि का अभ्यास आवश्यक है।

५. मितभाषण

उपसंपदा का पांचवां सूत्र है – मितभाषण या मौन। भाषा हमारे व्यवहार का माध्यम बनती है इसलिए उसके महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता, किंतु कम बोलना साधना है। साधना की दृष्टि से इसके महत्त्व को उजागर करते हुए आचार्य महाप्रज्ञजी लिखते हैं – भाषा चंचलता बढ़ाने वाली है। जो अचंचल होने की साधना करना चाहते हैं, उनके लिए यथावकाश, यथोचित वाणी का संयम आवश्यक है। मित भाषण उसी का प्रयोग है। भगवान महावीर ने भी मौन (वचन गुप्ति) के महत्त्व को बताते हुए लिखा – वचनगुप्ति के द्वारा मनुष्य निर्विचारता को प्राप्त करता है। सामुदायिक जीवन में जीवन भर मौन कर पाना संभव नहीं है किंतु भाषा का विवेक करना आवश्यक है। भाषा के संदर्भ में दसवैकालिक में सूत्र कहा गया – **मियं अदुट्ठं अणुवीइ भासए** अर्थात्

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

परिमित और निर्दोष वाणी को सोच-विचार कर बोलें। भाषा विवेक को जागृत करने के लिए कहा गया – बिना पूछे न बोलें, दो व्यक्ति बात कर रहे हों उनके बीच में न बोलें, चुगली न खाएँ और मायामृषा रूप भाषा का वर्जन करें।

प्रेक्षाध्यान के अंग

प्रेक्षाध्यान का स्वरूप है – सतत आत्मा के प्रति जागरूक रहना, अप्रमत्त रहना। भगवान महावीर की समग्र साधना अप्रमाद की साधना थी। अप्रमाद की साधना के सूत्र आगमों में यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं किन्तु उनकी विधियाँ नहीं मिलती। आचार्य महाप्रज्ञजी ने उन आलंबन सूत्रों और उनकी विधियों को प्रेक्षाध्यान के अन्तर्गत व्यवस्थित रूप दिया और प्रेक्षाध्यान के अन्तर्गत आठ मुख्य, चार सहायक एवं तीन विशिष्ट अंगों की चर्चा की। प्रेक्षाध्यान के मुख्य अंग हैं – १. कायोत्सर्ग, २. अन्तर्यात्रा, ३. श्वासप्रेक्षा, ४. शरीरप्रेक्षा, ५. चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा, ६. लेश्याध्यान, ७. अनुप्रेक्षा, ८. भावना।

प्रेक्षाध्यान के सहायक अंग चार हैं – १. ध्वनि (जप), २. मुद्रा, ३. आसन, ४. प्राणायाम।

प्रेक्षाध्यान के विशिष्ट अंग तीन हैं – १. वर्तमान क्षण की प्रेक्षा, २. विचार प्रेक्षा और ३. अनिमेष प्रेक्षा।

प्रेक्षाध्यान के मुख्य अंग

प्रेक्षाध्यान के मुख्य अंग आठ हैं –

१. कायोत्सर्ग

प्रेक्षाध्यान का प्रथम अंग है – कायोत्सर्ग। कायोत्सर्ग दो शब्दों से बना है – काय + उत्सर्ग। इसका शाब्दिक अर्थ है – चैतन्य के जागरण के साथ शरीर का उत्सर्ग। एक जीवित व्यक्ति शरीर का उत्सर्ग नहीं कर सकता। यहाँ उत्सर्ग का मतलब शरीर के प्रति होने वाली मूर्च्छा के त्याग से है। उसका प्रायोगिक अर्थ है – शिथिलीकरण, श्वास को शांत करना, शरीर की चेष्टाओं को शान्त करना, मन को खाली करना। शरीर की सभी स्थूल प्रवृत्तियों को संकल्पपूर्वक छोड़ देना। ध्यान में प्रवेश के लिए पहली शर्त है – शरीर की स्थिरता। कायोत्सर्ग से शरीर स्थिर होता है। इसलिए प्रत्येक ध्यान से पूर्व कायोत्सर्ग का अभ्यास किया जाता है। इसमें पैर के अंगूठे से लेकर सिर तक प्रत्येक अवयव पर चित्त को एकाग्र कर स्वत: सूचना (Auto suggestion) द्वारा पूरे शरीर को शिथिल किया जाता है। शिथिलीकरण के बाद आत्मा और शरीर की भिन्नता का अनुभव किया जाता है। शारीरिक तनाव से मुक्ति पाने के लिए कायोत्सर्ग का अभ्यास बहुत जरूरी है। दो घंटे तक सोने से शरीर एवं मांसपेशियों को जो आराम नहीं मिलता उतना विश्राम आधे घंटे विधिवत् कायोत्सर्ग करने से मिल जाता है, बल्कि उससे अधिक विश्राम मिल जाता है।

२. अन्तर्यात्रा

प्रेक्षाध्यान का दूसरा अंग है – अन्तर्यात्रा। यह अन्तर्मुख होने का महत्त्वपूर्ण उपाय है। ध्यान की साधना में नाड़ी तंत्र की प्राणशक्ति को विकसित करना आवश्यक होता है। हमारे नाड़ी तंत्र के तीन भाग हैं – अनुकंपी, परानुकंपी और केन्द्रीय नाड़ी संस्थान। केन्द्रीय नाड़ी संस्थान का मुख्य स्थान है – सुषुम्ना। सुषुम्ना में चेतना के प्रवेश का नाम ही अन्तर्यात्रा है। सुषुम्ना के नीचे का छोर शक्तिकेन्द्र ऊर्जा या प्राणशक्ति का मुख्य केन्द्र है। अन्तर्यात्रा में चित्त को शक्तिकेन्द्र से सुषुम्ना के मार्ग से ज्ञानकेन्द्र तक ले जाना होता है। चेतना की इस अन्तर्यात्रा से ऊर्जा का प्रवाह या प्राण की गति ऊर्ध्वगामी होती है तथा इस यात्रा की अनेक आवृत्तियों से नाड़ीतंत्र की प्राणशक्ति विकसित होती है।

अन्तर्यात्रा कैसे करें ?

अन्तर्यात्रा में चित्त को बाह्य विषयों से हटाकर शक्तिकेन्द्र पर लाना होता है। उसके बाद उसे सुषुम्ना मार्ग से ज्ञानकेन्द्र तक ले जाना होता है। चित्त के द्वारा प्राणधारा का ऊर्ध्वारोहण इस यात्रा का उद्देश्य है। ज्ञानकेन्द्र से फिर चित्त को उसी मार्ग से शक्तिकेन्द्र तक लाया जाता है और पुन: प्राणधारा के ऊर्ध्वारोहण हेतु ज्ञानकेन्द्र तक पहुँचाया जाता है। शक्तिकेन्द्र शक्ति का अक्षय केन्द्र है। मस्तिष्क को जिस प्राण ऊर्जा की जरूरत रहती है, वह अन्तर्यात्रा के इस प्रयोग से ऊर्ध्वारोहित होकर वहां पहुंच जाती है। इस क्रम को एक उदाहरण से समझा जा सकता है। जिस प्रकार व्यक्ति कुंए से पानी निकालने के लिए बाल्टी को माध्यम बनाता है। बाल्टी नीचे जाती है और अपने भीतर पानी भरकर ऊपर आ जाती है। वहाँ खाली होकर पुन: कुंए में जाकर पानी ले आती है। बाल्टी के यातायात से व्यक्ति को पर्याप्त पानी उपलब्ध हो जाता है। इसी प्रकार चित्त प्राण ऊर्जा को मस्तिष्क तक पहुँचाने में बाल्टी का काम करता है। इससे शक्ति का ऊर्ध्वारोहण होता है।

३. श्वासप्रेक्षा

प्रेक्षाध्यान का तीसरा अंग है – श्वासप्रेक्षा। हमारी सारी शक्तियों का प्रतिनिधि श्वास है। 'श्वास ही जीवन है' – यह तथ्य व्यक्त करता है कि जीवन श्वास के आधार पर संचालित है अत: प्रेक्षाध्यान प्रक्रिया में इसको आधारभूत रूप में ग्रहण किया गया है। श्वास का मूल्यांकन करते हुए आचार्य महाप्रज्ञजी लिखते हैं – प्राणी के पास चार उपकरण हैं – शरीर, वाणी, मन और श्वास। ये चारों ही चंचल हैं। जब तक इनकी चंचलता है, समाधि तक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

नहीं पहुँचा जा सकता। समाधि की साधना करने वाले साधक को सबसे पहले श्वास का मूल्यांकन करना चाहिए। श्वास को लंबा करने से वह शांत एवं नियंत्रित होता है। श्वास के नियंत्रित होने से मन, वचन, शरीर स्वत: स्थिर हो जाते हैं। उनकी चंचलता स्वत: समाप्त हो जाती है।

श्वासप्रेक्षा के तीन प्रकार

श्वास प्रेक्षा का प्रयोग मुख्य रूप से तीन प्रकार से किया जाता है – १. दीर्घ श्वासप्रेक्षा, २. लयबद्ध दीर्घश्वास प्रेक्षा, ३. समवृत्ति श्वासप्रेक्षा।

१. दीर्घश्वास प्रेक्षा – श्वास की गति को मन्द करें। धीरे-धीरे लम्बा श्वास लें, धीरे-धीरे लम्बा श्वास छोड़ें। श्वास के कम्पन नाभि तक पहुँचे। श्वास लेते समय पेट की मांसपेशियाँ फूलती हैं, छोड़ते समय सिकुड़ती हैं। चित्त को नाभि पर केन्द्रित करें और पेट की मांसपेशियों के फूलने और सिकुड़ने का अनुभव करें। फिर चित्त को नाभि से हटाकर दोनों नथुनों के भीतर संधि स्थल पर केन्द्रित करें। आते-जाते प्रत्येक श्वास का अनुभव करें।

२. लयबद्ध दीर्घश्वास प्रेक्षा – श्वास को लयबद्ध करें। पहली बार श्वास को लेने और छोड़ने में जितना समय लगे, दूसरी बार, तीसरी बार भी उतना ही समय लगे। प्रत्येक श्वास को जानते हुए लें। जानते हुए छोड़ें।

३. समवृत्ति श्वास प्रेक्षा – श्वास की गति को मंद करें। धीरे-धीरे लम्बा श्वास लें। धीरे-धीरे लंबा श्वास छोड़ें। बाएँ नथुने से श्वास लें, दाएँ से निकालें, फिर दाएँ से लें और बाएँ से निकालें। संकल्प शक्ति के द्वारा ऐसा करें या फिर अंगुली और अंगूठे के सहारे करें। श्वास के साथ चित्त को जोड़ें। चित्त और श्वास दोनों साथ-साथ चलें। केवल श्वास का ही अनुभव करें।

४. शरीरप्रेक्षा

प्रेक्षाध्यान का चौथा अंग है – शरीर प्रेक्षा। साधना का मुख्य प्रयोजन है – आत्म-साक्षात्कार। आत्मा तक सीधा नहीं पहुंचा जा सकता है। वहाँ तक पहुँचने के लिए सर्वप्रथम शरीर में प्रवाहित प्राण के प्रवाह को तथा सूक्ष्म और सूक्ष्मतम शरीर के रहस्यों को समझना जरूरी है। आत्मदर्शन का पहला उपाय है – शरीर को देखना। शरीर प्रेक्षा बाहर से भीतर की ओर जाने की प्रक्रिया है। इसमें पहले शरीर के स्थूल प्रकंपनों का साक्षात्कार करते हैं, फिर शरीर के भीतर होने वाले सूक्ष्म परिणामों का, रसायनों का साक्षात्कार करते हैं। फिर शरीर को संचालित करने वाली विद्युत का, संचालित करने वाली प्राणधारा का साक्षात्कार करते हैं। इन सबका साक्षात्कार होने पर सूक्ष्म शरीर और अतिसूक्ष्म शरीर (कर्म शरीर) के प्रकंपनों का साक्षात्कार होने लगता है और अन्ततोगत्वा आत्मा का साक्षात्कार होता है।

५. चैतन्द्रकेन्द्र प्रेक्षा

प्रेक्षाध्यान का पांचवां अंग है – चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा। जैन दर्शन के अनुसार चैतन्य पूरे शरीर में व्याप्त है। पूरा नाड़ी-तंत्र चैतन्य से ओतप्रोत है। फिर भी शरीर के कुछ भाग ऐसे हैं, जहाँ चैतन्य विरल रूप में व्याप्त है और कुछ अवयव ऐसे हैं, जहाँ चैतन्य सघन रूप में व्याप्त है। जहाँ चैतन्य सघन होता है, वह स्थान आयुर्वेद की भाषा में मर्मस्थान और हठयोग की भाषा में चक्र कहलाता है। आज के शरीर-शास्त्री उन्हें ग्लैण्ड्स कहते हैं। जापान में प्रचलित बौद्ध पद्धति 'जूडो' में उन्हें क्यूसोस (Kyushos) कहते हैं। प्रेक्षाध्यान की पद्धति में उसे चैतन्य केन्द्र कहा जाता है। ये चैतन्य केन्द्र तेरह हैं –

क्र.	चैतन्य केन्द्र	किस ग्रंथि से संबंध	योग चक्र	स्थान
१.	शक्तिकेन्द्र	गोनाड्स	मूलाधार चक्र	पृष्ठरज्जु के नीचे छोर पर
२.	स्वास्थ्यकेन्द्र	गोनाड्स	स्वाधिष्ठान चक्र	पेडु (नाभि से चार अंगुल नीचे)
३.	तैजसकेन्द्र	एड्रीनल, पेन्क्रियाज	मणिपुर चक्र	नाभि
४.	आनन्दकेन्द्र	थायमस	अनाहत चक्र	हृदय के पास बिल्कुल बीच में
५.	विशुद्धिकेन्द्र	थाइराइड,पेराथाइराइड	विशुद्धि चक्र	कंठ के मध्य भाग में
६.	ब्रह्मकेन्द्र	रसनेन्द्रिय	–	जिह्वाग्र
७.	प्राणकेन्द्र	घ्राणेन्द्रिय	–	नासाग्र
८.	चाक्षुषकेन्द्र	चक्षुरिन्द्रिय	–	आँखों के भीतर
९.	अप्रमादकेन्द्र	श्रोत्रेन्द्रिय	–	कानों के भीतर
१०.	दर्शनकेन्द्र	पिच्यूटरी	आज्ञा चक्र	भृकुटियों के मध्य में
११.	ज्योतिकेन्द्र	पाइनियल	सहस्रार चक्र	ललाट के मध्य में
१२.	शांतिकेन्द्र	हाइपोथेलेमस	–	मस्तिष्क का अग्र भाग
१३.	ज्ञानकेन्द्र	बृहद् मस्तिष्क	–	सिर के ऊपर का भाग (चोटी का स्थान)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

चैतन्यकेन्द्रों को जागृत करने की सरल पद्धति यह है – जिस केन्द्र को जागृत करना चाहें, उस केन्द्र पर मन को एकाग्र करें। वहाँ होने वाले प्राण के प्रकम्पनों का अनुभव करें। उस केन्द्र पर मन जितना अधिक एकाग्र होगा, वह केन्द्र उतना ही जागृत हो जाएगा। हमें किस केन्द्र को जागृत करना है, यह हमारे लक्ष्य पर निर्भर करता है।

६. लेश्याध्यान

प्रेक्षाध्यान का छठा अंग है – लेश्याध्यान। लेश्या हमारी चेतना की एक रश्मि है। लेश्या का अर्थ है – रंग, भावधारा, आभामण्डल। रंग और भावधारा में घनिष्ठ संबंध हैं। जैसा रंग वैसा भाव, जैसा भाव वैसा रंग।

लेश्याध्यान की प्रक्रिया

लेश्या ध्यान रंगों का ध्यान है। इसमें आनन्द केन्द्र पर हरे रंग का ध्यान किया जाता है, इससे भावधारा निर्मल होती है। विशुद्धि केन्द्र पर नीले रंग का ध्यान किया जाता है, इससे वासनाएँ अनुशासित होती हैं। दर्शन केन्द्र पर अरुण रंग (उगते सूर्य) का ध्यान किया जाता है। इससे अन्तर्दृष्टि जागृत होती है। ज्ञान केन्द्र पर पीले रंग का ध्यान किया जाता है, इससे ज्ञानतंतु विकसित होते हैं। ज्योति केन्द्र पर श्वेत रंग का ध्यान किया जाता है, इससे आवेश, आवेग, क्रोध आदि भाव शांत होते हैं। इसकी प्रक्रिया इस प्रकार है –

आनन्द केन्द्र पर हरे रंग का ध्यान करते समय सर्वप्रथम यह अनुभव करना होता है कि अपने चारों ओर हरे रंग का प्रकाश फैल रहा है। फिर हरे रंग का श्वास लें और अनुभव करें कि प्रत्येक श्वास के साथ हरे रंग के परमाणु शरीर के भीतर प्रवेश कर रहे हैं। उसके बाद चित्त को आनन्द केन्द्र पर केन्द्रित कर चमकते हुए हरे रंग का ध्यान करें। फिर कुछ समय बाद यह अनुभव करें कि आनन्द केन्द्र से हरे रंग के परमाणु निकलकर शरीर के चारों ओर फैल रहे हैं। उन्हें देखें और अनुभव करें कि भावधारा निर्मल हो रही है। इस प्रकार क्रमशः अलग-अलग चैतन्य केन्द्रों पर निर्धारित रंगों का ध्यान और अनुचिन्तन करना होता है। सबकी प्रक्रिया समान है।

७-८. अनुप्रेक्षा-भावना

प्रेक्षाध्यान का अंतिम अंग है – अनुप्रेक्षा-भावना। प्रेक्षाध्यान साधना पद्धति में दो महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं – प्रेक्षा और अनुप्रेक्षा। प्रेक्षा का अर्थ है निर्विचार होकर केवल देखना और अनुप्रेक्षा का अर्थ है – ध्यान में जो कुछ देखा उस पर बार-बार विचार करना। सच्चाइयों का ज्ञान करने के लिए प्रेक्षा बहुत महत्त्वपूर्ण है, किन्तु आदतों को बदलने के लिए अनुप्रेक्षा जरूरी है। आधुनिक विज्ञान की भाषा में इसे 'सजेस्टोलॉजी' कहा जा सकता है। अनुप्रेक्षा का प्रयोग सुझाव पद्धति का प्रयोग है। यह 'ऑटोसजेशन' स्वयं को स्वयं के द्वारा सुझाव देने की पद्धति है।

प्रेक्षाध्यान के सहायक अंग

प्रेक्षाध्यान के सहायक अंग चार हैं – १. आसन, २. प्राणायाम, ३. मुद्रा, ४. ध्वनि।

१. आसन – शरीर को स्वस्थ रखने का एक प्रयोग है – आसन। प्रेक्षाध्यान की साधना के लिए प्रतिदिन आसन करना आवश्यक है, क्योंकि जब तक शरीर को नहीं साधा जाता और एक आसन में स्थिरता से बैठने का अभ्यास नहीं होता तब तक ध्यान की गहराई में नहीं उतरा जा सकता। ध्यान की गहराई में जाने के लिए आसन सिद्ध करना अनिवार्य है। आसनों का लगातार अभ्यास शरीर को जरा, व्याधि और इन्द्रिय क्षीणता से भी बचाए रखता है। शरीर स्वस्थ रहने पर साधना सुगम हो जाती है।

आसन के लाभ – आसन का हमारे शरीर के कई तन्त्रों पर प्रभाव पड़ता है। इससे अस्थितंत्र, मांसपेशी तंत्र, पाचन तंत्र, रक्तपरिसंचरण तंत्र, नाड़ीतंत्र तथा अन्तःस्रावी ग्रंथितंत्र प्रभावित होते हैं। आसन हमारे शरीर के विजातीय तत्त्वों का निष्कासन करता है। शरीर के सभी अवयवों को स्वस्थ बनाता है। शक्ति का ऊर्ध्वारोहण तथा चिन्तन की चंचलता को कम करता है।

२. प्राणायाम – प्रेक्षाध्यान का दूसरा सहायक अंग प्राणायाम है। श्वास पर नियंत्रण किये बिना वृत्तियों और भावों का परिष्कार नहीं हो सकता। हमारी जितनी वृत्तियाँ हैं, चाहे वे निषेधात्मक हो या विधेयात्मक, सबके साथ श्वास का संबंध है। लम्बा, दीर्घ श्वास होने पर विधेयात्मक भावों का जन्म होता है। छोटा श्वास होने पर निषेधात्मक भावों का जन्म होता है। प्राणायाम हमारे श्वास को नियंत्रित करता है। इड़ा और पिंगला का संतुलन भी प्राणायाम के माध्यम से होता है, जिससे वृत्तियों और भावों का परिष्कार होता है। अतः प्राणायाम का भी प्रेक्षाध्यान में बहुत महत्त्व है।

प्राणायाम के लाभ – प्राणायाम के अनेक लाभ हैं। इससे फेफड़ों की क्षमता का विकास होता है। मानसिक शक्ति का विकास होता है। स्मृति विकास एवं प्रज्ञा का जागरण होता है। नाड़ियों का शोधन होती है तथा आयुष्य दीर्घ होता है।

३. मुद्रा – प्रेक्षाध्यान भाव-परिवर्तन की एक प्रक्रिया है। जैसे हमारे भाव होते हैं, वैसी हमारे शरीर की मुद्राएँ बनती हैं। अगर हम आलस्य में हैं तो शरीर की वैसी मुद्रा बनेगी। अगर शोक में हैं तो वैसी मुद्रा बनेगी। इस प्रकार प्रसन्नता, जल्दबाजी, धैर्य, क्रोध, लोभ, घृणा आदि जितने भी भाव हैं, उतनी ही उनकी मुद्राएँ स्पष्टतया शरीर पर दृष्टिगोचर होने लगती हैं। प्रेक्षाध्यान का एक उद्देश्य है – निषेधात्मक भावों का निरसन और विधेयात्मक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

भावों का विकास। अगर हम विधेयात्मक भावों की मुद्राएँ ध्यान-काल में अथवा जीवन में निरन्तर काम में लें तो भीतर में हमारे भाव भी उसी अनुपात में बदलने लगते हैं, इसलिए प्रेक्षाध्यान साधना में जिस प्रकार आसनों का महत्त्व है, उसी प्रकार मुद्राओं का भी महत्त्व है।

४. ध्वनि – प्रेक्षाध्यान केवल एकाग्रता का प्रयोग ही नहीं हैं, वह जीवन का समग्र दर्शन है। उसमें ध्यान से पूर्व अर्हम्, ओम् और महाप्राण ध्वनि के प्रयोग विशेष रूप से करवाए जाते हैं। इन ध्वनियों के प्रभाव से मन की चंचलता समाप्त होती है, आस-पास का वातावरण ध्यान योग्य बन जाता है। आचार्य महाप्रज्ञजी लिखते हैं – ध्वनियों के प्रयोग से हमारे चारों ओर कवच का निर्माण हो जाता है। इससे बाहर का प्रभाव संक्रान्त नहीं होता। ध्यान-साधना में कोई बाधा नहीं आती है।

प्रेक्षाध्यान के विशिष्ट अंग

प्रेक्षाध्यान के विशिष्ट अंग तीन हैं – १. वर्तमान क्षण की प्रेक्षा, २. विचार-प्रेक्षा, ३. अनिमेष-प्रेक्षा।

१. वर्तमान क्षण की प्रेक्षा – भगवान महावीर ने कहा – **खणं जाणाहि पंडिए** अर्थात् वर्तमान क्षण को जानो। आचार्य महाप्रज्ञजी के शब्दों में – वर्तमान क्षण का अनुभव करने वाला स्मृति और कल्पना – दोनों से बच जाता है। स्मृति और कल्पना राग-द्वेष युक्त चित्त का निर्माण करती है। वर्तमान क्षण का अनुभव करने वाला सहज ही राग-द्वेष से बच जाता है। यह राग-द्वेष शून्य वर्तमान क्षण ही संवर है। इससे अतीत में अर्जित कर्म-संस्कार के बंध का निरोध होता है। इस प्रकार वर्तमान क्षण में जीने वाला अतीत का प्रतिक्रमण, वर्तमान का संवरण और भविष्य का प्रत्याख्यान करता है।

२. विचार-प्रेक्षा – समग्र साधना का उद्देश्य है हम चैतन्य की स्वाभाविक क्रिया करें। केवल जानें और केवल देखें। किन्तु जब तक मन की चंचलता है, विचारों का प्रवाह आता रहता है, मन की एकाग्रता नहीं सधती। एकाग्रता के अभाव में ज्ञाता-द्रष्टा भाव की साधना फलीभूत नहीं होती। आचार्य महाप्रज्ञजी ने विचार की उत्पत्ति के मुख्य चार हेतु माने हैं – वस्तुदर्शन, स्मृति, कल्पना, परिस्थिति। विचार चंचलता पैदा करते हैं अत: विचार-प्रेक्षा करना साधना का एक विशिष्ट अंग है। क्योंकि जब हम विचारों के प्रवाह को देखना शुरू करते हैं तब धीरे-धीरे विचारों का प्रवाह रुक जाता है। हमारी दर्शन-शक्ति इतनी पटु हो जाती है कि हम दूसरों के विचार-प्रवाह को भी देखने लग जाते हैं। अत: विचारों को देखना ध्यान-साधना का एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है।

३. अनिमेष-प्रेक्षा – आचारांग सूत्र में उल्लेख मिलता है – भगवान महावीर प्रहर-प्रहर तक अपलक तिर्यक् भित्ति पर ध्यान करते थे। प्रेक्षाध्यान में भी अनिमेष प्रेक्षा का ध्यान कराया जाता है। किसी बिन्दु पर, दीवार पर, नासाग्र पर ध्यान केन्द्रित कर अपलक दृष्टि से देखना अनिमेष प्रेक्षा है। आचार्य महाप्रज्ञजी के अनुसार यह प्रयोग उन लोगों के लिए करणीय है, जो साधना का दीर्घकाल से अभ्यास कर रहे हैं। उनका मानना है यदि आधा घंटा तक अपलक दृष्टि से भींत को देखते रहें तो भींत निश्चित्र बन जाएगी। हम उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। अपने अनुभव की प्रस्तुति देते हुए वे लिखते हैं – मैंने एक चित्र सामने लेकर अनिमेष प्रेक्षा का प्रयोग किया। वह चित्र बीस मिनिट में ही विचित्र बन गया। उसी में से जितने रंग उभरे, जितने परिवर्तन आए, उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। अत: अनिमेष प्रेक्षा भी ध्यान का एक विशिष्ट अंग है।

प्रेक्षाध्यान का परिणाम

प्रेक्षाध्यान की साधना अनेक दृष्टियों से उपयोगी है। यद्यपि प्रेक्षाध्यान का मुख्य लक्ष्य आत्मसाक्षात्कार और समाधि की अवस्था को प्राप्त करना है किन्तु इसके शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक दृष्टि से भी स्वस्थता प्राप्त होती है।

शारीरिक दृष्टि से ग्रंथियों के स्रावों में परिवर्तन होता है। मानसिक दृष्टि से लाभ-अलाभ, मान-अपमान आदि सभी परिस्थितियों में संतुलन रख पाने की क्षमता जागृत होती है। भावनात्मक दृष्टि से अशुभ भावों का परिष्कार और शुभ भावों का निर्माण होता है। आचार्य महाप्रज्ञजी ने प्रेक्षाध्यान के परिणामों की विस्तृत चर्चा की है।

ध्यान के शारीरिक परिणाम

शारीरिक दृष्टि से प्रेक्षाध्यान के निम्नलिखित परिणाम हैं –

१. शरीर के सभी अवयव स्वस्थ एवं शक्ति सम्पन्न बनते हैं।

२. देह की जड़ता दूर होती है।

३. रोग-प्रतिरोधात्मक शक्ति का विकास होता है।

४. शरीर में जमे विजातीय तत्त्व निष्कासित होते हैं।

५. आरोग्य की प्राप्ति होती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

६. कार्यक्षमता बढ़ती है।

७. बुढ़ापे का निवारण होता है।

८. शरीर का कायाकल्प होता है।

९. ऑक्सीजन की खपत कम होती है।

ध्यान के मानसिक परिणाम

प्रेक्षाध्यान के मानसिक परिणाम निम्नलिखित हैं –

१. मानसिक शांति प्राप्त होती है।

२. मन की एकाग्रता सधती है।

३. अनुकूल-प्रतिकूल हर घटना में मानसिक संतुलन बना रहता है।

४. मन की चंचलता समाप्त होती है।

५. संकल्पशक्ति दृढ़ होती है।

६. मन सकारात्मक चिन्तन करता है।

ध्यान के आध्यात्मिक परिणाम

ध्यान के आध्यात्मिक परिणाम निम्नलिखित हैं –

१. ध्यान के द्वारा बहिर्मुखी प्रवृत्ति अन्तर्मुखी बनती है।

२. अतीन्द्रिय शक्ति का विकास होता है।

३. अशुभ भावों का परिष्कार और शुभ भावों का निर्माण होता है।

४. आत्मा और शरीर का भेदविज्ञान स्पष्ट होता है।

५. आनन्द का जागरण होता है।

६. चैतन्य केन्द्र निर्मल बनते हैं।

७. ज्ञाता-द्रष्टा भाव का विकास होता है।

८. वृत्तियाँ शान्त होती हैं।

९. समाधि की अवस्था प्राप्त होती है।

इस प्रकार प्रेक्षाध्यान एक सर्वांगीण और समृद्ध ध्यान पद्धति है।

२. समय-प्रबन्धन

आबालवृद्ध सभी की एक समस्या है कि हम करना बहुत कुछ चाहते हैं पर क्या करें समय नहीं है। समयाभाव की समस्या को समय प्रबन्धन के द्वारा समाहित किया जा सकता है। सभी को एक दिन में चौबीस घंटे का ही समय मिलता है। जो लोग समय के महत्त्व को जानकर उसका सही उपयोग करते हैं, वे अपने जीवन में बहुत कुछ कर लेते हैं और जो समय की कीमत को नहीं जानते वे व्यर्थ के कार्यों में समय को खो देते हैं। वास्तव में समस्या समय के अभाव की नहीं, उसके सही प्रबन्धन की है।

समय का महत्त्व

समय-प्रबन्धन व्यक्तित्व विकास का बहुत महत्त्वपूर्ण सूत्र है। समय के होने पर ही कुछ कार्य किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। कहा जाता है – "Time is money. व्यक्ति खोया हुआ स्वास्थ्य, भूली हुई विद्या, चोरी हुआ धन मेहनत से पुनः प्राप्त कर सकता है किन्तु जो समय बीत गया, उसे किसी भी कीमत पर पुनः प्राप्त नहीं किया जा सकता। आज व्यक्ति इस बात की तो चिन्ता करता है कि परीक्षा में फेल न हो जाए, व्यापार में घाटा न लग जाए, स्वास्थ्य खराब न हो जाए, ट्रेन छूट न जाए। फेल होने पर, घाटा लगने पर, स्वास्थ्य खराब होने पर उसे दुःख भी होता है। किन्तु आलस्य और बातों में समय के व्यर्थ बीत जाने पर वह उसकी चिन्ता नहीं करता। जीवन का प्रत्येक क्षण महत्त्वपूर्ण है। किसी भी क्षण का मूल्य न ज्यादा है और

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

न कम।

समय का प्रवाह निरन्तर बहता रहता है, हम उसके महत्त्व और कीमत को समझें या न समझें। समय के महत्त्व के सन्दर्भ में शेक्सपीयर की ये पंक्तियाँ बहुत मार्मिक हैं – ''पहले मैंने समय को नष्ट किया और अब यह समय मुझे नष्ट कर रहा है। आज व्यक्ति जो कुछ है – समय के कारण है। जिसने उसका सम्मान किया, उसको समय ने सम्मान दिलाया है। जिसने उसके महत्त्व को समझा है, समय ने उसके महत्त्व को स्थापित किया है।

समय का स्वरूप

प्रकृति में अनगिनत चीजें हैं – मिट्टी, हवा, प्रकाश, पानी, वनस्पति आदि-आदि। इनमें 'समय' सबसे अद्‌भुत एवं अलग तरह का तत्त्व है। इसकी विलक्षणता तीन तत्त्वों पर टिकी हुई है –

✻ समय को देखा नहीं जा सकता, जैसे – मिट्टी, पानी, प्रकाश आदि दिखाई देते हैं, वैसे समय हमें दिखाई नहीं देता। सुबह-शाम, सर्दी-गर्मी आदि रूपों में हम उसे महसूस कर सकते हैं पर देख नहीं सकते।

✻ समय को पकड़ा नहीं जा सकता। जिस प्रकार हवा को सिलेण्डर में बंद करके, सूर्य के प्रकाश को बैट्री में संचित करके रखा जा सकता है और जरूरत पड़ने पर उसका उपयोग किया जा सकता है, वैसे समय को पकड़कर नहीं रखा जा सकता। जो बीत गया, सो बीत गया।

✻ समय की गति को बदला नहीं जा सकता। हवा कभी तेज चलती है, कभी धीमी और कभी कुछ देर के लिए रुक भी जाती है। समय की गति में कोई परिवर्तन नहीं आता। वह हमेशा एक ही रफ्तार से गतिशील रहता है। कभी रुकता नहीं।

समय प्रबन्धन क्या ?

समय-प्रबन्धन का सीधा-सा अर्थ है – समय का इस प्रकार नियोजन करना कि उसका अधिक से अधिक लाभ उठा सकें। समय को हम अपने अनुकूल नहीं ढाल सकते अत: समय प्रबन्धन का अर्थ है –हम अपने आपको समय के अनुकूल ढाल लें। समय प्रबन्धन की ⊟-$gŸ`Xa [ ra^ rhmXr JB`Ÿ Time management is the management of self. समय-प्रबन्धन स्व-प्रबन्धन है।

आज व्यक्ति भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए समय का प्रबन्धन करता है पर स्वयं के जीवन के लिए समय का प्रबन्धन नहीं करता। स्वयं को खोकर यदि सब कुछ पा लिया तो उसका हमारे लिए कोई उपयोग नहीं अत: स्व-प्रबन्धन ही समय प्रबन्धन है।

समय-प्रबन्धन क्यों ?

व्यक्ति का जीवन बहुआयामी है। उसे पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, वैयक्तिक, धार्मिक सभी स्तरों पर अपनी जिम्मेदारियों का निर्वहन करना होता है। सभी का सम्यक् निर्वहन करने के लिए सभी क्षेत्रों में परस्पर समन्वय एवं संतुलन बनाने की आवश्यकता होती है। इस दृष्टि से सभी क्षेत्रों में समय का सही नियोजन बहुत जरूरी है अन्यथा सभी क्षेत्रों में समय-समय पर आने वाली अपेक्षाएँ, आवश्यकताएँ, जिम्मेदारियाँ सही समय पर पूरी नहीं हो सकती, जो अन्तत: असन्तोष, अशान्ति और असफलता का कारण बनती हैं। इस बहुआयामी जीवन में आनन्द से सारे कार्यों को निपटाने के लिए समय-प्रबन्धन बहुत उपयोगी बनता है।

समय प्रबन्धन कैसे ?

प्रबन्धन की दृष्टि से समय को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है –

✻ दैनिक जीवन के लिए समय,

✻ उद्देश्यपूर्ण जीवन के लिए समय,

✻ रिक्त समय (खाली समय)।

१. दैनिक जीवन के लिए समय – जीवन में कुछ क्रियाएँ प्रतिदिन करणीय होती हैं। उन्हें संचालित करना अनिवार्य होता है, जैसे – भोजन करना, नींद लेना, स्नान करना आदि। समय का लगभग ४० प्रतिशत भाग यानि प्रतिदिन नौ से दस घंटे का समय दैनिक जीवन के कार्यों में लग जाता है। इसमें छ:-सात घंटे सोने के निकाल दें और शेष तीन-चार घंटों में दैनिक क्रियाएँ – नहाना, खाना आदि अन्य छोटी-छोटी बातें शामिल हैं। इतना समय दैनिक कार्यों के लिए लगाना आवश्यक भी होता है। किन्तु इच्छा के कारण आवश्यकता से अधिक समय लगाना उचित नहीं, जैसे – सात मिनिट में स्नान किया जा सकता है पर साठ मिनिट का समय स्नान में लगाना उचित नहीं। पांच मिनिट में कॉलेज या ऑफिस जाने के लिए तैयार हुआ जा सकता है, वहाँ पचास मिनिट लगाने आवश्यक नहीं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इस प्रकार हमें अपने दैनिक जीवन के कार्यों में लगने वाले समय की जांच करनी चाहिए और जहाँ कहीं भी अनावश्यक रूप से समय लग रहा है, उसे रोका जाना चाहिए।

२. उद्देश्यपूर्ण जीवन के लिए समय – सभी के जीवन में छोटा या बड़ा कोई-न-कोई उद्देश्य अवश्य होता है। एक विद्यार्थी का उद्देश्य है – पढ़ाई करना। एक व्यवसायी का उद्देश्य है – अपने व्यापार में तरक्की करना। एक नौकरी-पेशा वाले व्यक्ति का उद्देश्य होता है – समय से कार्यालय में पहुँचकर अपना कार्य करना आदि। कुल मिलाकर हर व्यक्ति के साथ एक मुख्य उद्देश्य निश्चित रूप से जुड़ा रहता है। यदि कोई कुछ नहीं कर रहा है तो उसका भी उद्देश्य होगा – कुछ करने की तलाश करना। दैनिक आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद हमारे पास जो समय बचता है, उस समय को जीवन के उद्देश्य को पूरा करने में लगाना चाहिए। विद्यार्थी को अपना समय अध्ययन में, व्यापारी को अपना समय व्यापार में लगाना चाहिए। १० से ५ बजे तक स्कूल या दुकान में शारीरिक रूप से जाकर बैठना ही उद्देश्य पूरा करना नहीं होता अपितु उस समय में कार्य करते रहने से ही उद्देश्य पूरा होता है। इसलिए हमें उद्देश्यपूर्ण जीवन के समय के प्रति गंभीर होना चाहिए। समय का निर्धारण करने से पूर्व दो बातों का ध्यान रखना चाहिए –

१. उस उद्देश्य को पूरा करने के लिए प्रतिदिन कितने समय की आवश्यकता है ?

२. उसके लिए बिना परेशानी कितना समय दिया जाना संभव है

यदि उद्देश्य बहुत बड़ा बना लिया है और उसके अनुरूप समय नहीं दे पा रहे हैं तो यह असंतुलन हमें तनावग्रस्त कर सकता है। अत: उद्देश्य के अनुरूप समय का नियोजन भी करना चाहिए।

३. रिक्त समय – प्राय: समय-प्रबंधन की बात दैनिक जीवन के लिए समय तथा उद्देश्यपूर्ण जीवन के लिए समय के संदर्भ में ही अधिक आती है किन्तु हमें कम से कम ३० मिनिट का समय खाली रखना चाहिए, जिस समय में न हम दैनिक कार्य करें और न अपने उद्देश्य को पूरा करें। उस समय में खाली होकर बैठें और उस खाली समय में ध्यान करें, मन को एकाग्र कर निर्विचार अवस्था में जाएँ, अपनी आत्म-शक्तियों को जागृत करें। क्योंकि जीवन का उद्देश्य पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त करना, पैसा कमाना या मनोरंजन करना मात्र नहीं है। जीवन का अंतिम लक्ष्य तो आत्म-विकास करते-करते मोक्ष को प्राप्त करना है। संसार-चक्र से मुक्त होना है। इसलिए प्रतिदिन कुछ समय आत्मा की आराधना के लिए रिक्त रखना चाहिए। समय-प्रबन्धन का एक महत्त्वपूर्ण अर्थ यह भी है कि हम अपनी क्षमता को बढ़ायें। ध्यान आदि के द्वारा हमारी क्षमता बढ़ती है और हम कम समय में अधिक कार्य कर सकते हैं।

इस प्रकार अपने २४ घंटे के समय को इन तीन भागों में विभक्त करना चाहिए और जागरूकता के साथ समय का उपयोग करना चाहिए।

समय प्रबन्धन के सूत्र

बहुत बार व्यक्ति सोचता है कि हम समय का अधिक से अधिक सदुपयोग करेंगे लेकिन हमारे जीवन में कुछ तत्त्व ऐसे हैं, समय को व्यर्थ खो देते h¢dOÝh|Time-Wester कहते हैं। व्यक्ति अपना समय तीन स्तरों पर व्यर्थ करते हैं – १. व्यक्तिगत स्तर पर, २. पारिवारिक और सामाजिक स्तर पर, ३. व्यावसायिक स्तर पर।

*** व्यक्तिगत स्तर पर** – स्वयं से जुड़े कुछ व्यक्तिगत ऐसे कारण हैं जो हमारा समय बर्बाद करते हैं। उनमें मुख्य हैं – मूड का बिगड़ना, गलत आदतें, कमजोर स्वास्थ्य और आराम पसन्द जिन्दगी। ये ऐसे कारण हैं कि व्यक्ति इनमें अपना संतुलन नहीं रख पाता। संतुलन के अभाव में वह समय का सही सदुपयोग नहीं कर पाता। समय यूँ ही व्यर्थ चला जाता है।

*** पारिवारिक एवं सामाजिक स्तर पर** – समय नष्ट करने वाले इस प्रकार के कारकों में विशेष रूप से आते हैं – आगन्तुक (visitors), मित्रगण, अनुशासनहीनता, अव्यवस्थाएँ, निरर्थक सामाजिक गोष्ठियाँ और अनावश्यक आलोचनात्मक बैठकें। ये कुछ ऐसे कारक हैं जो समय को व्यर्थ करते हैं अत: व्यक्ति को चाहिए कि वह इन सबको संतुलित करें और अपने समय को बचायें।

*** व्यावसायिक स्तर पर** – व्यवसाय संबंधी समय नष्ट करने वाले कारकों में मुख्य हैं –अनावश्यक बैठकें, फोन का दुरुपयोग, अस्पष्ट संप्रेषण, ना कहने की अक्षमता, काम करने वाले कर्मचारी आदि।

ये कुछ ऐसे कारक तत्त्व हैं, जो चाहे-अनचाहे व्यक्ति का समय बबांद करते हैं। अत: समय का सदुपयोग करने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह अपना विश्लेषण करके देखे कि कहाँ-कहाँ उसका समय अनावश्यक लगता है और वह किस प्रकार उनसे बच सकता है।

१. लक्ष्य का निर्धारण – समय प्रबंधन का पहला सूत्र है – लक्ष्य का निर्धारण करें। जिस व्यक्ति के जीवन का कोई लक्ष्य नहीं होता वह अपने समय का सदुपयोग नहीं कर पाता। अपनी क्षमता और शक्ति के अनुरूप लक्ष्य का निर्धारण करने वाला ही समय का सही उपयोग कर सकता है।

२. जीवन की प्राथमिकताओं का निश्चय – जीवन में बहुत सारे कार्य करणीय होते हैं पर कौन-से कार्य को प्राथमिकता देनी है, यह निश्चय करना आवश्यक है। जो व्यक्ति प्राथमिकताओं का निश्चय नहीं करते, वे अनावश्यक कार्य करते रहते हैं और आवश्यक कार्य में अपना समय नहीं लगाते,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जिससे जो कार्य जिस समय में होना अनिवार्य था, वह नहीं हो पाता; जैसे – परीक्षा के समय पढ़ाई करना प्राथमिकता है किन्तु कोई उस समय पढ़ाई को प्राथमिकता न देकर खेलकूद, टी.वी. या बातों में अपना समय व्यतीत करता है तो वह परीक्षा को पास नहीं कर सकता। अत: प्राथमिकता किस कार्य को देना, यह निश्चय करना भी समय-प्रबन्धन का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है।

३. समय-विश्लेषण – समय विश्लेषण का तात्पर्य है – अपने समय की जाँच-पड़ताल करना। किस कार्य में कितना समय लग रहा है। जो समय लग रहा है, वह आवश्यक लग रहा है या अनावश्यक लग रहा है। यदि कोई व्यक्ति सोने में दस से बारह घंटे लगाता है, नहाने में एक घंटा लगता है, तैयार होने में एक घंटा लगाता है तो उसे सोचना चाहिए। सोने, नहाने में इतना समय लगाना आवश्यक नहीं, यह समय का सदुपयोग नहीं है। इस प्रकार प्रतिदिन छोटे-छोटे दैनिक कार्यों में लगने वाले समय का विश्लेषण करना चाहिए और जहाँ कहीं भी अनावश्यक रूप से समय लग रहा है, उसे रोका जाना चाहिए। अपनी आदत को बदलना चाहिए।

४. स्वावलम्बी जीवन – जो व्यक्ति अपने दैनिक जीवन के कार्यों के लिए जितना अधिक दूसरों पर आश्रित रहता है, उसका बहुत सारा समय उस काम के होने की प्रतीक्षा करने में ही चला जाता है। यदि व्यक्ति स्वावलम्बी होता है तो उससे आधे समय में वह काम स्वयं पूरा कर सकता है। उदाहरण के लिए जूते में पॉलिश करना है, कपड़ों के प्रेस करना है आदि। इन कार्यों के लिए यदि व्यक्ति परिवार के सदस्यों या नौकर-चाकरों पर निर्भर है तो जब तक वे कार्य नहीं कर देते तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। प्रतीक्षा के उस समय का हम सदुपयोग भी नहीं कर पाते। यदि स्वयं वह कार्य कर लें तो कार्य भी समय पर हो जाता है और समय भी बच जाता है।

५. कार्य की गति में तीव्रता – समय प्रबंधन का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है कार्य की गति में तीव्रता लाना। सामान्यतया किसी भी काम को करने की एक निश्चित गति होती है किन्तु कुछ लोग हर कार्य को इतनी धीमी गति से करते हैं कि दस मिनिट के कार्य में एक घंटा लगा देते हैं। उनके मन में रहता है कि हमें जो काम करना है, वह करना है, चाहे दस मिनिट में करें या एक घंटे में। जबकि हमारे मन में यह बात आनी चाहिए कि हमें अपनी गति को बढ़ाकर समय निकालना है ताकि हम और अधिक काम कर सकें। वास्तव में हमारे पास समय कम नहीं होता अपितु कार्य करने की गति कम होती है। यदि गति तेज है तो समय बहुत है।

६. व्यवस्थित कार्यशैली – जिसकी कार्यशैली व्यवस्थित होती है, वह समय पर सभी काम सही ढंग से संपादित कर लेता है। इसके लिए अलग से कुछ करना नहीं पड़ता, केवल कुछ बातें निश्चित करनी होती है, जैसे कि –

१. दैनिक जीवन की चीजों को निर्धारित स्थानों पर ही रखना ताकि उन्हें ढूँढने में समय बर्बाद न करना पड़े।

२. सुबह उठने से लेकर सोने तक की चर्या का व्यवस्थित निर्धारण होना। वस्तुत: व्यवस्था एक आदत होती है। यह आदत या तो पड जाती है या डालनी पड़ती है।

७. आर.यू.टी.एच. (RUTH) – आधुनिक समय में समय-प्रबन्धन के लिए एक सूत्र काम में लिया जाता है – RUTH.

R-Rush – (आवश्यक-अत्यावश्यक)

U-Urgent – (आवश्यक परन्तु अत्यावश्यक नहीं)

T-Today – (साधारण-आवश्यक)

H-Hold – (साधारण-आवश्यक नहीं)

कार्यों का निर्धारण करके जो कार्य अत्यावश्यक हैं, उनको प्राथमकिता देनी चाहिए। इस प्रकार के कार्य Rush में आते हैं, वहाँ तत्काल निर्णय लेकर तत्काल कार्य करना पड़ता है। उदाहरण के लिए भयंकर दुर्घटना होने पर तत्काल उसे अस्पताल ले जाना। कुछ कार्य ऐसे होते हैं, जो आवश्यक तो हैं पर अत्यावश्यक नहीं। उन्हें Urgent की कोटि में रखते हैं। कुछ कार्य साधारण होते हैं, उन्हें Today की कोटि में गिना जाता है। वे आवश्यक तो हैं पर अत्यावश्यक नहीं। उन्हें दिन भर में कभी भी किया जा सकता है; जैसे – कपड़े धोना, बाजार से सामान लाना आदि। जो कार्य साधारण हैं और आज ही करने आवश्यक नहीं, वे Hold के अन्तर्गत आते हैं। उन्हें कल, परसों कभी भी किया जा सकता है; जैसे – बाल कटवाना, कपड़े सिलवाना, घूमने जाना आदि।

इसके अतिरिक्त भी निम्न सूत्र समय-प्रबंधन में उपयोगी हो सकते हैं –

* सुबह जल्दी उठना। उठकर नित्यकर्म के बाद योगाभ्यास और ध्यान करना।
* दिन भर के कार्यों की योजना बनाना।
* अपने पास एक छोटी डायरी रखना, जिसमें कोई भी कार्य याद आते ही लिख लेना।
* मन को प्रसन्न रखना। प्रसन्न मन कार्य को जल्दी सम्पन्न कर लेता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

❊ दैनिक टाइम-टेबल का निर्धारण करना।

❊ फोन पर आवश्यक बात करना, गप्पें नहीं मारना।

❊ समय की पाबन्दी रखना।

❊ जिस कार्य को नहीं कर सकते उसके लिए विनम्रता से 'ना' कह देना।

❊ भावक्रिया के साथ कार्य करना।

❊ यात्रा के समय का उपयोग करना।

❊ प्रतीक्षा के क्षणों का उपयोग करना।

३. लक्ष्य-प्रबन्धन

जन्म और मृत्यु जीवन के दो किनारे हैं। उन पर किसी का अधिकार नहीं। जन्म और मृत्यु के बीच का जो समय है, उसे जीवन कहते हैं उस पर मनुष्य का अधिकार है। जो भी प्राणी जन्म लेता है वह जीवन को जीता है। जीवन जीना बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात है कैसा जीवन जीया ? यदि जीवन थोड़ा जीया पर अच्छा जीया तो जीना सार्थक है और यदि जीवन सौ साल का जीया पर अच्छा नहीं जीया तो जीना व्यर्थ है। लक्ष्यहीन जीवन अच्छा नहीं होता अत: जीवन का लक्ष्य अवश्य निर्धारित करना चाहिए। लक्ष्यहीन व्यक्ति किसी भी मंजिल पर नहीं पहुँच पाता।

लक्ष्य निर्माण का महत्त्व

व्यक्ति अपने जीवन में एक छोटा-सा भी कार्य करता है तो पहले उसे करने का लक्ष्य बनाता है और फिर उसे पूरा करता है। उदाहरण के लिए घर से प्रस्थान करने से पूर्व वह लक्ष्य बनाता है – मुझे कॉलेज जाना है, बाजार जाना है या स्टेशन जाना है और वह निर्धारित लक्ष्य पर पहुँच जाता है। कोई भी व्यक्ति ऐसी ट्रेन या बस में यात्रा नहीं करता जिसकी मंजिल ज्ञात न हो। मुम्बई जाने वाला कोलकाता जाने वाली ट्रेन में नहीं बैठता। जीवन भी एक यात्रा है। यह यात्रा भी यदि एक लक्ष्य के साथ की जाती है तो उसमें सफलता मिलती है और यदि जीवन का कोई लक्ष्य नहीं होता तो जीवन व्यर्थ के कार्यों में बीत जाता है। समय का सही सदुपयोग नहीं होता। यदि खेत में कोई सार्थक बीज नहीं बोया जाता तो खेत में घास-फूस ही पैदा होता है। वैसे ही जीवन रूपी खेत में यदि लक्ष्यरूपी बीज नहीं बोया जाता तो वह जीवन दु:खद कांटे रूपी घास-फूस से ही युक्त होता है। जीवन में उसी व्यक्ति ने सफलता हासिल की है या महान् बना है, जिसने अपने जीवन में किसी सार्थक लक्ष्य का निर्धारण किया है और लक्ष्य की पूर्ति के लिए अपने समय का नियोजन किया है।

लक्ष्य न बनाने के कारण

बहुत से व्यक्ति लक्ष्यहीन जीवन जीते हैं। लक्ष्य न बना पाने के कई कारण हो सकते हैं। जिनमें मुख्य कारण निम्नलिखित हैं –

१. निराशावादी दृष्टिकोण – इस दृष्टिकोण के कारण व्यक्ति संभावनाओं को न देखकर केवल बाधाओं को देखता है और उन बाधाओं से निराश होकर कोई लक्ष्य नहीं बना पाता।

२. असफलता का भय – यदि मैं अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल नहीं हो सका तो क्या होगा, इस असफलता की आशंका से भी अनेक व्यक्ति किसी भी लक्ष्य का निर्धारण नहीं करते।

३. इच्छाशक्ति की कमी – व्यक्ति में अनेक इच्छाएँ होती हैं किन्तु कोई भी इच्छा इतनी प्रबल नहीं होती कि उस इच्छा को लक्ष्य का रूप दिया जा सके। इस इच्छाशक्ति की कमी के कारण भी व्यक्ति लक्ष्य-निर्धारण में सफल नहीं हो पाता।

४. आत्मविश्वास की कमी – आत्मविश्वास एवं मनोबल की कमी के कारण भी व्यक्ति लक्ष्य का निर्धारण नहीं कर पाता।

५. लक्ष्य का महत्त्व न समझना – जो व्यक्ति लक्ष्य-निर्माण का महत्त्व नहीं समझता। उसके मन में भी लक्ष्य-निर्माण का कोई उत्साह नहीं होता।

६. अज्ञान – अधिकांश व्यक्तियों को लक्ष्य निर्धारण और लक्ष्य-प्राप्ति की प्रक्रिया का ज्ञान नहीं होता। अत: अज्ञानवश भी वे लक्ष्य का निर्धारण नहीं करते।

लक्ष्य के प्रकार

लक्ष्य को मुख्य रूप से चार भागों में बांटा जा सकता है –

१. अन्तिम/चरम लक्ष्य – भारतीय संस्कृति अध्यात्म-प्रधान संस्कृति रही है। अत: उसका चरम ध्येय मोक्ष-आत्मा का पूर्ण विकास माना

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

गया है। आधि, व्याधि, उपाधि से मुक्त हो समाधि की अवस्था को प्राप्त करना ही अन्तिम लक्ष्य है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने में एक नहीं अनेक जीवन लग जाते हैं।

२. दीर्घकालीन लक्ष्य – दीर्घकालीन लक्ष्य से तात्पर्य जीवन भर के लक्ष्य से है। एक ऐसा लक्ष्य बनायें कि उसे पाने के लिए पूरा जीवन समर्पित कर दें। जैसे – मानवता की सेवा करना, नैतिक मूल्यों का विकास करना आदि।

३. अल्पकालीन लक्ष्य – अपने दीर्घकालीन लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अनेक अल्पकालीन लक्ष्य भी बनाने चाहिए, जिससे लक्ष्य की ओर कितनी गति हो रही है, उसका अहसास होता रहे।

४. तात्कालिक लक्ष्य – जीवन की किसी भी अवस्था में आने वाली चुनौतियाँ, दायित्व, कर्त्तव्य, अपेक्षाएँ, आकांक्षाएँ आदि को निपटाना या सफलता से उन्हें पूरा करना जीवन के तात्कालिक लक्ष्य बन जाते हैं। परीक्षा के समय अच्छे नम्बरों से पास होना, अस्वस्थता के समय जल्दी स्वस्थ होना आदि तात्कालिक लक्ष्य है।

लक्ष्य निर्माण की प्रक्रिया

लक्ष्य-निर्माण के अनेक महत्त्वपूर्ण सूत्रों में से एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है – आई.ए.एस (I.A.S.)।

- I = Interest (रुचि)
- A = Ability (योग्यता)
- S = Social Demand (सामाजिक मांग)

१. रुचि – लक्ष्य निर्धारण के समय स्वयं की रुचि का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है। रुचिकर विषय को व्यक्ति लगनपूर्वक लम्बे समय तक बिना थके प्रसन्नता से कर सकता है। अत: जिस विषय मे रुचि हो, उसी विषय से संबंधित लक्ष्य का निर्धारण करना चाहिए।

२. योग्यता – लक्ष्य-निर्धारण में रुचि के साथ-साथ योग्यता का भी ध्यान रखना चाहिए। योग्यता के अभाव में लक्ष्य प्राप्त नहीं किया जा सकता।

३. सामाजिक मांग – लक्ष्य-निर्धारण में रुचि और योग्यता के साथ-साथ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि समाज में उसकी मांग हैं क्या ? यदि कुछ ऐसा लक्ष्य बना लेते हैं, जिसकी समाज में उपयोगिता नहीं है, उस दिशा में कार्य करने के कोई अवसर नहीं हैं तो ऐसे लक्ष्य को प्राप्त करना भी आत्मतोष का कारण नहीं बनता। अत: लक्ष्य निर्धारण के समय सामाजिक मांग है या नहीं इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए।

लक्ष्य निर्धारण के बाद कार्य योजना के विकास हेतु एक और महत्त्वपूर्ण सूत्र है – **SWOT** का विश्लेषण।

१. S=Strength (शक्ति) – लक्ष्य प्राप्ति के लिए स्वयं की शक्ति-क्षमता, योग्यता आदि गुणों का आकलन करना। उनकी सूची बनाना।

२. W=Weakness (कमजोरी) – स्वयं की कमजोरी, दुर्बलता अथवा अवगुणों को भी विस्मृत नहीं करना चाहिए। मेरी कौन-कौनसी कमजोरियाँ लक्ष्य प्राप्ति में बाधक हैं, उनका भी पूरा विश्लेषण करना चाहिए।

३. O=Opportunity (अवसर) – लक्ष्य की दिशा में कार्य करने के कौन-कौनसे अवसर हैं ? संभावनाओं को देखना और उनको साकार करने के लिए कठोर परिश्रम करना।

४. T=Threat (चुनौतियाँ) – संभावनाओं को यथार्थ में बदलते समय आने वाली चुनौतियों और खतरों को भी देखना तथा साहस के साथ उनका सामना करना।

इस प्रकार Swot का विश्लेषण करके लक्ष्य का निर्धारण करना चाहिए। लक्ष्य बनाने के बाद फैशन की तरह उसे बार-बार बदलना नहीं चाहिए। उस पर दृढ़ रहकर उसे प्राप्त करने में अपने समय और श्रम का सदुपयोग करना चाहिए।

लक्ष्य कैसा हो ?

हमारा लक्ष्य काल्पनिक नहीं अपितु **SMART** होना चाहिए।

१. S-Specific (स्पष्ट) – हमारा लक्ष्य स्पष्ट होना चाहिए। जैसे – मैं परीक्षा में ९५% नंबर लाऊँगा।

२. M-Measurable (मापा जा सके) – लक्ष्य ऐसा होना चाहिए, जिसे मापा जा सके कि मैंने अपने लक्ष्य को कितना प्राप्त किया हैं और कितना अभी शेष है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

३. A-Achievale (हासिल करने के योग्य) – लक्ष्य सदैव ऐसा बनाना चाहिए जिसे प्राप्त किया जा सके। जिसे प्राप्त ही नहीं किया जा सकता है, वैसा लक्ष्य नहीं बनाना चाहिए।

४. R-Realistic (वास्तविक) – लक्ष्य काल्पनिक नहीं वास्तविक होना चाहिए। कोई दस दिन में ५० पाउंड वजन घटाना चाहे तो यह बिल्कुल अवास्तविक है।

५. T-Time bound (समयबद्ध) – काम के शुरू और अंत होने का एक निश्चित समय होना चाहिए। लक्ष्य तो बना लिया पर उसे कब शुरू करना है और कब तक प्राप्त करना है, उसके लिए समयबद्ध नहीं होते तो भी लक्ष्य को पूरा कर पाना मुश्किल होता है।

अत: हमारा लक्ष्य **SMART** अर्थात् स्पष्ट, मापने योग्य, प्राप्त करने योग्य, वास्तविक और समयबद्ध होना चाहिए।

लक्ष्य प्राप्ति की प्रक्रिया

प्रेक्षाध्यान सर्वांगीण विकास की परिपूर्ण पद्धति है। इस ध्यान पद्धति में लक्ष्य-प्राप्ति हेतु चार चरण हैं –

१. अभिप्रेरणा (**Motivation**)

२. शिथिलीकरण (**Relaxation**)

३. एकाग्रता (**Concentration**)

४. साक्षात्कार (**Visualization**)।

इस प्रक्रिया के द्वारा हम किसी भी प्रकार के लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। चाहे वह शारीरिक स्वास्थ्य से संबंधित हो या मानिसक/भावनात्मक स्वास्थ्य से संबंधित हो। स्मृति-विकास से संबंधित हो या आत्म-साक्षात्कार से संबंधित हो।

१. अभिप्रेरणा – सर्वप्रथम लक्ष्य-निर्माण की सशक्त प्रेरणा होनी चाहिए। यह प्रेरणा भीतर से भी जागृत होती है और बाह्य निमित्तों से भी मिलती है। जब व्यक्ति के भीतर यह भावना जाग जाती है कि मुझमें अनन्त शक्ति है और उसको जागृत कर मैं कुछ भी प्राप्त कर सकता हूँ तभी लक्ष्य-प्राप्ति की बात आगे बढ़ पाती है। अत: पहले चरण में अपने आप को अभिप्रेरित कर स्पष्ट शब्दावली में लक्ष्य का निर्माण करना चाहिए।

२. शिथिलीकरण – जब तक अपने लक्ष्य को अवचेतन मन तक नहीं पहुँचाया जाता तब तक लक्ष्य-प्राप्ति की प्रक्रिया प्रारम्भ नहीं हो पाती। अवचेतन मन के साथ सम्पर्क शिथिलीकरण की अवस्था में ही संभव हो पाता है। अत: दूसरे चरण में पूरे शरीर को कायोत्सर्ग के अभ्यास के द्वारा शिथिल और तनावमुक्त करना चाहिए।

३. एकाग्रता – शिथिलता का अभ्यास होने के बाद तीसरे चरण में अपने लक्ष्य पर एकाग्र बनें। एकाग्रता के लिए दीर्घश्वास प्रेक्षा का प्रयोग एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। जब लक्ष्य के प्रति गहरी एकाग्रता बनती है तो लक्ष्य अवचेतन मन तक पहुँचता है। लक्ष्य के वहाँ पर पहुँचने पर व्यक्ति धीरे-धीरे लक्ष्य प्राप्ति की दिशा में अग्रसर होता है।

४. साक्षात्कार – ध्यान के इस चौथे चरण में लक्ष्य का साक्षात्कार करना होता है। अपनी बंद आँखों से यह कल्पना करनी होती है कि मेरे सामने टी.वी. पड़ा है और उस टी.वी. पर अपने लक्ष्य को पूरा होता हुआ साक्षात् देखना है। आपने जो लक्ष्य बनाया था वह पूरा हो गया है इस प्रकार का अनुभव करना है।

इस प्रकार दृढ़ इच्छाशक्ति एवं अभिप्रेरणा के साथ शिथिलीकरण के अभ्यास के बाद यदि एकाग्रता के साथ लक्ष्य का साक्षात्कार किया जाए तो ऐसा कोई लक्ष्य नहीं है, जिसे प्राप्त न किया जा सके।

४. स्वास्थ्य-प्रबन्धन

स्वास्थ्य मनुष्य की सबसे बड़ी संपदा है। इसलिए कहा गया है – संसार का सबसे बड़ा धनी वह है, जो स्वस्थ तन और स्वस्थ मन का मालिक है। जिसके पास स्वस्थ तन, सधा हुआ मन और शान्त वृत्तियों का वैभव नहीं है, वह सब कुछ पाकर भी आनन्द और शान्ति का जीवन नहीं जी सकता।

स्वस्थ कौन

स्वस्थ शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसका सामान्य अर्थ है – नीरोगता या आरोग्य। इसे परिभाषित करते हुए कहा गया – **'सुष्ठु अस्थि यस्य स स्वस्थ:'** अर्थात् जिसकी अस्थियां (हड्डियाँ) अच्छी हैं, वह स्वस्थ है। आयुर्वेद के अनुसार स्वस्थ की परिभाषा है –

समदोष: समाग्निश्च समधातुमलक्रिया। प्रसन्नात्मेन्द्रियमना: स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥

अर्थात् जिस व्यक्ति के वात, पित्त एवं कफ – ये त्रिदोष सम हों, जठराग्नि, भूताग्नि आदि अग्नि सम हों, धातु तथा मलमूत्रादि की क्रिया विकार रहित हो तथा जिसकी आत्मा, इन्द्रिय और मन प्रसन्न हो, वही स्वस्थ है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अस्वास्थ्य का कारण

स्वस्थ कौन होता है? इसे जानने के साथ-साथ व्यक्ति अस्वस्थ क्यों होता है, इसे जानना भी जरूरी है। महर्षि वाग्भट्ट के अनुसार – वात-पित्त- कफ इनका कुपित होकर विषम होना रोग हैं तथा इनका शमन होना नीरोग है। रोग दो प्रकार के होते हैं – निज और आगन्तुक। जो रोग वातादि दोषों की विषमता के करण होते हैं, वे निज रोग हैं और जो अकस्मात् चोट लगने, एक्सीडैन्ट, विषाक्त पदार्थ आदि बाहरी कारणों से अचानक होते हैं वे आगन्तुक रोग हैं।

ठाणं सूत्र में रोग की उत्पत्ति के नौ कारण बताए गए हैं – १. अत्यधिक भोजन, २. अहितकर भोजन, ३. अतिनिद्रा, ४. अति जागरण, ५. मलबाधा को रोकना, ६. मूत्रबाधा को रोकना, ७. पंथ गमन, ८. प्रतिकूल भोजन, ९. काम विकार।

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार – अस्वास्थ्य का मूल कारण हमारे निषेधात्मक भाव तथा स्वास्थ्य का मूल कारण हमारे विधायक भाव हैं। हमारा पूरा जीवन भावधारा के द्वारा संचालित है। भाव से मन और मन से शरीर प्रभावित होता है। जितने निषेधात्मक भाव हैं वे सब रोग को आमंत्रित करते हैं। क्रोध का वेग उच्च रक्तचाप, हृदय रोग आदि के लिए विशेष उत्तरदायी हैं। लोभ का वेग आहार के प्रति अरुचि, अग्निमांद्य आदि रोग का कारण है तथा ईर्ष्या और घृणा से अल्सर आदि रोग उत्पन्न होते हैं।

अस्वस्थता शरीर, मन और भाव के स्तर पर होती है अत: स्वास्थ्य का संबंध भी इन तीनों के साथ जुड़ जाता है। इस दृष्टि से स्वास्थ्य के निम्नलिखित तीन प्रकार हैं – १. शारीरिक स्वास्थ्य, २. मानसिक स्वास्थ्य, ३. भावनात्मक स्वास्थ्य।

३.३ शारीरिक स्वास्थ्य

हमारे शरीर में मुख्यत: दस संस्थान हैं और उनके अपने कार्य हैं। संक्षेप में संस्थान और उनके कार्य निम्न हैं –

१. कंकाल तंत्र – शरीर का ढाँचा,
२. मांसपेशी तंत्र – गति करना,
३. नाड़ी तंत्र – नियन्त्रण करना,
४. रक्त परिसंचरण तंत्र – पूरे शरीर में रक्त को पहुँचाना,
५. श्वसन तंत्र – ऑक्सीजन की आपूर्ति करना,
६. पाचन तंत्र – पाचन करना,
७. ग्रन्थि तंत्र – नियन्त्रण करना,
८. प्रजनन तंत्र – प्रजनन करना,
९. प्रतिरक्षा तंत्र – सुरक्षा करना,
१०. उत्सर्जन तंत्र – विजातीय तत्त्वों का निष्कासन करना।

ये संस्थान एकांगी कार्य नहीं करते। सब मिलकर शरीर का संचालन करते हैं। शरीर के स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए इनकी अपनी पूरी व्यवस्था होती है। रोग-प्रतिरोधी तंत्र में रोग का प्रतिरोध करने के लिए श्वेत रक्त कणिकाएँ होती हैं जो कि किसी भी प्रकार के बाह्य आक्रमण से शरीर की रक्षा करती हैं। इसके अतिरिक्त भी शरीर में हजारों रसायन बनते हैं जो कि शरीर में होने वाली टूट-फूट, घाव आदि को कुछ ही समय में ठीक कर लेते हैं। इसलिए कहा जाता है स्वास्थ्य के लिए हमारे शरीर में समाधान है। परन्तु जब हम अपने अविवेक एवं अज्ञान के कारण भीतरी वातावरण को दूषित कर देते हैं तो शरीर की साम्यावस्था विषम बन जाती है। इससे रोग-प्रतिरोधक शक्ति कमजोर पड़ती है तथा शरीर के दुर्बल अवयवों पर अत्यधिक दबाव पड़ने से वे श्लथ होकर अस्वस्थ हो जाते हैं।

शारीरिक स्वास्थ्य और प्रेक्षाध्यान

प्रेक्षाध्यान का मुख्य उद्देश्य शारीरिक स्वास्थ्य नहीं अपितु चित्त-शुद्धि है। जहाँ चित्त की शुद्धि होती है, वहाँ शरीर का स्वास्थ्य स्वत: प्राप्त हो जाता है। चित्त की शुद्धि के लिए शरीर की स्वस्थता पर ध्यान देना भी जरूरी हैं क्योंकि कहा गया है – **'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्'** अर्थात् यह शरीर ही चित्तशुद्धि का प्रथम साधन है।

आचार्य महाप्रज्ञ के साहित्य में प्रेक्षाध्यान के प्रयोगों का शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से विशद विवेचन उपलब्ध होता है।

१. संतुलित आहार – आज के वैज्ञानिक मानते हैं – संतुलित आहार स्वास्थ्य की पहली शर्त है। पिंड-निर्युक्ति में कहा गया –

हियाहारा मियाहारा, अप्पाहारा य जे नरा। न ते विज्जा तिगिच्छंति, अप्पाणं ते तिगिच्छगा।।

इसी बात की पुष्टि करते हुए आचार्य महाप्रज्ञजी लिखते हैं – केवल संतुलित आहार से स्वास्थ्य पूरा नहीं बनता। संतुलित आहार के साथ-साथ हित, मित और ऋत आहार का सेवन स्वास्थ्य का मूल कारण है। हित आहार से तात्पर्य विरुद्ध भोजन न हो, मित आहार से तात्पर्य भोजन की मात्रा अधिक न हो तथा ऋत आहार से तात्पर्य – न्यायोपार्जित आहार से है। इसके साथ-साथ आहार पर कई दृष्टियों से भी विचार करना चाहिए, जिसमें काल, अवस्था, स्वरशास्त्र आदि मुख्य हैं। काल की दृष्टि से दिन का पहला भाग कफ प्रधान, मध्याह्न का भाग पित्त प्रधान और सायंकाल का भाग वात प्रधान होता है। यदि शाम को वायु प्रधान भोजन और मध्याह्न में पित्त प्रधान भोजन लेते हैं तो वह अस्वस्थता का कारण बनता है। स्वर शास्त्र के अनुसार

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

सूर्य स्वर में भोजन करने और चन्द्र स्वर में पानी पीने से व्यक्ति स्वस्थ रहता है।

२. आसन-प्राणायाम – प्रेक्षाध्यान में आसन-प्राणायाम को भी सहायक अंग के रूप में स्वीकार किया गया है। यदि आसन-प्राणायाम के प्रयोग न करें तो हमारे पाचनतंत्र, उत्सर्जनतंत्र, श्वसनतंत्र, नाड़ीतंत्र एवं ग्रंथितंत्र के स्राव गड़बड़ा जाते हैं, जिससे व्यक्ति अस्वस्थ हो जाता है। अत: इन तंत्रों को स्वस्थ बनाये रखने वाले आसन-प्राणायाम के प्रयोग करना शारीरिक स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए आवश्यक हैं।

३. रंगों का ध्यान – शारीरिक अस्वस्थता का एक कारण है – रंगों की कमी। लाल रंग की कमी से शरीर में आलस्य बढ़ता है, सफेद रंग की कमी शरीर को अस्वस्थ बनाती है तथा काले रंग की कमी रोग-प्रतिरोधात्मक शक्ति को कम करती है। नमस्कार महामंत्र का रंगों के साथ ध्यान जहाँ अन्तर्दृष्टि के जागरण का कारण बनता है, वहीं शारीरिक स्वास्थ्य में भी निमित्त बनता है।

४. प्राणशक्ति का संतुलन – मेडिकल साइंस में कहा जाता है – जिसकी रोग-प्रतिरोधात्मक शक्ति अच्छी होती है, वह स्वस्थ होता है और जिसकी रोग-प्रतिरोधात्मक शक्ति कमजोर होती है, वह अस्वस्थ होता है। जैन दर्शन के अनुसार जिसकी प्राणशक्ति अच्छी होती है, वह स्वस्थ रहता है और जिसकी प्राणशक्ति कमजोर होती है, वह अस्वस्थ होता है। अत: शारीरिक स्वास्थ्य के लिए प्राणशक्ति को संतुलित रखना बहुत आवश्यक है। प्रेक्षाध्यान के अन्तर्गत प्राणशक्ति को संतुलित रखने के चार उपाय बताये हैं –

❊ कायोत्सर्ग, ❊ आतापना, ❊ इन्द्रियसंयम, ❊ कायाकल्प का प्रयोग।

१. कायोत्सर्ग – प्राणशक्ति कम होने का एक मूल कारण है – असंतुलन। जो व्यक्ति प्रवृत्ति-निवृत्ति का संतुलन नहीं रखता, उसकी प्राणशक्ति कमजोर होती है। इस संतुलन को बनाये रखने का एक प्रयोग है – कायोत्सर्ग। एक-दो घंटे कार्य करने के पश्चात् पाँच मिनट कायोत्सर्ग करने से प्रवृत्ति-निवृत्ति में संतुलन बना रहता है और इससे प्राणशक्ति का भी संतुलन बना रहता है। अत: कायोत्सर्ग शारीरिक स्वास्थ्य का सबसे अच्छा उपाय है।

२. आतापना – प्राणशक्ति को बनाये रखने का एक प्रयोग है – आतापना (सूर्य का ताप लेना)। प्रात:काल किसी ऊँचे स्थान पर खड़े होकर, बैठकर या लेटकर कायोत्सर्ग करें तथा सूर्य की रश्मियाँ जो शरीर पर आ रही हैं, उनके ग्रहण का संकल्प करें – सूर्य की रश्मियाँ शरीर के भीतर प्रवेश कर रही हैं और प्राणशक्ति (तैजस शरीर) का विकास कर रही हैं।

३. इन्द्रिय-संयम – प्राणशक्ति के अपव्यय का एक कारण इन्द्रिय-असंयम है। इन्द्रियाँ जितना अधिक विषयों का भोग करती हैं, उतनी ही प्राणशक्ति क्षीण होती है। उदाहरण के लिए कामुकता के समय श्वास का वेग इतना बढ़ जाता है, जिससे शक्ति का व्यय अधिक होता है। इसलिए महाप्रज्ञजी लिखते हैं – मन के नकारात्मक भाव और बाह्य पदार्थों का भोग हमारी रोग-प्रतिरोधात्मक शक्ति को कम करते हैं, जिससे व्यक्ति अस्वस्थ हो जाता है। अत: इन्द्रिय-संयम का प्रयोग प्राणशक्ति की सुरक्षा का एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है।

मानसिक स्वास्थ्य

मनोविज्ञान में मन और मनोरोग पर काफी विचार किया गया है। मनोविज्ञान के अनुसार तीव्र मानसिक संघर्ष, अत्यधिक थकान, तीव्र संवेगात्मक तनाव, दमित भावना, ग्रंथियाँ, आनुवंशिकता, मानसिक दुर्बलता, हीन भावना आदि मानसिक अस्वस्थता के कारण हैं। आयुर्वेद के महान् आचार्य चरक के अनुसार **'इष्टालाभात् अनिष्टलाभात् मानसो रोग:'** अर्थात् मानसिक अस्वस्थता का मुख्य कारण इष्ट व्यक्ति या वस्तु का वियोग और अनिष्ट व्यक्ति या वस्तु का संयोग है। आचार्य महाप्रज्ञजी के अनुसार – मन का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। वह चित्त और भाव का प्रतिनिधि है। मन के दो पक्ष हैं – ज्ञानात्मक और क्रियात्मक। दोनों क्रमश: चित्त और भाव के द्वारा संचालित हैं। भीतर से आने वाली चित्त की अशुद्धि एवं निषेधात्मक भावों की विकृति तथा बाहर से आने वाले इन्द्रियों के विषय मन को विक्षिप्त, चंचल और अस्वस्थ बनाते हैं। आज विश्व में शारीरिक बीमारियों के अनुपात में मानसिक बीमारियाँ बढ़ती जा रही हैं। जिसके मूल में है – आवेग, आवेश, नकारात्मक सोच, आग्रह की मनोवृत्ति, स्नायु दौर्बल्य आदि। इन सब पर नियंत्रण प्राप्त करके मानसिक स्वास्थ्य को प्राप्त किया जा सकता है।

मानसिक स्वास्थ्य और प्रेक्षाध्यान

प्रेक्षाध्यान भाव-परिष्कार का प्रबल उपाय है। परिष्कृत भाव मन को स्वस्थ बनाते हैं।

प्रेक्षाध्यान के निम्न प्रयोग मानसिक स्वास्थ्य के महत्त्वपूर्ण प्रयोग हैं, जिनकी चर्चा आचार्य महाप्रज्ञ ने मानसिक स्वास्थ्य के संदर्भ में की है।

१. समता – जो व्यक्ति समता की साधना करता है, वह मानसिक दृष्टि से स्वस्थ होता है। इसलिए समता की साधना के जो सूत्र हैं, वे मानसिक स्वास्थ्य के भी सूत्र हैं।

❊ मानसिक स्वास्थ्य की साधना का पहला सूत्र है – अपने आपको जानो। जो व्यक्ति अपनी क्षमता और अक्षमता को जानकर व्यवहार करता है, वह मानसिक दृष्टि से स्वस्थ होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

❊ मानसिक स्वास्थ्य की साधना का दूसरा सूत्र है – परिणामों की स्वीकृति। व्यक्ति प्रवृत्ति करता है किन्तु उसके परिणाम को यदि स्वीकार नहीं करता तो मानसिक स्वास्थ्य खतरे में पड़ जाता है।

❊ मानसिक स्वास्थ्य की साधना का तीसरा सूत्र है – सत्य के प्रति समर्पण। सत्य का अर्थ है – सार्वभौम निमय (युनिवर्सल लॉ)। जैसे मृत्यु एक सार्वभौम नियम है, कोई भी इसका अपवाद नहीं है, इसी प्रकार जो कर्म, काल, स्वभाव आदि व्यापक सत्य के प्रति समर्पित रहता है, वह मानसिक दृष्टि से स्वस्थ रह सकता है।

❊ मानसिक स्वास्थ्य की साधना का चौथा सूत्र है – सहिष्णुता का विकास। सहिष्णु व्यक्ति हर परिस्थिति को सहन कर लेने के कारण मन से भी स्वस्थ रहता है।

२. संयम – मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से संयम का सूत्र बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। मन का कार्य है –स्मृति, चिंतन और कल्पना। ये हमारे विकास के माध्यम बनते हैं। किन्तु इनकी अति प्रवृत्ति मानसिक अस्वस्थता का कारण बन जाती है। अत: स्मृति-संयम, कल्पना-संयम और चिंतन-संयम बहुत आवश्यक है। इसका उपाय है – श्वास-संयम। कुंभक के समय दिमाग खाली हो जाता है। मन को विश्राम मिलने से मन स्वस्थ रहता है।

३. ध्यान, ध्वनि, मुद्रा – दर्शन केन्द्र पर हरे रंग का ध्यान एवं ज्योतिकेन्द्र पर सफेद रंग का ध्यान मानसिक स्वास्थ्य का महत्त्वपूर्ण उपाय है। महाप्राण ध्वनि का प्रयोग हमारे ज्ञान तंतुओं को सक्रिय बनाता है, इसे करने के बाद ऐसा अनुभव होता है कि न कल्पना है, न चिंतन। मन बिल्कुल शांत, स्वस्थ है। सर्वेन्द्रिय संयम मुद्रा करने से बाह्य जगत् से इन्द्रियों का संबंध विच्छेद हो जाता है। इन्द्रिय-विषय ही मन को दुर्बल एवं चंचल बनाते हैं। विषयों की प्राप्ति न होने से मन की चंचलता समाप्त होती है और वह स्वस्थ रहता है।

४. मंत्र – मानसिक स्वास्थ्य का एक उपाय है – मन को मंत्र का सुन्दर आलम्बन दे देना, जिस पर एकाग्र हो जाने से मन का भटकाव समाप्त हो जाता है। मन का स्वास्थ्य प्राणधारा के साथ भी जुड़ा हुआ है। प्राणधारा को सक्रिय एवं निर्मल बनाने के लिए नमस्कार महामंत्र की साधना प्राण के पाँच बीजों के साथ करनी चाहिए। यँ, पँ, वँ, रँ, लँ ये पाँच प्राणधारा के बीजमंत्र हैं।

भावनात्मक स्वास्थ्य

भाव हमारे स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं। अच्छे भाव अच्छा स्वास्थ्य, बुरे भाव बुरा स्वास्थ्य। बुरे भाव का मूल कारण क्रोध, मान, माया और लोभ – ये चार आध्यात्मिक दोष हैं। ये ही भावनात्मक रुग्णता के मूल कारण हैं। भगवान् महावीर ने कहा –

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयणासओ। माया मित्ताणि णासेइ, लोहो सव्व विणासणो ॥

क्रोध प्रीति का नाश करता है। मान विनम्रता का नाश करता है। माया मित्रता का नाश करती है और लोभ सभी को नष्ट कर देता है। ये चार आध्यात्मिक दोष ही सघन होकर बुरे भाव का निर्माण करते हैं और फिर उन भावों का प्रभाव हमारे मन और शरीर पर पड़ता है। इसलिए स्वास्थ्य का संबंध शरीर से नहीं, अपितु भाव से है। भावना के स्तर पर जो स्वस्थ होता है, वही सही अर्थ में स्वस्थ होता है। भावना के स्तर पर बीमार व्यक्ति शरीर से बीमार न होने पर भी बीमार ही है क्योंकि धीरे-धीरे शारीरिक बीमारियाँ उसे घेर लेती हैं।

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के अनुसार भी संसार में जितनी भी बीमारियाँ हैं, उनका ९०% कारण निषेधात्मक भाव है। निषेधात्मक भाव तनाव पैदा करते हैं, जिससे पाचन तंत्र एवं श्वसन-तंत्र अपना कार्य मंद गति से करते हैं। फलस्वरूप अल्सर, हिस्टीरिया, दमा, हार्ट अटैक, माइग्रेन पेन आदि बीमारियों को शरीर पर आक्रमण करने का अवसर मिल जाता है। बुरे भावों से व्यक्ति का सेरेब्रम असंतुलित हो जाता है। ग्रंथितंत्र एवं नाड़ीतंत्र भी असामान्य हो जाते हैं। ये निषेधात्मक भाव केवल शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक स्वास्थ्य को ही प्रभावित नहीं करते अपितु जन्म-मरण की परम्परा को भी बढ़ाते हैं।

इनको बदलने का एक ही तरीका है, वह है विधेयात्मक भावों को जागृत करना। वैज्ञानिकों के अनुसार विधेयात्मक गुणों का विकास करने के लिए अल्फा तरंगों को जागृत करना चाहिए। इससे आनन्द उत्पन्न होता है और आनन्द की स्थिति में बुरे भाव, बुरे विचार स्वत: ही नष्ट हो जाते हैं। प्रेक्षाध्यान के प्रयोगों द्वारा अल्फा तरंगें जागती हैं, व्यक्ति भावनात्मक दृष्टि से स्वस्थ बनता है।

भावनात्मक स्वास्थ्य और प्रेक्षाध्यान

प्रेक्षाध्यान में भावनात्मक स्वास्थ्य के लिए अनेक प्रयोग सुझाए गए हैं। प्रेक्षाध्यान भावनात्मक स्वास्थ्य की प्रक्रिया है। इसका मुख्य उद्देश्य भावतंत्र का परिष्कार करना है। यदि भावनात्मक स्वास्थ्य है तो मानसिक स्वास्थ्य भी होगा और शारीरिक स्वास्थ्य भी होगा। यदि भावतंत्र अस्वस्थ है तो न मन स्वस्थ होगा और न शरीर स्वस्थ होगा। यह एक नया अभ्युपगम है। आज अधिकांश लोग शारीरिक स्वास्थ्य की चिन्ता करते हैं किन्तु मानसिक और भावनात्मक स्वास्थ्य को गौण कर देते हैं। इस संदर्भ में आचार्य महाप्रज्ञ का मानना है कि शारीरिक स्वास्थ्य का मूल्य १०% है। मानसिक स्वास्थ्य का मूल्य ३०% है और भावनात्मक स्वास्थ्य का मूल्य ६०% है। अत: हम उलटे क्रम से चलें। पहले भावनात्मक स्वास्थ्य की, फिर मानसिक और

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)Ladnun

शारीरिक स्वास्थ्य की चिन्ता करें। इस क्रम से चलने पर चिन्ता स्वयं अचिन्ता बन जायेगी। प्रेक्षाध्यान के निम्न प्रयोगों के द्वारा भावतंत्र का परिष्कार किया जा सकता है।

१. **चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा** – भावतंत्र का परिष्कार करने के लिए अशुभ भावों का निरोध तथा शुभ भावों की दिशा में प्रस्थान करना जरूरी है। महाप्रज्ञ के अनुसार ज्योति केन्द्र, शांति केन्द्र और ज्ञान केन्द्र इन तीन चैतन्य केन्द्रों पर ध्यान करने से भावतंत्र का परिष्कार होता है। ज्योति केन्द्र पर सफेद रंग के ध्यान से क्रोध संतुलित होता है। शांति केन्द्र पर ध्यान करने से उत्तेजना के भाव शांत होते हैं। भावतंत्र के परिष्कृत होने से मन में कोई विकृत चिन्तन नहीं आता, वाणी से कोई कटु शब्द नहीं निकलता और शरीर की क्रिया भी बदल जाती है।

२. **लेश्याध्यान** – शुभ भावों को पुष्ट करने का एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है – लेश्याध्यान। लेश्या ध्यान रंगों का ध्यान है। शुभ रंगों के ध्यान से अशुभ भाव शुभभाव में परिणत हो जाते हैं। लाल, पीला और सफेद – ये रंग भावशुद्धि के कारण हैं। आचार्य महाप्रज्ञजी के शब्दों में – रंग रोग-निवारण का साधन है, क्योंकि यह शरीर के असंतुलन को ठीक करता है। रंग शरीर का स्वाभाविक भोजन है, जो भोजन वनस्पति जगत् से प्राप्त होता है, वह सघन अवस्था में रंग ही है। अलग-अलग रंगों का अलग-अलग प्रभाव होता है। जिसकी परिणति भावात्मक एवं मानसिक स्वास्थ्य है। लाल रंग के ध्यान से तेजोलेश्या के स्पन्दन जागते हैं, जिससे मन की दुर्बलता समाप्त होती है, सहनशीलता का विकास होता है। पीले रंग के ध्यान से मन की प्रसन्नता, बौद्धिक विकास, प्रज्ञा का विकास तथा मस्तिष्क और नाड़ीतंत्र सुदृढ़ बनता है। श्वेत रंग के ध्यान से उत्तेजना, आवेग, आवेश, चिन्ता, तनाव, वासना, क्रोध आदि शांत होते हैं।

३. **प्रतिपक्ष भावना का प्रयोग** – प्रतिपक्ष भावना के द्वारा भावों का परिष्कार किया जा सकता है। क्रोध, मान, माया, लोभ की प्रतिपक्ष भावना क्रमशः क्षमा, मृदुता, ऋजुता और संतोष है। इन प्रतिपक्षी भावों की बार-बार अनुप्रेक्षा करके इन भावों का निर्माण किया जा सकता है।

४. **आदर्श का चुनाव और श्रद्धा** – भावनात्मक बीमारी को मिटाने का एक महत्त्वपूर्ण उपाय है – आदर्श का चुनाव। व्यक्ति का जैसा आदर्श होता है, वैसा ही निर्माण होता है। हमारा आदर्श शक्तिशाली, आनन्दमय, चैतन्यमय अर्हत् होना चाहिए। आदर्श का चुनाव करने के बाद आदर्श के साथ ऐसा श्रद्धा का भाव बने कि उसमें कभी छेद न हो। श्रद्धा से तत्काल लाभ मिलता है। जैसे ही अनन्त शक्ति संपन्न अर्हत् की आराधना श्रद्धा के साथ प्रारम्भ होती है, शरीर के कण-कण में आनन्द फूटने लगता है। एक कमजोर व्यक्ति भी शक्ति का अनुभव करने लग जाता है।

५. **मनोबल का विकास** – भावनात्मक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है – सतत शुद्ध भाव बने रहें। निरंतर शुद्ध भाव कैसे बने रहें, इसका एक उपाय है – मनोबल का विकास। मनोबल से क्षीण व्यक्ति के भीतर बुरे भावों का प्रवेश आसानी से हो जाता है किन्तु जिस व्यक्ति का मनोबल दृढ़ होता है, उसमें जल्दी से बुरे भाव प्रवेश नहीं कर पाते। सहिष्णुता की अनुप्रेक्षा, आसन-प्राणायाम और ध्यान के विविध प्रयोगों से भाव परिष्कृत होते हैं। भावों के परिष्कृत होने पर मनोबल वृद्धिंगत होता है। शुद्ध भाव मनोबल को मजबूत बनाते हैं और मनोबल शुद्ध भावों को अवकाश देता है। दोनों का अन्योन्याश्रय संबंध है। सतत् शुद्ध भावों में रहने के महत्त्व को उजागर करते हुए कहा गया – एक व्यक्ति न ध्यान करता है, न जप करता है किन्तु एक संकल्प करता है कि मैं २४ घंटा अपने भाव के प्रति जागरूक रहूँगा और अधिक से अधिक भावों को विशुद्ध बनाए रखूँगा तो उसके लिए अलग से ध्यान की जरूरत नहीं। उसके स्वतः ध्यान हो गया। हर समस्या का समाधान उसके हाथ में आ गया। अतः मनोबल का विकास कर सतत् शुभ भावों में रहने का अभ्यास भावनात्मक स्वास्थ्य का एक महत्त्वपूर्ण उपाय है।

५. तनावमुक्ति-प्रबन्धन

आज का युग तनाव का युग है। आबालवृद्ध सभी इस समस्या से ग्रस्त हैं। यह तनाव आज की अनेक बीमारियों का कारण बना हुआ है। यह प्रशासक, व्यवसायी, अध्यापक, विद्यार्थी, व्यवस्थापक, कर्मचारी, बेरोजगार आदि सभी आयु, लिंग के व्यक्तियों को प्रभावित करता है। आज तनाव को मिटाने के लिए अनेक प्रयोग किए जा रहे हैं। अनेक प्रकार की दवाइयों का निर्माण किया जा रहा है किन्तु ये क्षणिक उपचार हैं। जब तक इसका स्थायी उपचार नहीं किया जाता तब तक तनाव से मुक्ति पाना असंभव है।

तनाव क्या ?

तनाव या दबाव शब्द भौतिक शास्त्र का शब्द है, जिसका सामान्य अर्थ-किसी पदार्थ के किसी भी भाग पर पड़ने वाले चाप या दबाव से है। जब किसी भी पदार्थ पर पड़ने वाले दबाव से पदार्थ के आकार में परिवर्तन हो जाता है तो उसे तनाव या टान (Tension) कहते हैं। यहां तनाव का अर्थ व्यक्ति के सामान्य सुख-चैन पूर्ण जीवन में होने वाली गड़बड़ी/परिवर्तन अथवा बेचैनी से है, जो हमारे सामान्य जीवन को अस्त-व्यस्त कर देती है।

तनाव के कारण

तनाव के अनेक कारण हैं। कर्मवाद की भाषा में तनाव का मूल कारण है – मोहकर्म की प्रबलता। मनोविज्ञान के अनुसार संवेग की प्रबलता को तनाव का मूल कारण माना है। बेनजेमिन के अनुसार – The cause of stress are limitless and includes drugs exercise, marriage, examination, having children, competition, aging, procrastinating, vocation, diet, insufficient sleep, buying a

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

house, earthquakes and so on.

आचार्य महाप्रज्ञजी के अनुसार – लोभ, क्रोध, मादक द्रव्य का सेवन, भय और कामवासना तनाव के मूल कारण हैं। वे लिखते हैं – हमारे मस्तिष्क में अनेक प्रकोष्ठ हैं, उनमें एक प्रकोष्ठ तनाव पैदा करने वाला है। ध्यान के द्वारा मस्तिष्क के उस प्रकोष्ठ को यदि प्रशिक्षित कर दिया जाए तो तनाव पैदा ही नहीं होता। इसके अतिरिक्त वर्तमान जीवनशैली में तनाव के अनेक कारण देखने में आते हैं –

१. अत्यधिक शारीरिक श्रम,
२. अत्यधिक चिन्ता, क्रोध, ईर्ष्या आदि
३. सुविधावादी जीवनशैली,
४. अत्यधिक महत्त्वाकांक्षाएँ,
५. गरिष्ठ भोजन,
६. कार्य की अधिकता,
७. समय का कुप्रबंधन,
८. अनियमित जीवनशैली,
९. एकल परिवार,
१०. पारिवारिक असंतोष,
११. अनुकम्पी-परानुकम्पी नाड़ीतंत्र का असंतुलन आदि।

तनाव के प्रकार

तनाव के जितने कारण हैं, उतने ही उसके प्रकार हो सकते हैं। मोटे तौर पर तनाव को तीन भागों में बाँटा जा सकता है –

१. शारीरिक तनाव, २. मानसिक तनाव, ३. भावनात्मक तनाव।

ये तीनों प्रकार के तनाव एक-दूसरे में भी बदलते हैं। शारीरिक तनाव से मानसिक तनाव और भावनात्मक तनाव भी उत्पन्न हो जाता हैं और कभी-कभी मानसिक तनाव से शारीरिक और भावनात्मक तनाव उत्पन्न हो जाते हैं। सामान्यतया शारीरिक तनाव अत्यधिक शारीरिक श्रम से पैदा होता है। विश्राम एवं नींद से इसे दूर किया जा सकता है। मानसिक तनाव अत्यधिक चिन्तन या चिन्ता से होता है। भावनात्मक तनाव निषेधात्मक भाव से पैदा होता है। इसे नियंत्रित करना सामान्यतया कठिन होता है।

तनाव की प्रक्रिया

तनाव शरीर, मन और भावों पर कैसे उतरते हैं, इसकी एक पूरी प्रक्रिया है। आधुनिक वैज्ञानिकों का कहना है कि तनाव मुख्य रूप से कान और आँख के माध्यम से मस्तिष्क के (cerebellum cortex) लघु मस्तिष्क प्रान्तस्था तक पहुँचता है और वहाँ से उसके रसायन सम्पूर्ण शरीर में प्रसारित होते हैं। शारीरिक स्तर के तनाव को तीन अवस्थाओं में समझा जा सकता है।

पहली अवस्था में एड्रीनल कार्टेक्स में तनाव की सूचना का सम्प्रेषण होता है।

दूसरी अवस्था में लिम्फेटिक तंत्र की सक्रियता के द्वारा शरीर में उत्पन्न स्थिति के प्रति संघर्ष छेड़ा जाता है। इसमें प्रतिरक्षा तंत्र के अन्तर्गत आने वाले थाइमस व स्पिलीन प्रमुख रूप से कार्य करते हैं।

तीसरी अवस्था में तनाव की अधिकता शरीर के सभी संस्थानों पर अपना साम्राज्य स्थापित कर लेती है। जिसके कारण शरीर में गहरी थकान एवं तनाव की अनुभूति होती है।

तनाव शारीरिक स्थिति से भी अधिक मनःस्थिति को प्रभावित करता है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक कर्टसीन ने cerebral-cartex वृहद् मस्तिष्क प्रान्तस्था में तीन प्रकार के मस्तिष्क खण्डों का वर्णन किया है – १. मेंटल ब्रेन, २. विसरल ब्रेन, ३. सोमेटिक ब्रेन। मस्तिष्क के इन तीनों खण्डों का आपस में अन्तर्संबंध रहता है। इनकी लयात्मक स्थिति मानसिक संतुलन का हेतु बनती है। किन्तु इनकी लयात्मकता समाप्त होने पर मनोकायिक रोगों की शुरूआत हो जाती है। व्यक्ति मानसिक रूप से तनावग्रस्त हो जाता है।

भावतंत्र को तनाव कैसे प्रभावित करता है। यह आज भी वैज्ञानिकों के लिए शोध का विषय है। क्योंकि तनाव से उत्पन्न भावों की स्थिति को वैज्ञानिक उपकरण नहीं पकड़ सकते। ग्रंथितंत्र के स्रावों के आधार पर भावों की सही व्याख्या नहीं हो सकती किन्तु भावावेश के कारण शरीर, मन, ग्रंथि व मस्तिष्क कैसे प्रभावित होते हैं, इसको जाना जा सकता है। भावनात्मक तनाव सबसे ज्यादा हानिकारक होता है।

तनावमुक्ति और प्रेक्षाध्यान

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार तनाव जीवन की अनिवार्य प्रक्रिया है। इसके बिना जीवन चलता भी नहीं है। मन, वचन, शरीर की कोई भी प्रवृत्ति करने से पूर्व उनमें तनाव होना आवश्यक है। प्रवृत्ति के समय तनाव आता है और प्रवृत्ति पूरी होते ही तनाव चला जाता है तो वह भयंकर नहीं होता किन्तु केवल प्रवृत्ति ही प्रवृत्ति हो कहीं विश्राम न हो तो वह तनाव हानिकारक होता है, अनेक समस्याएँ पैदा करता है। उन्होंने तनाव के मूल कारणों का विश्लेषण करते हुए प्रेक्षाध्यान के द्वारा उसके विसर्जन की प्रक्रिया बतलाई है, जो कि तनावमुक्ति का स्थायी समाधान है। वे लिखते हैं – जब तक चित्त की निर्मलता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

नहीं आएगी, तब तक तनाव की समस्या बनी रहेगी। इसलिए सबसे पहले चित्तवृत्ति का परिष्कार करें। फिर इससे आगे एकाग्रता की भूमिका में आएँ और फिर निरुद्ध की भूमिका, निर्विचार की स्थिति में आएँ। इस अवस्था में तनाव पैदा ही नहीं होता। प्रेक्षाध्यान चित्तशुद्धि की पक्रिया है और उससे आगे निर्विचार स्थिति तक पहुँचने का साधन है। अत: प्रेक्षाध्यान के द्वारा तनाव का स्थायी समाधान पाया जा सकता है।

प्रेक्षाध्यान के निम्न प्रयोग तनाव विसर्जन में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं –

१. कायोत्सर्ग – कायोत्सर्ग तनावमुक्ति की निर्दोष प्रक्रिया है। कायोत्सर्ग से शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक – तीनों प्रकार के तनावों से मुक्ति मिलती है। कायोत्सर्ग का अर्थ है – शरीर का शिथिलीकरण, चैतन्य के प्रति जागरूकता, भेद-विज्ञान की अनुभूति।

आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में तनाव-मुक्ति का स्थायी उपाय है – कायोत्सर्ग के साथ होने वाला भेद-विज्ञान। 'आत्मा अलग और शरीर अलग' यह भेद-विज्ञान जितना स्पष्ट होगा, तनाव की जड़ पर उतना ही जोरदार प्रहार होगा। तनाव होना ही बंद हो जाएगा। तनाव होने पर कायोत्सर्ग (शरीर का शिथिलीकरण) करना सामयिक उपचार है किन्तु कायोत्सर्ग के साथ भेद-विज्ञान की अनुभूति करना तनाव मुक्ति का स्थायी उपचार है।

२. ज्ञाता-द्रष्टाभाव का विकास – तनाव-मुक्ति का एक महत्त्वपूर्ण उपाय है – ज्ञाता-द्रष्टाभाव का विकास। घटना को जानें, देखें, पर भोगें नहीं। हर व्यक्ति के जीवन में अनुकूल-प्रतिकूल घटनाएँ घटित होती हैं और थोड़ी देर बाद वे समाप्त हो जाती हैं। जो उस घटना को ज्ञाता-द्रष्टा भाव से देखता है, उसका संवेदन नहीं करता, मन को उससे प्रभावित नहीं होने देता, वह उस घटना से होने वाले तनाव से भी बच जाता है। इसकी साधना कठिन है किन्तु साधना हो जाने पर व्यक्ति हर परिस्थिति में संतुलित रह सकता है। तनावग्रस्त नहीं होता।

३. घटना को मूल्य न देना – घटना को मूल्य देना तनाव का एक कारण बनता है। अत: तनावमुक्ति का एक महत्त्वपूर्ण उपाय है – घटना को मूल्य नहीं देना। घटना सामने आने पर ऐसा सोचें – दुनियाँ में ऐसा ही होता है। यह दुनियाँ का स्वभाव है। मैं इसके कारण दु:खी क्यों बनूँ? ऐसा चिंतन आते ही तनाव दूर हो जाएगा।

४. कार्यान्तर – एक ही कार्य को लगातार पाँच-छ: घंटे करते रहने से तनाव आना स्वाभाविक है। अत: कार्यान्तर – थोड़ी देर के लिए उस कार्य को छोड़कर दूसरे कार्य में लग जना तनाव-मुक्ति का सुन्दर उपाय है।

५. विश्राम – दो घंटे कार्य करने के पश्चात् पाँच मिनिट कायोत्सर्ग करने से शरीर को विश्राम मिलता है, जिससे तनाव का रेचन हो जाता है।

६. सर्वेन्द्रिय संयम-मुद्रा – इस प्रयोग से बाह्य विषयों से संपर्क छूट जाता है, जिससे तनाव विसर्जित हो जाता है।

७. महाप्राण ध्वनि – तनाव की स्थिति में दो-तीन मिनिट महाप्राण ध्वनि का प्रयोग किया जाए तो उससे भी तनाव समाप्त होता है।

८. समता की साधना – मानसिक और भावनात्मक तनाव का मूल कारण है – अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियाँ। लाभ, सुख, जीवन, प्रशंसा और सम्मान – ये पाँच अनुकूल परिस्थितयाँ हैं और अलाभ, दु:ख, मरण, निन्दा और अपमान – ये पाँच प्रतिकूल परिस्थितियाँ हैं। जो व्यक्ति इन परिस्थितियों में सम नहीं रहता वह तनाव में चला जाता है। जो इन परिस्थितियों में सम रहना सीख लेता है, वह तनाव में नहीं जाता। अत: समता और तनावमुक्ति में अंत:संबंध है। समता की उपलब्धि का अर्थ है – तनाव से मुक्ति। यह एक महान उपलब्धि है और ध्यान के द्वारा प्राप्त की जा सकती है।

सामान्यतया जो तनाव होता है, उसके लिए प्रेक्षाध्यान के ये छोटे-छोटे प्रयोग काफी महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु तनाव का मूल कारण है – आवेग और आवेश। जिसका कषाय शांत है, वह कभी तनाव में नहीं जाता। प्रेक्षाध्यान का प्रयोग कषाय शांति का प्रयोग है और यही तनाव-मुक्त जीवन का सूत्र है।

६. नशामुक्ति-प्रबन्धन

नशा विश्व की विकट समस्या है। प्राचीन युग में नशा करना अपराध समझा जाता था। आज नशा संस्कृति बन गया है। यह नशे की समस्या व्यक्ति विशेष या स्थान विशेष की न होकर चारों तरफ फैली हुई है। कहा गया है – नशा नाश का द्वार है। यह एक धीमा जहर है। जहर उसी को मारता है, जो इसका सेवन करता है लेकिन नशा व्यक्ति के लिए ही नहीं वरन् परिवार, समाज तथा राष्ट्र के चरित्र को भी ठेस पहुँचाता है अत: नशा एक बहुत बड़ा अभिशाप है।

नशा : अर्थ एवं परिभाषाएँ

नशे का अर्थ उन वस्तुओं से लिया जाता है, जिसके सेवन से कृत्रिम उत्तेजना अथवा न्यून चेतन अवस्था की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। नशे के चार रूप हैं – प्रथम अवस्था में व्यक्ति नशा करता है, दूसरी अवस्था में अभ्यस्त होता है, तीसरी अवस्था में – निर्भरता पैदा होती है और चौथी अवस्था में उसकी लत पड़ जाती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

परिभाषा – सामान्य लोगों के अनुसार किसी भी प्रकार की औषधि सेवन नशा कहलाता है, जिससे व्यक्ति का स्वास्थ्य, सामाजिक संबंध, व्यावसायिक स्तर या सामाजिक स्तर में ऋणात्मक प्रभाव पड़ता है।

W.H.O. (1975) के अनुसार – 'वे सभी पदार्थ भोजन के अलावा जो शरीर एवं मन की क्रियाओं को बदलने के लिए सेवन किए जाते हैं, नशे के अंतर्गत आते हैं।'

कालमैन (१९८०) के अनुसार – 'नशा उसकी वास्तविक आवश्यकता के बिना एवं अधिक मात्रा में सेवन है।'

स्कलाट एवं शेनान (१९९०) के अनुसार – 'नशे से तात्पर्य है – विचारपूर्वक किसी भी तत्त्व या नशे का सेवन, जो स्वास्थ्य एवं क्रियाशीलता को प्रभावित करे।'

अग्रवाल (१९९५) के अनुसार – 'औषधि' का अतिरिक्त सेवन ही नशा है।'

नन्दिनी (१९९८) के अनुसार – 'औषधि' का अतिरिक्त सेवन जो अन्य अर्थों में किया जाता है तथा जिससे किसी भी मात्रा या किसी भी प्रकार की भौतिक व मानसिक क्रियाओं पर प्रभाव पड़ता है, नशा कहलाता है।

नशे का कारण

नशा सेवन करने के मुख्यतया चार कारण माने गए हैं – शारीरिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और आर्थिक। आचार्य महाप्रज्ञजी ने नशे के मुख्य तीन कारण माने हैं – तनाव, संगति, विज्ञापन। उनके शब्दों में – व्यक्ति अपने शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक तनाव को दूर करने के लिए नशे का आदी हो जाता है, क्योंकि वह तनाव में जीना नहीं चाहता। नशीले पदार्थों के सेवन से थोड़ी देर के लिए वह अपने तनाव को भूल जाता है। नशे का दूसरा कारण है – संगति। जीवन सफर में विविध मोड़ों पर संपर्क में आने वाले उसके साथी भी ऐसी आदत डाल देते हैं। आपसी संपर्क एवं संगति के कारण उनके आग्रहवश एक बार पीने वाला व्यक्ति बार-बार पीने लगता है। यह बार-बार पीना आदत में परिवर्तित हो जाता है।

आजकल नशीली वस्तुओं का विज्ञापन भी इतने आकर्षक ढंग से किया जाता है कि देखने वाले के मुँह में पानी आ जाता है और वह उसे खाये बिना रह नहीं सकता। इस प्रकार प्रचार मीडिया भी नशाखोरी बढ़ाने का एक साधन है।

नशे के दुष्परिणाम

नशीले पदार्थों के सेवन से क्षणिक तृप्ति मिलती है किन्तु उसका परिणाम घातक ही होता है। तंबाकू और जर्दे के सेवन से मुँह और गले का कैंसर होने की प्रबल संभावना रहती है। पाचन-तंत्र बिगड जाता है। फेफड़े सिकुड जाते हैं। शराब में होने वाला अल्कोहल एक प्रकार का विष है जो क्षण भर में सारे शरीर में फैल जाता है। इससे पक्षाघात तक हो जाता है। अल्कोहल के अधिक प्रयोग से लीवर खराब हो जाता है, जिससे पेट की अनेक बीमारियाँ हो जाती हैं। शराब के विषय में वैज्ञानिकों, डॉक्टरों और अनुसंधानकर्त्ताओं ने जो निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं, वे चौंकाने वाले हैं। कोलम्बिया ओहियो में ४६०७ अपराधियों की जाँच की गई, उनमें ७१% अपराध सुरापान करने वालों ने किए थे। यौन-अपराध, धोखाधड़ी, हत्याएँ आदि नशे की पराकाष्ठा में अधिक होते हैं। लगातार ड्रग्स सेवन करने वाले का शरीर जहरीला हो जाता है। इसके अतिरिक्त पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में भी उसका दुष्प्रभाव पड़ता है।

नशामुक्ति और प्रेक्षाध्यान

मनुष्य में विकास की असीम संभावनाएँ हैं। उसके पास ज्ञान, आस्था और साथ में चरित्र का बल है, किन्तु उसके विकास में अनेक बाधक तत्त्व हैं। उनमें एक है – नशा। नशा व्यक्ति के कद को छोटा कर देता है। इसलिए अपेक्षा है व्यक्ति का जीवन नशामुक्त हो।

प्रेक्षाध्यान के द्वारा नशे से मुक्ति पाई जा सकती है। इस संदर्भ में आचार्य महाप्रज्ञजी लिखते हैं – नशा करने से आदमी को एक प्रकार का सुख मिलता है, यदि उसे उससे बड़ा सुख उपलब्ध करवा दिया जाए तो वह नशे को छोड़ सकता है। नशे का विकल्प है – ध्यान। ध्यान के द्वारा भीतर में इस प्रकार के रसायनों का स्राव होता है कि आनंद टपकने लगता है, ऐसा लगता है कि भीतर में सुख का झरना बह रहा है। जब ध्यान के द्वारा भीतरी रसायनों का परिवर्तन होता है तो नशे की आदत अपने आप छूट जाती है।

प्रेक्षाध्यान के अन्तर्गत नशामुक्ति के निम्न प्रयोग करवाए जाते हैं –

१. अप्रमाद केन्द्र पर ध्यान

आचार्य महाप्रज्ञजी लिखते हैं – नशे की आदत को बदलने का सबसे शक्तिशाली साधन है – अप्रमाद केन्द्र (कान का स्थान)। इस केन्द्र पर ध्यान करने से नशे के प्रति अपने आप अरुचि पैदा हो जाती है। उनके शब्दों में – कान पर ध्यान के प्रयोग करवाए गए। उनसे शराब आदि मादक वस्तुओं के सेवन की आदतें बदल गई। इस प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर कान के मर्मस्थान का नाम अप्रमाद केन्द्र रखा गया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

ध्यान की विधि

चित्त को अप्रमाद केन्द्र दोनों कानों पर क्रमशः भीतरी, मध्य और बाहरी भाग पर तथा आस-पास के भाग पर केन्द्रित करें और वहाँ पर होने वाले प्राण के प्रकंपनों का अनुभव करें।

इसकी वैज्ञानिकता को सिद्ध करते हुए वे लिखते हैं – वि.सं. २०३५ गंगाशहर चातुर्मास के दौरान एक पत्रिका सोवियत भूमि हमारे हाथ आई। उसमें पढ़ा सोवियत वैज्ञानिकों ने नशा छुड़ाने के लिए सत्तर आदमियों के कान पर बिजली के प्रकंपन का प्रयोग किया। उनमें से पचास आदमी नशे से मुक्त हो गए। शेष बीस-पच्चीस आदमियों की आदत अत्यन्त कम हो गई। इसे पढ़कर हमें लगा कि हम जो प्रयोग करवा रहे हैं वह निराधार नहीं, उसका एक वैज्ञानिक आधार है।

२. नशामुक्ति की अनुप्रेक्षा

नशामुक्ति का एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है – अनुप्रेक्षा। प्रारम्भ में महाप्राण ध्वनि और कायोत्सर्ग करने के बाद चित्त को दर्शन केन्द्र पर केन्द्रित करें और अनुप्रेक्षा करें। 'मैं व्यसनमुक्त हो रहा हूँ' इस वाक्य का दो मिनिट तक वाचिक उच्चारण करें। उसके पश्चात् तीन मिनिट तक मानसिक जप करें एवं चमकते हुए अक्षरों में मानस पटल पर साक्षात् करें।

इसके पश्चात् अनुचिन्तन करें – मैं व्यसनमुक्त हो रहा हूँ। शराब और तम्बाकू से बहुत हानियाँ होती हैं। इससे लीवर खराब होता है, फेफड़े खराब होते हैं। हृदय रोग और कैंसर की संभावना बढ़ जाती है। सिगरेट से श्वसन नली पर असर पड़ता है। ये नशीले पदार्थ बहुत खराब हैं। अब मैं इनका प्रयोग नहीं करूँगा। यह मेरा दृढ़ संकल्प है। अनुभव करें कि अब मैं नशे से मुक्त हो गया हूँ।

इसके अतिरिक्त कान की यौगिक क्रियाएँ, शशांकासन और कर्णपीड़ासन, अनुलोम-विलोम प्राणायाम, ज्ञान-मुद्रा का प्रयोग तथा 'हूँ' बीज मंत्र का जप भी व्यसन-मुक्ति में सहायक होते हैं।

नशामुक्ति का सशक्त माध्यम ध्यान को बताते हुए आचार्य महाप्रज्ञ लिखते हैं – ध्यान नशे का विकल्प है। नशा या ध्यान – दोनों में से आदमी को एक का चुनाव करना है। यदि नशे का चुनाव करता है तो वह एक बार तो चिन्ता मिटाता है किन्तु उसका परिणाम अच्छा नहीं आता और यदि ध्यान का चुनाव करते हैं तो नशे की शरण में जाने की आवश्यकता नहीं रहती और उसका परिणाम भी सुख और आनन्द की प्राप्ति है अतः प्रेक्षाध्यान नशामुक्ति का एक स्थायी समाधान है।

७. कषायमुक्ति-प्रबन्धन

कषाय एक पारिभाषिक शब्द है। वे मनोवृत्तियाँ, जो आत्मा को कलुषित करती हैं, कषाय कहलाती हैं। जैन साधना कषाय-विजय की साधना है। आचार्य हरिभद्र ने स्पष्ट कहा – **'कषायमुक्ति किल मुक्तिरेव'** अर्थात् कषायों से मुक्ति ही वास्तविक अर्थ में मुक्ति है। दसवैकालिक सूत्र में कहा गया – 'अनियंत्रित क्रोध और मान तथा वृद्धिंगत माया और लोभ – ये चारों कषाय पुनर्जन्म रूपी वृक्ष का सिंचन करते हैं। राग और द्वेष को कर्मबीज कहा गया है। राग-द्वेष के कारण ही कषायों का जन्म होता है। कषाय का मूल संबंध मोहकर्म से है। जहाँ मोह कर्म की प्रबलता रहती है, वहाँ ज्ञान, दर्शन और आचार सम्यक् नहीं रहता। मोह की प्रबलता का कारण है चंचलता। चंचलता मन, वचन और शरीर इन तीनों की होती है। चंचलता को कम करने का उपाय है – ध्यान। ध्यान से मन की चंचलता कम होती है, स्वरयंत्र (कंठ) के शिथिलीकरण से वाणी की चंचलता कम होती है तथा कायोत्सर्ग से शरीर की चंचलता कम होती है। यदि एक-डेढ़ घंटे तक अकम्प, स्थिर रहने का अभ्यास हो जाये तो मानना चाहिए कि मोह के अभेद्य किले पर प्रहार होना शुरू हो गया है। मोह प्रकट होने का स्थान है – इन्द्रिय-संस्थान। अतः मोह का विलय करने वालों को इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। आँख का काम है – देखना। किन्तु भीतर बैठा मोह देखने को देखना रहने नहीं देता। उसमें राग अथवा द्वेष पैदा कर देता है। इस राग-द्वेष से बचने के लिए अपनी आँख के सामने अपने गुरु का, वीतराग का अथवा अपनी आत्मा का मानसिक चित्र बना लें और देखते समय आकार और चमड़ी को न देखकर उसके भीतर की पवित्र आत्मा को देखने का अभ्यास करें। यह मोह के विलय का प्रशस्त प्रयोग है। इसी प्रकार कान, नाक, जीभ आदि से भीतर की आवाज, गंध, रस को क्रमशः सुनने, सूँघने और आस्वाद लेने का अभ्यास करें। पंचेन्द्रिय ध्यान का प्रयोग मोह विलय का शक्तिशाली प्रयोग है।

कषाय के प्रकार

कषाय के चार प्रकार माने गए हैं – क्रोध, मान, माया और लोभ। इन कषायों की तीव्रता और मंदता के आधार पर इनमें से प्रत्येक को चार-चार भागों में बाँटा गया है – १. तीव्रतम, २. तीव्रतर, ३. तीव्र और ४. मंद। आध्यात्मिक दृष्टि से तीव्रतम क्रोध, मान आदि व्यक्ति के सम्यक्दृष्टि या विवेक में विकार ला देते हैं। तीव्रतर क्रोध, मान आदि आत्म-नियंत्रण की शक्ति को छिन्न-भिन्न कर देते हैं। तीव्र क्रोध, मान आदि आत्म-नियंत्रण की शक्ति

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

के उच्चतम विकास में बाधक होते हैं। मंद क्रोध, मान आदि व्यक्ति को पूर्ण वीतराग होने नहीं देते। अत: साधना का मूल प्रयोजन है – कषायमुक्ति। आचार्य महाप्रज्ञजी के साहित्य में कषायमुक्ति के सूत्रों का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है।

क्रोध कषाय

क्रोध एक मानसिक किन्तु उत्तेजक आवेग है। क्रोध की वृत्ति युयुत्सा (युद्ध) को जन्म देती है। गाली, अपमान, तिरस्कार, इच्छा का प्रतिघात, कार्य में किसी के द्वारा बाधा डालना आदि क्रोध के बाह्य कारण हैं तथा क्रोध वेदनीय कर्म के परमाणुओं का उदय आन्तरिक कारण है। क्रोध के आवेग की तीव्रता एवं मन्दता के आधार पर चार भेद किए गए हैं, जो इस प्रकार हैं –

१. **तीव्रतम क्रोध** – पत्थर में पड़ी दरार के समान क्रोध, जो किसी के प्रति एक बार उत्पन्न होने पर जीवनपर्यन्त बना रहे, कभी समाप्त न हो।

२. **तीव्रतर क्रोध** – सूखते हुए जलाशय की भूमि में पड़ी दरार जैसे आगामी वर्षा होते ही मिट जाती है, वैसे ही तीव्रतर क्रोध एक वर्ष से अधिक स्थाई नहीं रहता और किसी के समझाने से शान्त हो जाता है।

३. **तीव्र क्रोध** – बालू रेत में खींची गई रेखा जैसे हवा के झोंके से जल्दी ही मिट जाती है, वैसे ही तीव्र क्रोध चार मास से अधिक स्थायी नहीं होता।

४. **अल्पक्रोध** – पानी में खींची गयी रेखा जैसे शीघ्र ही मिट जाती है, उसी तरह इस क्रोध में स्थायित्व नहीं होता है। शीघ्र ही समाप्त हो जाता है।

क्रोध निवारण के उपाय

क्रोध निवारण के निम्न उपाय हैं –

१. **आहार-विवेक** – आहार हमारी वृत्तियों को उद्दीप्त करता है। जो व्यक्ति जितना ज्यादा मिर्च-मसालेदार, चटपटा आहार करता है, उसे उतना ही ज्यादा क्रोध आता है अत: क्रोध निवारण के लिए सात्विक आहार करें।

२. **प्रतिपक्ष भावना का प्रयोग** – **'उवसमेण हणे कोहं'** उपशम भावना के द्वारा क्रोध का नाश किया जा सकता है। इसलिए क्षमा का अभ्यास करें।

३. **निमित्तों से बचाव** – क्रोध के निमित्तों से बचना चाहिए। जहाँ व्यक्ति को लगे कि उस व्यक्ति से बोलने से, किसी स्थान विशेष पर जाने से उसका क्रोध प्रकट हो सकता है तो उसे बोलने और वहाँ जाने से बचना चाहिए।

४. **विफलीकरण का प्रयोग** क्रोध की वृत्ति उभरने पर उसे सफल होने न दें, उसे विफल करें। उसकी उपेक्षा करें। मन में यह संकल्प करें कि क्रोध आने पर भी मैं उसे शब्दों से और शारीरिक चेष्टाओं से प्रकट नहीं होने दूँगा।

५. **ज्योतिकेन्द्र पर ध्यान** – ज्योतिकेन्द्र (ललाट के मध्य भाग) पर सफेद रंग का ध्यान करने से क्रोध पर नियंत्रण होता है।

६. **शशांकासन** – क्रोध की उत्तेजना एड्रीनल ग्लैण्ड के माध्यम से व्यक्त होती है। शशांकासन एड्रीनल के स्राव का नियमन करता है। इसलिए शशांकासन क्रोध के आवेश पर नियंत्रण पाने का एक उत्तम उपाय है।

७. **दीर्घश्वास** – श्वास और क्रोध का परस्पर गहरा संबध है। श्वास के छोटे होने पर क्रोध का आवेश अधिक होता है। दीर्घश्वास की स्थिति में क्रोध को उभरने का मौका नहीं मिलता। क्रोध का आवेश बढ़ जाने पर दीर्घश्वास या श्वास का संयम (कुंभक) करने पर तत्काल क्रोध का पारा नीचे गिर जाता है।

८. **मंत्र** – **'ऊँ शान्ति'** मंत्र का एक श्वास में ३१ बार जप करें। इसकी तीन से नौ आवृत्तियाँ करें। क्रोध का आवेश शान्त न होने पर **'ऊँ क्षौं क्षौं'** मंत्र का १०८ बार जप करें।

९. **अनुप्रेक्षा** – क्रोध के उपशम के लिए अनुप्रेक्षा करें। अनुप्रेक्षा में आँख बंद कर इस प्रकार अनुचिन्तन करें –

(१) मैं क्रोध नहीं हूँ, क्रोध मेरा स्वभाव नहीं है। – ५ मिनट

(२) मैंने क्रोध किया हो तो उसका प्रायश्चित करता/करती हूँ। – ५ मिनट

(३) मैं क्रोध नहीं करूँगी/करूँगा। क्रोध करने से मेरा ही नुकसान है। क्रोध करने से मेरा ही सिरदर्द होगा, पाचनतंत्र गड़बड़ होगा, रक्त-परिसंचरण तंत्र असंतुलित होगा। हृदय की धड़कन बढ़ेगी, क्रोधी स्वभाव होने से कोई भी मुझे पसन्द नहीं करेगा। अत: अब मैं कैसी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भी परिस्थिति आये, उसे सहन करूँगा।
क्रोध नहीं करूँगा। – ५ मिनट।

२. मान कषाय

अहंकार करना मान है। मनुष्य में स्वाभिमान की मूल वृत्ति होती है। जाति, कुल, बल, ज्ञान आदि अहंकार आने के आठ कारण बतलाये गए हैं। आचार्य महाप्रज्ञजी के अनुसार जब व्यक्ति में अपनी श्रेष्ठता, उत्कृष्टता और विशिष्टता प्रमाणित करने की भावना जागती है तब अहंकार का जन्म होता है।

अहंभाव की तीव्रता और मन्दता के आधार पर मान के भी चार भेद हैं –

१. **तीव्रतम मान** – पत्थर के खम्बे के समान जो कभी झुकता नहीं, अर्थात् जिसमें विनयगुण नाममात्र भी नहीं है।

२. **तीव्रतर मान** – हड्डी के समान कठिनता से झुकने वाला अर्थात् जो विशेष परिस्थितियों में बाह्य दबाव के कारण विनम्र हो जाता है।

३. **तीव्र मान** – लकड़ी के समान प्रयत्न से झुक जाने वाला अर्थात् जिसके अन्दर में विनम्रता तो होती है, लेकिन जो प्रकट विशेष स्थिति में ही होता है।

४. **अल्प मान** – बेंत के समान अत्यन्त सरलता से झुक जाने वाला अर्थात् जो आत्म-गौरव को रखते हुए भी विनम्र बना रहता है।

मान निवारण के उपाय

अहंकार विलय के निम्न उपाय हैं –

१. **कंठ का कायोत्सर्ग** – कंठ अहंकार का मुख्य स्थान है। कंठ का कायोत्सर्ग अहंकार विसर्जन अथवा मृदुता के विकास का महत्त्वपूर्ण प्रयोग है।

२. **जालंधर बंध** – जालंधर बंध का प्रयोग अहंकार की वृत्ति को निर्बल बनाने का महत्त्वपूर्ण प्रयोग है।

३. **चंद्रभेदी प्राणायाम** – बाएँ स्वर से श्वास लेने और छोड़ने से मानसिक संतुलन बनता है, जिससे अहंकार कम होता है।

४. **मृदुता की अनुप्रेक्षा** – **'माणं मद्दवया जिणे'** मान को मृदुता से जीतो। जैसे-जैसे मृदुता बढ़ेगी, अहंकार घटेगा।

३. माया कषाय

कुटिलता का अपर पर्याय माया है। मायावी सोचता कुछ है, बोलता कुछ है और करता कुछ है। उसके त्रियोग – मन, वचन, काय की एकरूपता नहीं होती। आचार्य महाप्रज्ञजी के अनुसार 'माया' मान और लोभ के बीच में है अत: ये दोनों ही माया के मूल स्रोत हैं। यदि व्यक्ति में अहंकार और लोभ न हो तो माया स्वत: समाप्त हो जायेगी। दसवैकालिक सूत्र में माया के कारणों का उल्लेख करते हुए लिखा गया है – व्यक्ति पूजा और यश का अर्थी (इच्छुक) होता है। मान-सम्मान की भावना से प्रेरित हो माया शल्य करता है।

माया के चार प्रकार हैं –

१. **तीव्रतम माया** – तीव्रतम माया बांस की जड़ के समान कुटिल है, जो कभी सरल होती ही नहीं है।

२. **तीव्रतर माया** – तीव्रतर माया भैंस के सींग के समान कुटिल होती है, टेढ़ी होती है।

३. **तीव्र माया** – तीव्र माया गोमूत्र की धारा के समान कुटिल होती है।

४. **अल्प माया** – अल्प माया बांस के छिलके के समान कुटिल है। थोड़ा प्रयत्न विशेष से वह सरल बन जाती है।

माया निवारण के उपाय

माया पर विजय पाने के निम्नलिखित उपाय हैं –

१. **तेजोलेश्या का ध्यान** – तेजो लेश्या का परिणाम है – ऋजुता। ऋजुता का भाव जागृत होने पर माया का आचरण छूट जाता है। अत: तेजोलेश्या के विकास के लिए ध्यान करना चाहिए।

२. **सत्य की साधना** – सत्य की साधना में कुछ भी छुपाव नहीं होता। गलती हो जाने पर वह सरलता से उसे स्वीकार कर लेता है, छुपाता नहीं है।

३. **ऋजुता की अनुप्रेक्षा** – **'मायं चज्जव भावेण'** माया को ऋजुता से जीतो। सरल व्यक्ति माया नहीं करता। ऋजुता की अनुप्रेक्षा से माया

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

का नाश होता है।

आर्जव विकास का पहला सूत्र है – इन्द्रिय और मन को विश्राम दें। दूसरा सूत्र है – माया का परिष्कार करें। माया का परिष्कृत रूप है – गंभीरता। गंभीरता से तात्पर्य है – कहाँ छिपाना है और कहाँ प्रकट करना, यह विवेक करना।

४. लोभ कषाय

इच्छामात्र लोभ कषाय है। मोहनीय कर्म के उदय से चित्त में उत्पन्न होने वाली तृष्णा या लालसा लोभ कहलाती है। भगवान महावीर ने **'लोहो सव्व पणासणो'** कहकर लोभ को सर्व विनाश करने वाला माना है। पदार्थों के प्रति आसक्ति का मूल कारण लोभ है। उपदेश मात्र से लोभ या आसक्ति समाप्त नहीं होती, उसके लिए प्रयोग आवश्यक हैं।

लोभ के चार प्रकार हैं –

१. **तीव्रतम लोभ** – यह लोभ मजीठिया रंग के समान होता है, जो छूटता नहीं है, अर्थात् अत्यधिक लोभ।

२. **तीव्रतर लोभ** – यह गाड़ी के पहिये के खंजन के समान मुश्किल से छूटने वाला लोभ होता है।

३. **तीव्र लोभ** – यह कीचड़ के समान प्रयत्न करने पर छूट जाने वाला लोभ होता है।

४. **अल्प लोभ** – हल्दी के रंग के समान शीघ्रता से दूर हो जाने वाला लोभ है।

लोभ निवारण के उपाय

लोभ निवारण के लिए निम्न प्रयोग हैं –

१. **कायोत्सर्ग** – कायोत्सर्ग अर्थात् भेद-विज्ञान की साधना। यह अनासक्ति की साधना और सिद्धि का महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। देहासक्ति, विषयासक्ति और अर्थासक्ति के भेद से आसक्ति तीन भागों में विभक्त है। इनमें मूल है – देहासक्ति। देह और आत्मा के साथ जो अभेदानुभूति हो गई है, वह आसक्ति पैदा करती है। कायोत्सर्ग के द्वारा इनमें भेदानुभूति होने से अनासक्ति का विकास होता है।

२. **ज्ञाता-द्रष्टाभाव** – घटना को केवल जानें-देखें, भोगें नहीं। प्रिय-अप्रिय संवेदन से मुक्त होकर केवल ज्ञाता-द्रष्टा भाव का अभ्यास अनासक्ति के विकास का महत्त्वपूर्ण प्रयोग है।

३. **पदार्थ निरपेक्ष सुख** – पदार्थ निरपेक्ष सुख का अनुभव भी अनासक्ति के विकास का एक प्रयोग है। पदार्थ से मिलने वाला सुख क्षणिक है। उसका परिणाम दुःख है। पदार्थ के बिना भी ध्यान के द्वारा भीतर से मिलने वाला सुख ही स्थायी सुख है।

ये कषाय हमारे आध्यात्मिक विकास में तो बाधक हैं ही किन्तु इससे हमारा व्यक्तित्व भी प्रभावशाली नहीं बन सकता। व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन भी सफल नहीं बन सकता। इन कषायों की जितनी अधिक तीव्रता होगी, व्यक्तित्व में उतनी ही अधिक अस्थिरता होगी। व्यक्ति जितना इन कषायों से ऊपर उठेगा, उतनी ही व्यक्तित्व में स्थिरता और परिपक्वता आएगी। अतः हमें कषाय के स्वरूप को समझकर प्रेक्षाध्यान के प्रयोगों द्वारा उस पर विजय पाने का प्रयास करना चाहिए।

प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

१. प्रेक्षाध्यान के स्वरूप का विवेचन करते हुए उसकी उपयोगिता पर प्रकाश डालें।

२. समय के महत्व को बताते हुए समय प्रबन्धन के सूत्रों की व्याख्या करें।

३. लक्ष्य निर्माण के महत्त्व को बताते हुए उसकी प्राप्ति की प्रक्रिया का विवेचन करें।

४. तनाव किसे कहते हैं ? तनाव के कारणों का विवेचन करते हुए तनाव प्रबन्धन के सूत्रों पर प्रकाश डालें।

५. स्वस्थ कौन होता है ? स्वास्थ्य प्रबन्धन के उपायों का विश्लेषण करें।

६. नशे के कारण और दुष्परिणाम की चर्चा करते हुए नशामुक्ति के प्रयोगों का विवेचन करें।

७. कषाय किसे कहते हैं ? कषायमुक्ति के उपायों का विवेचन करें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जैन विश्वभारती संस्थान

(मान्य विश्वविद्यालय)

लाडनूँ-341306 (राजस्थान)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

स्नातकोत्तर (एम.ए.) पूर्वार्द्ध

विषय - हिन्दी

पंचम पत्र

जैन संस्कृति और जीवन मूल्य

विशेषज्ञ समिति

1. **प्रो. नन्दलाल कल्ला**
   पूर्व आचार्य, हिन्दी विभाग
   जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर (राज.)

2. **प्रो. वेदप्रकाश शर्मा**
   पूर्व आचार्य, हिन्दी विभाग
   महाराजा गंगासिंह विश्वविद्यालय, बीकानेर (राज)

3. **प्रो. जगमालसिंह**
   पूर्व आचार्य, हिन्दी विभाग
   मेघालय विश्वविद्यालय, मेघालय (आसाम)

4. **डॉ. ममता खाण्डल**
   सहायक आचार्या, हिन्दी विभाग
   राजस्थान केन्द्रीय विश्वविद्यालय, किशनगढ़ (राज.)

5. **प्रो. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी**
   निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
   जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ (राज.)

6. **प्रो. समणी ऋजुप्रज्ञा**
   आचार्या, जैन विश्वभारती संस्थान,
   लाडनूँ (राज.)

लेखक
प्रो. समणी ऋजुप्रज्ञा

संपादक
डॉ. साध्वी श्रुतयशा

कापीराइट
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं

नवीन संस्करण : 2017

मुद्रित प्रतियां : 600

प्रकाशक
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं–341 306 (राज.)

Printed at
M/s Nalanda Offset,
G1/232, RIICO Industrial Area, Heerawala Ext., Konota, Jaipur (Raj.)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अनुक्रम

		पृष्ठ संख्या
इकाई-1 :	**जैन इतिहास और संस्कृति**	**01-23**
	* जैन धर्म और उसकी प्राचीनता	
	* कालचक्र	
	* भगवान् ऋषभ और महावीर	
	* जैन धर्म के मुख्य सम्प्रदाय	
	* जैन साहित्य और कला	
	* जैन संस्कृति की विशेषताएँ	
इकाई-2 :	**जैन आचार मीमांसा : तत्त्व मीमांसा**	**23-44**
	* जैन आचार का आधार और स्वरूप	
	* त्रिरत्न (रत्नत्रय)	
	* श्रमणाचार-श्रावकाचार	
	* जैन जीवनशैली	
	* नव तत्त्व	
	* छः द्रव्य	
	* लोकवाद	
इकाई-3 :	**जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान**	**45-63**
	* जैन दर्शन में अध्यात्म	
	* जैन दर्शन में विज्ञान	
	* जैन दर्शन में मनोविज्ञान	
	* जैन दर्शन में समाज	
	* जैन दर्शन में लोकतंत्र	
	* जैन दर्शन में अर्थशास्त्र	
	* जैन दर्शन में पर्यावरण	
	* जैन दर्शन में शाकाहार	
इकाई-4 :	**जीवन विज्ञान और मूल्य विकास**	**64-87**
	* जीवन विज्ञान : शिक्षा का नया आयाम	
	* जीवन विज्ञान के सात अंग	
	* जीवन विज्ञान और मूल्य विकास	
	* अहिंसा और अहिंसा प्रशिक्षण	
	* अनेकान्त और जीवन व्यवहार	
	* अणुव्रत आन्दोलन और नैतिकता	
इकाई-5 :	**प्रेक्षाध्यान और प्रबन्धन**	**88-112**
	* प्रेक्षाध्यान : स्वरूप और उद्देश्य	
	* समय-प्रबन्धन	
	* लक्ष्य-प्रबन्धन	
	* स्वास्थ्य-प्रबन्धन	
	* तनावमुक्ति-प्रबन्धन	
	* नशामुक्ति-प्रबन्धन	
	* कषायमुक्ति-प्रबन्धन	

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रस्तावना

भारतवर्ष अनेक संस्कृतियों का संगम-स्थल है। इसकी संस्कृति में अनेक धर्मों, सम्प्रदायों और जातियों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। भारतीय संस्कृति में मुख्यत: दो धाराएँ रही हैं, जिन्हें ब्राह्मण संस्कृति और श्रमण संस्कृति के नाम से जाना जाता है। ब्राह्मण संस्कृति का आधार वेद और श्रमण संस्कृति का आधार जिनोपदेश है। श्रमण संस्कृति को ही जैन संस्कृति के नाम से जाना जाता है।

जैन संस्कृति का मूल आधार आचार में अहिंसा, व्यवहार में अपरिग्रह-इच्छा परिमाण तथा विचार में अनेकान्त है। अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त – ये तीन जैन संस्कृति की ऐसी विशेषताएँ हैं, जो समाज में व्याप्त हिंसा, संग्रह की मनोवृत्ति और अपने मत का दुराग्रह रूप जो समस्याएँ हैं, उनका समाधान करती हैं जैन संस्कृति और जीवन मूल्यों को समग्रता से जानने के लिए आवश्यक है उसके इतिहास, साहित्य, कला, दर्शन और प्रमुख सिद्धान्तों का अध्ययन करना।

आज शिक्षा जगत् में जीविकोपार्जन के लिए अनेक विद्या शाखाएँ हैं, पर जीवन मूल्यों की स्थापना, आध्यात्मिक विकास, भावनात्मक विकास तथा आन्तरिक रूपान्तरण हेतु विद्या शाखा का नितान्त अभाव है। इसका दुष्परिणाम है कि शिक्षा जगत् में अनैतिकता, भ्रष्टाचार, उच्छृंखलता, उद्दंडता, तोड़-फोड़, चरित्रहीनता, मादक द्रव्यों का सेवन जैसी समस्याएँ तेजी के साथ बढ़ती जा रही हैं। इन समस्याओं के समाधान हेतु अपेक्षा है एक ऐसी विद्या शाखा विकसित हो, जो शिक्षा को जीवनोन्मुखी बना सके। व्यक्ति के भावनात्मक और आध्यात्मिक पक्ष को उजागर कर सके। क्योंकि आध्यात्मिक और भावनात्मक विकास ही नैतिकता और चरित्र का मूल आधार है।

इस रिक्तता की पूर्ति के लिए आचार्य तुलसी और आचार्य महाप्रज्ञ ने शिक्षा जगत् में मूल्यों पर आधारित एक नई विद्या शाखा का बीजारोपण किया, जो 'जीवन विज्ञान' के नाम से अंकुरित एवं पल्लवित हो रही है। जीवन मूल्यों पर आधारित यह एक संतुलित एवं परिपूर्ण विद्या शाखा है। इस 'नई विद्या शाखा' को समग्रता से इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है –

''Science of living is a science which studies the fundamentals of living, techniques for their development and their application in different fields of life, ultimately to bring about the development of a balanced life, human values and integrated personality.''

जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय) जैन धर्म-दर्शन के अध्ययन-अध्यापन और शोध का प्रमुख केन्द्र है। इस संस्थान का आदर्श वाक्य है – **'णाणस्स सारमायारो'** ज्ञान का सार आचार है। यहाँ आजीविका-प्रशिक्षण के साथ-साथ जीवन-मूल्यों का भी प्रशिक्षण दिया जाता है। जीवन मूल्यों को आत्मसात् करने के लिए प्रायोगिक अभ्यास भी करवाया जाता है।

मैं अत्यन्त आभारी हूँ विश्व विख्यात अपरिमेय ज्ञानपयोनिधि अनुशास्ता आचार्य महाप्रज्ञजी के प्रति, जिन्होंने मुझे जैन विद्या का अध्ययन करवाया और इस क्षेत्र में कार्य करने हेतु अवसर और आशीर्वाद प्रदान किया। जैन विश्वभारती संस्थान की माननीया कुलपति महोदया डॉ. समणी मंगलप्रज्ञा का मार्गदर्शन एवं यथेष्ट सहयोग भी मुझे समय-समय पर मिलता रहा है। कम्प्यूटर टंकण का कार्य मोहन ने जिम्मेदारी के साथ कुशलतापूर्वक किया है। सभी के प्रति हृदय से आभार और कृतज्ञता।

विश्वास है जैन धर्म-दर्शन की समृद्ध संस्कृति और जीवन-मूल्यों को जानने और जीने के इच्छुक विद्यार्थी वर्ग के लिए यह कार्य उपयोगी सिद्ध होगा।

प्रो. समणी ऋजुप्रज्ञा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun